

THE VAISHNAVA-UPANISHADS

WITH THE COMMENTARY OF

SRI UPANISHAD-BRAHMA-YOGIN

EDITED BY

PANDIT A. MAHADEVA SASTRI, B.A.

DIRECTOR, ADYAR LIBRARY, ADYAR, MADRAS

PUBLISHED FOR THE ADYAR LIBRARY

(THEOSOPHICAL SOCIETY)

1923

अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु
वैष्णव-उपनिषदः

श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचितव्याख्यायुताः

अडयार्—पुस्तकालयाध्यक्षेण

अ. महादेवशास्त्रिणा

संपादिताः

अडयार्—पुस्तकालयार्थे

प्रकटीकृताश्च

१९२३

ॐ नमो
ब्रह्मादिभ्यो
ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो
वंशऋषिभ्यो
नमो गुरुभ्यः

**DEDICATED TO
Brahma and the Rishis,
The Great Teachers
Who handed down Brahmavidya
through Generations**

THE EDITOR'S NOTE

THE materials on which is based this edition of THE VAISHNAVA UPANISHADS comprised in this volume are the same as those described in the volume of *The Yoga Upanishads*.

20th July, 1923

A. M. S.

अस्मिन् सम्पुटे अन्तर्गतानामुपनिषदां सूची

| संख्या | उपनिषद्नाम | ईशादिसंख्या | पुटसंख्या |
|--------|--|-------------|-----------|
| १. | अव्यक्तोपनिषत् . . . | ६८ | १ |
| २. | कलिसन्तरणोपनिषत् . . . | १०३ | १६ |
| ३. | कृष्णोपनिषत् . . . | ९६ | २१ |
| ४. | गरुडोपनिषत् . . . | १०२ | ३२ |
| ५. | गोपान्त्रतापिन्यां पूर्वतापिन्युपनिषत् | ९५ | ४१ |
| ” | ” उत्तरतापिन्युपनिषत् | ” | ५८ |
| ६. | तामसारोपनिषत् . . . | ९१ | ७८ |
| ७. | त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् | ५२ | ८६ |
| ८. | दत्तात्रेयोपनिषत् . . . | १०१ | १५९ |
| ९. | नारायणोपनिषत् . . . | १८ | १६७ |
| १०. | नृसिंहतापिन्यां पूर्वतापिन्युपनिषत् | २७ | १७४ |
| ” | ” उत्तरतापिन्युपनिषत् | ” | २२३ |
| ११. | रामतापिन्यां पूर्वतापिन्युपनिषत् . | ५५ | ३०५ |
| ” | ” उत्तरतापिन्युपनिषत् | ” | ३२६ |
| १२. | रामरहस्योपनिषत् . . . | ५४ | ३४४ |
| १३. | वासुदेवोपनिषत् . . . | ५६ | ३७५ |
| १४. | हयग्रीवोपनिषत् . . . | १०० | ३८३ |

विषयसूचिका

१. अव्यक्तोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

| | | | | |
|-------------------------------------|---|---|---|---|
| सृष्टेः पुरा निर्विशेषब्रह्मस्तुतिः | . | . | . | १ |
| परमेष्ठिप्रादुर्भावः | . | . | . | २ |
| परमेष्ठिनः स्वकृत्यजिज्ञासा. | . | . | . | २ |

द्वितीयः खण्डः

| | | | | |
|-----------------------------------|---|---|---|---|
| परमेष्ठिनः आनुष्टुभीविद्यादर्शनम् | . | . | . | ३ |
| आनुष्टुभीविद्यया नृसिंहदर्शनम् | . | . | . | ४ |
| नृसिंहस्तुतिः . | . | . | . | ४ |

तृतीयः खण्डः

| | | | | |
|-----------------------------|---|---|---|---|
| व्यक्तस्वरूपम् | . | . | . | ६ |
| जगत्सृष्ट्युपायो ध्यानयज्ञः | . | . | . | ६ |
| ध्यानयज्ञमहिमा | . | . | . | ७ |

चतुर्थः खण्डः

| | | | | |
|--|---|---|---|---|
| ध्यानयज्ञेन परमेष्ठिनः सर्वज्ञत्वादिलाभः | . | . | . | ७ |
| अन्यस्यापि ध्यानयज्ञेन सर्वज्ञत्वादिलाभः | . | . | . | ८ |

पञ्चमः खण्डः

| | | | | |
|-----------------------|---|---|---|----|
| लोकत्रयादिसृष्टिः | . | . | . | ८ |
| वसुरुद्रादित्यसृष्टिः | . | . | . | ९ |
| चातुर्वर्ण्यसृष्टिः | . | . | . | ९ |
| अहोरात्रसृष्टिः | . | . | . | १० |
| वेदछन्दस्सृष्टिः | . | . | . | १० |

षष्ठः खण्डः

| | | | | |
|-------------------------|---|---|---|----|
| स्त्रीपुरुषमिथुनसृष्टिः | . | . | . | ११ |
| इन्द्राख्यायिका | . | . | . | १२ |
| परमात्मप्रतिष्ठासाधनम् | . | . | . | १३ |

सप्तमः खण्डः

| | | | | |
|--------------------------|---|---|---|----|
| एतद्विद्याऽध्ययनफलम् | . | . | . | १४ |
| एतद्विद्यासम्प्रदानविधिः | . | . | . | १५ |

२. कलिसन्तरणोपनिषत्

| | | | |
|----------------------------------|---|---|----|
| भगवन्नामस्मरणमात्रेण कलिसन्तरणम् | . | . | १६ |
| परब्रह्मावरणविनाशकषोडशानामानि | . | . | १८ |
| नामजपमहिमा | . | . | १९ |

३. कृष्णोपनिषत्

| | | | |
|----------------------------------|---|---|----|
| रामचन्द्रस्य कृष्णावतारप्रतिज्ञा | . | . | २१ |
| भगवतः सार्वार्त्म्यवर्णनम् | . | . | २२ |

४. गरुडोपनिषत्

| | |
|---------------------------------|----|
| गरुडविद्यासम्प्रदायः | ३२ |
| गरुडविद्यायाः ऋष्यादि | ३३ |
| गरुडमालामन्त्रादि | ३५ |

५. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्

प्रथमोपनिषत्

| | |
|-------------------------------------|----|
| मङ्गलाचरणम् | ४१ |
| गोपालकृष्णस्य परमदेवत्वम् | ४२ |
| गोपालकृष्णस्वरूपनिरूपणम् | ४३ |
| गोपालकृष्णरूपविशेषध्यानम् | ४४ |
| गोपालकृष्णमन्त्रजपः | ४५ |
| गोपालकृष्णभजनम् | ४६ |

द्वितीयोपनिषत्

| | |
|------------------------------|----|
| गोविन्दपूजाप्रकारः | ४७ |
|------------------------------|----|

तृतीयोपनिषत्

| | |
|--|----|
| सृष्टिसाधनभूतोऽष्टादशार्णमन्त्रः | ५२ |
|--|----|

चतुर्थोपनिषत्

| | |
|----------------------------------|----|
| स एव आत्मज्ञानसाधनभूतः | ५३ |
|----------------------------------|----|

पञ्चमोपनिषत्

| | |
|---|----|
| मन्त्रगतपञ्चपदेभ्यो जगत्सृष्टिः | ५४ |
| पञ्चपदात्मकगोविन्दस्तुतिः | ५५ |

षष्ठोपनिषत्

गोपालकृष्णध्यानजपभजनविधिः . . . ९७

गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्

| | |
|---|----|
| दूर्वाससो ब्रजस्त्रीभैक्षार्हत्वम् . . . | ९८ |
| कृष्णस्य अस्खलितब्रह्मचारित्वस्मरणेन तासां यमुनातरणम् . . . | ९८ |
| दूर्वाससो निराहारत्वस्मरणेन तासां यमुनातरणम् . . . | ६० |
| कृष्णदूर्वाससोर्विषये गान्धर्वीशङ्का . . . | ६० |
| ब्रह्मज्ञानिनः अभोकृत्वम् . . . | ६० |
| कृष्णस्य अभोकृत्वम् . . . | ६२ |
| गोपालकृष्णजन्मादीन्यधिकृत्य गान्धर्वीप्रश्नाः . . . | ६३ |
| नारायणं प्रति अवतारविषये ब्रह्मप्रश्नः . . . | ६४ |
| भूचक्रस्थसप्तपुरीमध्ये मथुरा नाम गोपालपुरी . . . | ६४ |
| मथुराऽऽवरणवनेषु देवादीनां वासः . . . | ६५ |
| रुद्रादिपूज्याः मथुरास्थाः कृष्णमूर्तयः . . . | ६७ |
| मुमुक्षुभिः गोपालात्मत्वं स्मरणीयम् . . . | ६९ |
| मथुरावासिगोपालकृष्णभवनमहिमा . . . | ६९ |
| एकस्य भगवतः चतुर्विधत्वोपपादनम् . . . | ७० |
| हृदि ध्येयभगवद्रूपवर्णनम् . . . | ७२ |
| देवादिभिः भजनीयाः मूर्तयः . . . | ७४ |
| विद्यासम्प्रदायः . . . | ७७ |

६. तारसारोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

| | |
|----------------------------------|----|
| अविमुक्तोपासनोपदेशः . . . | ७८ |
| नारायणस्थूलाष्टाक्षरतारकम् . . . | ८० |

द्वितीयः खण्डः

| | |
|--|----|
| नारायणसूक्ष्माष्टाक्षरतारकम् | ८१ |
| प्रणवावयवदेवताः | ८२ |
| श्रीरामस्य सर्वात्मकत्वम् | ८२ |

तृतीयः खण्डः

| | |
|--|----|
| जाम्बवदाद्यष्टतनुमन्त्राः | ८३ |
| विद्यापठनमन्त्रार्थज्ञानयोः फलम् | ८५ |
| ज्ञानिप्राप्यपरमपदम् | ८५ |

७. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

| | |
|--|----|
| परमेष्ठिनः परमरहस्यजिज्ञासा | ८६ |
| सर्वरहस्यबोधको गुरुशिष्यसंवादः | ८८ |
| शिष्यप्रश्नः | ८९ |
| गुरुणा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनम् | ८९ |
| पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म | ९० |
| पादचतुष्टयभेदः | ९१ |
| विद्याऽऽनन्दतुरीयाणां भेदः | ९२ |
| एतद्वेदनफलम् | ९४ |

द्वितीयोऽध्यायः

| | |
|---|----|
| साकारनारायणस्य नित्यत्वविरोधशङ्का | ९५ |
| साकारस्य सोपाधिकनिरुपाधिकभेदः | ९६ |
| सोपाधिकसाकारनिरूपणम् | ९७ |

| | |
|--|-----|
| निरुपाधिकसाकारनिरूपणम् | ९७ |
| मुक्तसाकारस्य शाश्वतत्वनिरूपणम् | ९८ |
| विद्याऽऽनन्दतुरीयसाकाराणां भेदः | ९८ |
| परब्रह्मणः साकारनिराकारभेदविरोधपरिहारः | ९९ |
| आदिनारायणादविद्योदयः | १०१ |
| अविद्याऽण्डस्थनारायणमहिमा | १०१ |
| एतद्वेदनफलम् | १०३ |

तृतीयोऽध्यायः

| | |
|---|-----|
| अविद्याप्रपञ्चो महामायाविलासः | १०४ |
| परब्रह्मणः अण्डपरिपालकमहाविष्णौ लयः | १०५ |
| महाविष्णोः आदिविराट्पुरुषे लयः | १०६ |
| आदिविराट्पुरुषस्य आदिनारायणे लयः | १०६ |
| मायाविलये जीवेशयोः स्वरूपभजनम् | १०७ |

चतुथाऽध्यायः

| | |
|--|-----|
| त्रैपदचैतन्यस्वरूपम् | १०८ |
| पादभेदादिकथनं ब्रह्मस्वरूपकथनमेव | १०९ |
| उक्तार्थे शाखाऽन्तरसंवादः | ११० |
| आदिनारायणस्य कीदृशावुन्मेषनिमेषौ | ११२ |
| महामायास्वरूपं तत्तरणोपायश्च | ११२ |
| जीवस्य कार्योपाधित्वम् | ११३ |

पञ्चमोऽध्यायः

| | |
|--------------------------------------|-----|
| नष्टाविद्यायाः पुनरुदयः | ११४ |
| संसारमोक्षोपायजिज्ञासा | ११५ |
| संसारस्वरूपतत्कारणनिरूपणम् | ११५ |

| | |
|---|-----|
| सत्सङ्गादन्तःकरणशुद्धिः | ११६ |
| सद्गुरुकटाक्षात्तत्त्वज्ञानलाभः | ११७ |
| भगवत्कथाश्रवणध्यानादिभिः हृदये परमात्माऽऽविर्भावः | ११७ |
| भक्तिवैराग्याभ्यां ज्ञानपरिपाकः | ११७ |
| जीवन्मुक्तदशा | ११७ |
| देहत्यागानन्तरं उपर्युपरि गमनेन परमानन्दप्राप्तिः. | ११८ |

षष्ठोऽध्यायः

| | |
|---|-----|
| ब्रह्माण्डस्वरूपव्योमः | १२१ |
| अनन्तकोटिब्रह्माण्डस्वरूपव्योमः | १२२ |
| महाविराट्पदप्राप्तिः | १२३ |
| महाविराट्स्वरूपं तज्ज्ञानफलं च | १२३ |
| महायोगमायाविलासावलोकनम् | १२४ |
| पादविभूतिवैकुण्ठे नारायणाराधनम् | १२५ |
| विश्वक्सेनप्रसादेन विद्यामयवैकुण्ठावलोकनम् | १२५ |
| ब्रह्मविद्यावैकुण्ठद्वारा व्योमनन्दविमानप्राप्तिः | १२६ |
| तुलसीवैकुण्ठप्राप्तिः | १२७ |
| शुद्धव्योमनन्दवैकुण्ठप्राप्तिः | १२७ |
| अखण्डव्योमविमाने समस्तमांक्षसाम्राज्यपट्टाभिषेकः. | १२९ |

सप्तमोऽध्यायः

| | |
|---|-----|
| नित्यगरुडारूढस्य ब्रह्मानन्दविभूतिप्राप्तिः | १३० |
| सुदर्शनपुरवर्णनम् | १३० |
| सुदर्शनमहाचक्रवर्णनम् | १३१ |
| चक्राभ्यन्तरस्थसुदर्शनपुरुषाराधनम् | १३३ |
| क्रमेणाद्वैतसंस्थानप्राप्तिः | १३४ |

| | |
|---|-----|
| आनन्दव्यूहमध्यस्थं प्रणवविमानम् | १३७ |
| अनन्तासनोपरिस्थं समष्टिमहायन्त्रम् | १३८ |
| व्यष्टियन्त्रस्वरूपम् | १३८ |
| महायन्त्रमहिमा | १४७ |
| महायन्त्रोपरिस्थस्य आदिनारायणस्य स्वरूपम् | १४७ |

अष्टमोऽध्यायः

| | |
|--|-----|
| अद्वैते ब्रह्मणि वैकुण्ठादिभेदसत्त्वोपपादनम् | १४९ |
| अनन्तवैकुण्ठसत्त्वोपपादनम् | १५० |
| परमतत्त्वावबोधेन ब्रह्ममात्रावशेषः | १५१ |
| सालम्बनिरालम्बयोगभेदः | १५३ |
| निरालम्बयोगाधिकारिलक्षणम् | १५३ |
| सर्वाधिकारिको भक्तियोगः | १५३ |
| भक्तियोगादनायासेन नारायणभावप्राप्तिः | १५४ |
| परमरहस्यस्मरणादेर्महिमा | १५५ |
| आदिनारायणैकनिष्ठाविधिः | १५५ |
| महाविष्णुभक्तिः सकलश्रेयःप्राप्तिः | १५६ |
| एतदुपनिषदध्ययनादेर्महिमा | १५७ |

८. दत्तात्रेयोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

| | |
|--|-----|
| दत्तात्रेयध्यानम् | १५९ |
| दत्तात्रेयतारकैकाक्षरमन्त्रः | १६० |
| दत्तात्रेयषडक्षरमन्त्रः | १६१ |
| दत्तात्रेयाष्टाक्षरमन्त्रः | १६१ |
| दत्तात्रेयद्वादशाक्षरमन्त्रः | १६२ |

| | |
|--------------------------------------|-----|
| दत्तात्रेयषोडशाक्षरमन्त्रः | १६२ |
| दत्तात्रेयानुष्टुभमन्त्रः | १६३ |
| द्वितीयः खण्डः | |
| दत्तात्रेयमालामन्त्रः | १६४ |
| तृतीयः खण्डः | |
| दत्तात्रेयविद्याफलम् | १६५ |

९. नारायणोपनिषत्

| | |
|---------------------------------------|-----|
| प्रथमः खण्डः | |
| नारायणात् सर्वचेतनाचेतनजन्म | १६७ |
| द्वितीयः खण्डः | |
| नारायणस्य सर्वात्मत्वम् | १६९ |
| तृतीयः खण्डः | |
| नारायणाष्टाक्षरमन्त्रः | १७० |
| चतुर्थः खण्डः | |
| नारायणप्रणवः | १७१ |
| विद्याऽध्ययनफलम् | १७३ |

१०. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्

| | |
|---|-----|
| प्रथमोपनिषत् | |
| शान्तिपाठः | १७४ |
| जगत्सृष्टेः प्रजापतिकाममूलत्वम् | १७५ |

| | |
|---|-----|
| सर्वजगतः आनुष्टुभत्वम् | १७६ |
| मन्त्रराजस्य पादचतुष्टयम् | १७७ |
| ऋषिच्छन्दोदेवताऽऽदिप्रश्नः | १७८ |
| सपादसाङ्गमन्त्रविद्याफलम् | १७९ |
| साङ्गसामविद्यायां स्त्रीशूद्रयोरनधिकारः | १८० |
| लोकवेदब्रह्मादिरूपेण सामध्यानम् | १८० |
| सप्तस्वरसामोद्धारः | १८१ |
| क्षीरोदार्षवसामोद्धारः | १८२ |
| परार्धान्यादिज्ञानफलम् | १८२ |
| यजुर्वेदवाच्यनृसिंहज्ञानफलम् | १८३ |
| सामतृतीयावयववेदनफलम् | १८४ |
| मन्त्रराजसाममाहात्म्यम् | १८५ |
| पादचतुष्टयान्यस्वरद्वयं तज्ज्ञानफलं च | १८५ |
| एतद्विद्यामहिमा | १८६ |

द्वितीयोपनिषत्

| | |
|--|-----|
| नारसिंहमन्त्रराजस्य संसारतारकत्वम् | १८७ |
| प्रणवपादानां सामपादतादात्म्यम् | १८८ |
| साम्नः अनुष्टुप्त्वम् | १८९ |
| साम्नः पञ्चाङ्गानि | १९० |
| ओंकारस्य उभयतो न्यासविधिः | १९१ |
| मन्त्रराजस्य पदशोऽक्षरन्यासः | १९१ |
| मन्त्रराजस्य अनुष्टुप्त्वोपपत्तिः | १९२ |
| उग्रपदार्थनिर्वचनम् | १९२ |
| वीरपदार्थनिर्वचनम् | १९३ |
| विष्णुपदार्थनिर्वचनम् | १९४ |

| | |
|---------------------------------------|-----|
| ज्वलत्पदार्थनिर्वचनम् | १९५ |
| सर्वतोमुखपदार्थनिर्वचनम् | १९६ |
| नृसिंहपदार्थनिर्वचनम् | १९७ |
| भीषणपदार्थनिर्वचनम् | १९८ |
| भद्रपदार्थनिर्वचनम् | १९८ |
| मृत्युमृत्युपदार्थनिर्वचनम् | १९९ |
| नमामिपदार्थनिर्वचनम् | २०० |
| अहंपदार्थनिर्वचनम् | २०० |

तृतीयोपनिषत्

| | |
|---|-----|
| मन्त्रराजस्य शक्तिबीजजिज्ञासा | २०१ |
| शक्तिस्वरूपनिरूपणम् | २०२ |
| बीजस्वरूपनिरूपणम् | २०३ |

चतुर्थोपनिषत्

| | |
|---|-----|
| अङ्गमन्त्रोपदेशः | २०५ |
| प्रणवस्य ब्रह्मात्मत्वम् | २०५ |
| प्रणवप्रथमपादनिरूपणम् | २०६ |
| प्रणवद्वितीयपादनिरूपणम् | २०७ |
| प्रणवतृतीयपादनिरूपणम् | २०७ |
| प्रणवचतुर्थपादनिरूपणम् | २०८ |
| सावित्रीगायत्रीमन्त्रस्वरूपम् | २०८ |
| यजुर्लक्ष्मीमन्त्रस्वरूपम् | २१० |
| नृसिंहगायत्रीमन्त्रस्वरूपम् | २१० |
| प्रत्यङ्गमन्त्रस्वरूपम् | २११ |

पञ्चमोपनिषत्

| | |
|--|-----|
| देवानां महाचक्रजिज्ञासा | २१३ |
| षडरचक्रदर्शनम् | २१३ |
| अष्टारचक्रदर्शनम् | २१३ |
| द्वादशारचक्रदर्शनम् | २१४ |
| षोडशारचक्रदर्शनम् | २१५ |
| द्वात्रिंशदरचक्रदर्शनम् | २१५ |
| अवयवदर्शनम् | २१५ |
| महाचक्रदर्शनम् | २१६ |
| महाचक्रवेदनमहिमा | २१७ |
| मन्त्रराजाध्ययनफलम् | २१८ |
| मन्त्रराजजापकस्य सर्वोत्कृष्टत्वम् | २२० |
| मन्त्रराजजापकस्य ब्रह्ममात्रपर्यवसानम् | २२१ |

ऋसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्

प्रथमः खण्डः

| | |
|---|-----|
| देवानां निर्विशेषब्रह्मजिज्ञासा | २२३ |
| ब्रह्मात्मैक्योपदेशः | २२३ |
| ब्रह्मात्मैक्यावगमोपायोपदेशः | २२४ |
| ब्रह्मात्मनः चतुष्पात्त्वम् | २२५ |
| विश्वस्य चतुरात्मत्वम् | २२६ |
| तैजसस्य चतुरात्मत्वम् | २२७ |
| प्राज्ञस्य चतुरात्मत्वम् | २२८ |
| अवस्थान्नयस्य मायामात्रत्वम् | २२९ |
| तुरीयस्य चतुरात्मत्वम् | २३० |
| तुरीयतुयदिशः | २३३ |

द्वितीयः खण्डः

| | |
|--|-----|
| उत्तमाधिकार्यवगतं तुर्यतुर्यम् | २३५ |
| तुर्यतुर्यस्य करणप्राह्ववैलक्षण्यम् | २३६ |
| तुर्यतुर्यस्य सर्वसाक्षित्वादविक्रियत्वम् | २३७ |
| मध्यमाधिकारिणां ओंकारात्मनोः एकीकरणविधिः | २३८ |
| अकारप्रथमपादयोरभेदः | २३८ |
| उकारद्वितीयपादयोरभेदः | २४० |
| मकारतृतीयपादयोरभेदः | २४० |
| चतुर्थपादप्रपञ्चनम् | २४१ |
| तुरीयतुर्यप्रपञ्चनम् | २४३ |
| तुर्यतुर्यादेशः | २४४ |
| मन्दाधिकारिणां मन्त्रराजद्वारा तुरीयावगतिः | २४५ |

तृतीयः खण्डः

| | |
|---|-----|
| प्रणवमन्त्रराजपादानां तुरीयात्मना ध्यानम् | २४६ |
| प्रथमपादध्यानम् | २४७ |
| द्वितीयपादध्यानम् | २४८ |
| तृतीयपादध्यानम् | २४८ |
| चतुर्थपादध्यानम् | २४९ |
| तुर्यतुर्ये सर्वोपसंहारः | २४९ |
| तुर्यतुर्यावगतिः | २५० |
| सकलब्रह्मस्वरूपम् | २५० |
| सकलब्रह्मध्यानम् | २५१ |
| सकलध्यानेन तुर्यतुर्यप्राप्तिः | २५२ |

चतुर्थः खण्डः

| | |
|--|-----|
| तुर्यतुर्यस्य स्वमात्रताऽनुसंधानम् | २५४ |
| ओमितिशब्दवृत्तिप्रययापह्वविधिः | २५५ |
| निर्विशेषब्रह्मानुसंधानम् | २५५ |
| मन्त्रराजस्य ब्रह्मात्मैक्यहेतुत्वम् | २५६ |
| अनुवादकमन्त्रोदाहरणम् | २५७ |

पञ्चमः खण्डः

| | |
|--------------------------------------|-----|
| अकारानुष्ठुभोस्तादात्म्यम् | २५९ |
| उकारानुष्ठुभोस्तादात्म्यम् | २६१ |
| मकारानुष्ठुभोस्तादात्म्यम् | २६२ |

षष्ठः खण्डः

| | |
|---|-----|
| देवानामनुष्ठुभा आसुरजयः | २६४ |
| अपक्रकषायस्य अनुष्ठुभा आत्मज्ञानप्राप्तिः | २६५ |
| प्रणवेन अद्वितीयावगतिः | २६६ |
| संन्यासस्य ब्रह्मावगतिसाधनत्वम् | २६७ |
| अनुवादकमन्त्रोदाहरणम् | २६९ |

सप्तमः खण्डः

| | |
|---|-----|
| तुर्यतुर्यज्ञानाय देवानां प्रश्नः | २७० |
| आत्मनः तुर्यतुर्येण एकीकरणोपदेशः | २७० |
| एकीकरणफलम् | २७२ |
| स्वात्मनः स्वराङ्भावः | २७३ |
| आत्मातिरेकेण ब्रह्मासत्त्वम् | २७४ |
| सच्चिदानन्दानुभवप्रकाशः | २७४ |
| ब्रह्मयाथात्म्यनिरूपणम् | २७५ |
| ब्रह्मात्मैक्यज्ञानविधानम् | २७७ |

अष्टमः खण्डः

| | |
|--|-----|
| तुरीयमात्राया ओतत्वम् | २७९ |
| तुर्यमात्राया अनुज्ञातृत्वम् | २८१ |
| तुयमात्राया अनुज्ञकारसत्वम् | २८२ |
| तुर्यमात्राया अविकल्पत्वम् | २८३ |

नवमः खण्डः

| | |
|---|-----|
| अद्वयात्मजिज्ञासा | २८४ |
| अद्वयात्मस्वरूपम् | २८५ |
| ब्रह्माभिन्ना माया | २८५ |
| मायास्वरूपम् | २८६ |
| मायाकायम् | २८८ |
| आत्मत्रैविध्यम् | २८८ |
| जीवेशभेदः | २८९ |
| आत्मनः सृष्टौ प्रवेशः | २९० |
| सत्तामात्रं ब्रह्म | २९२ |
| सर्वस्य आत्ममात्रत्वम् | २९४ |
| आत्मतः सर्वसिद्धिः | २९५ |
| देवानां आत्मदर्शनम् | २९६ |
| आत्मनः अनल्पत्वनिरूपणम् | २९६ |
| द्वितीयाभावोपदेशः | २९७ |
| देवानां संविद्रूपत्वज्ञानम् | २९८ |
| देवानां आत्मतत्त्वज्ञानख्यापनम् | २९८ |
| ब्रह्मात्मैक्योपदेशः | ३०० |
| आविद्यकविशेषनिषेधः | ३०१ |

| | |
|--|-----|
| देवानां अद्वयात्मानुभवनिर्धारणम् . . . | ३०२ |
| उक्तार्थानुवादकमन्त्रः . . . | ३०४ |

११. रामपूर्वतापिन्युपनिषत्

प्रथमोपनिषत्

| | |
|---|-----|
| रामनामार्थप्रकाशनम् . . . | ३०५ |
| उपासकार्थे निर्विशेषस्य रूपकल्पना . . . | ३०७ |
| मन्त्रजपयन्त्रपूजयोः रामप्रसादकरत्वम् . . . | ३०८ |

द्वितीयोपनिषत्

| | |
|--------------------------------|-----|
| रामबीजस्य सर्वात्मकत्वम् . . . | ३०९ |
|--------------------------------|-----|

तृतीयोपनिषत्

| | |
|--|-----|
| सीतारामयोः मन्त्रयन्त्रादिपूज्यत्वम् . . . | ३१० |
|--|-----|

चतुर्थोपनिषत्

| | |
|------------------------------------|-----|
| रामषडक्षरार्थः . . . | ३११ |
| देवकृतरामस्तुतिः . . . | ३१३ |
| ऋषिकृतरामस्तुतिः . . . | ३१४ |
| पट्टाभिषिक्तरामचन्द्रविभूतिः . . . | ३१५ |
| यन्त्रलेखनप्रकारः . . . | ३१७ |
| मालामन्त्रोद्धारः . . . | ३२० |
| यन्त्रस्तुतिः . . . | ३२१ |

पञ्चमोपनिषत्

| | |
|------------------------------------|-----|
| भूतशुद्धयादिपीठार्चनान्तपूजा . . . | ३२१ |
|------------------------------------|-----|

| | |
|--|-----|
| भगवद्भयानपुरस्सरमावरणपूजा . . . | ३२३ |
| भगवत्प्रसादद्वारा मोक्षप्राप्तिः . . . | ३२५ |

रामोत्तरतापिन्युपनिषत्

प्रथमः खण्डः

| | |
|-----------------------|-----|
| अविमुक्तोपासनम् . . . | ३२६ |
|-----------------------|-----|

द्वितीयः खण्डः

| | |
|---------------------------------|-----|
| रामषडक्षरस्य तारकत्वम् . . . | ३२७ |
| तारकजपफलम् . . . | ३२८ |
| रामस्य प्रणवार्थत्वम् . . . | ३२८ |
| प्रणवत्तदर्थयाथात्म्यम् . . . | ३२९ |
| प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकीकरणम् . . . | ३३० |
| रामज्ञानान्मुक्तिः . . . | ३३१ |

तृतीयः खण्डः

| | |
|---------------------------------------|-----|
| बाह्यान्तराविमुक्तयाथात्म्यम् . . . | ३३१ |
| मुमुक्षूणां शिवकृतरामतारकोपदेशः . . . | ३३३ |

चतुर्थः खण्डः

| | |
|-------------------------------------|-----|
| रामसाक्षात्कारप्रदाः मन्त्राः . . . | ३३५ |
|-------------------------------------|-----|

पञ्चमः खण्डः

| | |
|--|-----|
| रामषडक्षरमाहात्म्यम् . . . | ३३८ |
| मन्त्रराजमाहात्म्यप्रतिपादकश्लोकाः . . . | ३३९ |

१२. रामरहस्योपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

| | |
|---|-----|
| रामस्य ब्रह्मतारकत्वम् | ३४४ |
| रामस्य अङ्गानि वायुपुत्रादीनि | ३४५ |
| गृहस्थानां रामाङ्गप्रणवाधिकारः | ३४६ |
| रामनामजपेन सर्वपापनिवृत्तिः | ३४७ |
| रामोपनिषदादिभिरपि सर्वपापशान्तिः. | ३४८ |

द्वितीयोऽध्यायः

| | |
|---|-----|
| एकाक्षरराममन्त्रः | ३४९ |
| द्वित्रिचतुरक्षरमन्त्राः | ३५० |
| पञ्चाक्षरमन्त्रः | ३५० |
| षडक्षरमन्त्रः | ३५१ |
| सप्त-अष्ट-नवाक्षरमन्त्राः | ३५० |
| दश-एकादशाक्षरमन्त्राः | ३५५ |
| द्वादशाक्षरमन्त्रः | ३५७ |
| त्रयोदश-चतुर्दश-पञ्चदशाक्षरमन्त्राः | ३५७ |
| षोडश-सप्तदशाक्षरमन्त्राः | ३५८ |
| अष्टादश-एकोनविंशार्णमन्त्राः | ३५८ |
| विंशार्णमन्त्रः | ३५८ |
| एकविंशार्णमन्त्रः | ३५९ |
| द्वाविंशार्णमन्त्रः | ३५९ |
| त्रयोविंशार्णमन्त्रः | ३५९ |
| चतुर्विंशार्णमन्त्रः | ३६० |
| पञ्चविंश-षड्विंश-सप्तविंशार्णमन्त्राः | ३६० |

| | |
|--|-----|
| अष्टाविंश-एकोनत्रिंश-त्रिंश-एकत्रिंशार्णमन्त्राः | ३६० |
| रामानुष्टुप् | ३६१ |
| रामगायत्री | ३६१ |
| राममालामन्त्रः | ३६२ |
| सीतामन्त्रः | ३६३ |
| लक्ष्मणमन्त्रः | ३६३ |
| भरतमन्त्रः | ३६४ |
| शत्रुघ्नमन्त्रः | ३६४ |
| हनूमन्मन्त्रः | ३६४ |

तृतीयोऽध्यायः

| | |
|---|-----|
| पूजार्पाठजिज्ञासा | ३६५ |
| एकाक्षरादिनवाक्षरान्तमन्त्रपूजायन्त्रम् | ३६५ |
| आवरणपूजापूर्वकमनुजपः | ३६६ |
| दशाक्षरादिद्वात्रिंशाक्षरान्तमन्त्रपूजायन्त्रम् | ३६७ |
| यन्त्राराधनपूर्वकमनुजपः | ३६७ |

चतुर्थोऽध्यायः

| | |
|--|-----|
| राममन्त्रपुरश्चरणविधिः | ३६८ |
| ऐहिके राममन्त्रविनियोगनिषेधः | ३६९ |
| ऐहिके हनूमत्स्मरणविधिः | ३६९ |

पञ्चमोऽध्यायः

| | |
|---------------------------------------|-----|
| रामषडक्षरस्य मन्त्रराजत्वम् | ३७० |
| श्रीरामबीजार्थः | ३७१ |
| द्व्यक्षरार्थः | ३७२ |

| | |
|--------------------------------|-----|
| षडक्षरार्थः | ३७३ |
| राममन्त्रमाहात्म्यम् | ३७३ |
| विद्याऽध्ययनफलम् | ३७४ |

१३. वासुदेवोपनिषत्

| | |
|---|-----|
| ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिजिज्ञासा | ३७६ |
| गोपीचन्दनस्वरूपम् | ३७६ |
| गोपीचन्दनोद्धार-धारणयोर्विधानम् | ३७६ |
| ब्रह्मचार्यादीनां धारणप्रकारः | ३७६ |
| त्रिपुण्ड्रस्य त्रिमूर्त्यादिरूपत्वम् | ३७७ |
| ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य प्रणवाधिकारिणैव धार्यत्वम् | ३७८ |
| तस्य परमहंसेनापि धार्यत्वम् | ३७८ |
| वासुदेवध्यानप्रकारः | ३७८ |
| वासुदेवस्य सर्वात्मत्वम् | ३७९ |
| वासुदेवध्यानस्थानेषु गोपीचन्दनधारणम् | ३८० |
| गोपीचन्दनभस्मनोर्धारणविधिः | ३८० |
| विद्याफलम् | ३८१ |
| केवलाध्ययनफलम् | ३८२ |

१४. हयग्रीवोपनिषत्

| | |
|--|-----|
| हयग्रीवमन्त्रमहिमा | ३८३ |
| हयग्रीवमन्त्रत्रयम् | ३८४ |
| मन्त्रत्रयस्य ऋष्यादिध्यानान्तम् | ३८४ |
| हयग्रीवतुरीयमनुः | ३८५ |
| हयग्रीवपञ्चममनुः | ३८५ |

| | |
|--|-----|
| हयप्रीवैकाक्षरमनुः | ३८५ |
| वागादिसिद्धिकरः प्रयोगः. | ३८७ |
| सप्तदशाक्षरमनुः | ३८७ |
| मन्त्रज्ञानफलम् | ३८७ |
| हयप्रीवमन्त्राणां महावाक्यार्थप्रतिपादकत्वम् | ३८७ |
| स्वरव्यञ्जनभेदेन मन्त्रस्य द्विविधत्वम् | ३८८ |
| अनुमन्त्राः | ३८८ |
| विद्याफलम् | ३८९ |
| विद्यां प्रति प्रार्थना | ३८९ |
| नामधेयपदसूची | ३९१ |
| विशेषपदसूची | ३९७ |



अव्यक्तोपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

सृष्टेः पुरा निर्विशेषब्रह्मस्थितिः

पुरा किलेदं न किञ्चनासीन्न द्यौर्नान्तरिक्षं न पृथिवी केवल-
ज्योतीरूपमनाद्यनन्तमनण्वस्थूलरूपमरूपं रूपवद्विज्ञे^१यमानन्दमय-
मासीत् ॥ १ ॥

स्वाज्ञानासुरराड्प्रासंस्वज्ञाननरकेसरी ।

प्रतियोगिनिर्मुक्तं ब्रह्ममात्रं करोतु माम् ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्तयं अव्यक्तोपनिषत् सोपायमन्त्रराजयाथात्म्य-
प्रकटनपूर्वकं निर्विशेषब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरण-
मारभ्यते । अक्षरीरवागाविर्भावपूर्वकं इन्द्रप्रजापतिसंवादरूपेयमाख्यायिका विद्या-
स्तुत्यर्था । अत्रादौ श्रुतिः परमार्थार्थप्रकटनपूर्वकं स्वाज्ञदृष्टिमवष्टभ्य प्रपञ्चसृष्टिक्रमं
प्रकटयति—पुरेति । स्वाज्ञदृष्टेः पुरा स्वज्ञदृष्टया इदं जगत् न किञ्चन आसीत् ।
किं तदासीत् इत्यत्र केवलज्योतीरूपं इत्यादिविशेषणबोधितं यत् तत् स्वाज्ञादि-
दृष्टिमोहे सत्यसति निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषब्रह्ममात्रं आसौदित्यर्थः ॥ १ ॥

^१ यं ज्ञानमयमा—अ, अ १, अ २, क.

अव्यक्तोपनिषत्

परमेष्ठिप्रादुर्भावः

^१तदन्यऽतद्वेधाऽभूद्धरितमेकं रक्तमपरम् । तत्र यद्रक्तं तत्
पुंसो रूपमभूत् यद्धरितं तन्मायायमः । तौ समागच्छतः ।
तयोर्वीर्यमेवमनन्दत् । तदवर्धत । तदण्डमभूद्धैमम् । तत् परिणममानम-
भूत् । ततः परमेष्ठी व्यजायत ॥ २ ॥

ब्रह्मणो निष्प्रतियोगिकत्वेन ब्रह्मातिरिक्तप्रसक्तिरेव नास्ति ; यदि स्वाज्ञदृष्ट्या
स्यात् तदा तदन्यदिति । कालकर्मयोगतः तौ समागच्छतः । तयोः वीर्यमेव-
मनन्दत् प्रकृतिपुरुषवीर्ययोगस्तुष्टिमगमत् । कालवशात् दिने दिने तदवर्धत ।
यदेवं वृद्धिं गतं तदण्डमभूत् कालान्तरे हैमम् । तत् परिणममानमभूत् ।
यदाऽविद्याऽण्डं घनीभूय सुवर्णरूपेण परिणतं तदा ततः अविद्याऽण्डाधिकरण-
भगवन्नाभिकमलात् परमेष्ठी व्यजायत ॥ २ ॥

परमेष्ठिनः स्वकृत्यजिज्ञासा

सोऽभिजिज्ञासत किं मे कुळं किं मे कृत्यमिति । तं ह
वागदृश्यमानाऽभ्युवाच भो भो प्रजापते त्वमव्यक्तादुत्पन्नोऽसि व्यक्तं
ते कृत्यमिति । किमव्यक्तं यस्मादहमासिषम् । किं तद्व्यक्तं यन्मे
कृत्यमिति । ^२साऽब्रवीदविज्ञेयं हि तत् सौम्य तेजः । यदविज्ञेयं
तदव्यक्तम् । तच्चेज्जिज्ञाससि मामवगच्छेति । स होवाच कैषा त्वं
ब्रह्मवाग्वदसि शंसात्मानमिति । सा त्वब्रवीत्तपसा मां जिज्ञासस्वेति ।
^३स ह सहस्रं समा ब्रह्मचर्यमध्युवासाऽभ्युवास ॥ ३ ॥

^१ तदन्य—अ, अ १, अ २ ^२ सो—अ १, अ २, उ, क. सा—अ.

^३ 'सह' इति लुप्तः—अ, अ १, अ २, क, उ १.

य एवमाविर्भूतः सोऽभिजिज्ञासत । किमिति ? किं मे कुलं किं मे कृत्यमिति । य एवं जिज्ञासुरास्ते तं ह वागदृश्यमाना अशरीरवाणी अभ्युवाच । किमिति ? भो भो प्रजापते त्वं अव्यक्तात् अव्यक्तभावमापन्ननारायणात् उत्पन्नोऽसि व्यक्तं ते कृत्यमिति, कर्तव्यार्थस्य प्रपञ्चरूपत्वेन व्यक्तत्वात् । भगवत्सङ्कल्पाशरीरवाण्यैवमुक्तः पुनस्तामुद्दिश्योर्ध्वदृष्टिः पृच्छति—किमव्यक्तमिति । तमुद्दिश्य पुनः साऽब्रवीत् । किमिति ? अविज्ञेयं हि तदिति, अव्यक्तत्वात् । तदेव विशदयति—यत्तव आविर्भावनिदानं सोम्य तेजः । पुनस्तत् ज्ञातव्यमिति मन्यमानमालक्ष्याह—तच्चेदिति । जिज्ञाससि ज्ञातुमिच्छसि । ब्रह्मविद्यारूपिणीं मामवगच्छेति । अशरीरवाणीवाचं श्रुत्वा परमेष्ठी स होवाच । किमिति ? कैषेति । तद्वाक्यमाकर्ण्य सा त्वब्रवीत् । किमिति ? तपसेति । “मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः । तपसा प्राप्यते विद्या” इति स्मृतितः विद्यासिद्धिः तपोनिमित्तेत्यर्थः । एवं दैवीवाक्श्रवणानन्तरं असौ परमेष्ठी स ह सहस्रमिति । आवृत्तिः अनेकसंवत्सरावधिब्रह्मचर्याचरणोपलक्षणार्था ॥ ३ ॥

इति प्रथमः खण्डः

परमेष्ठिनः आनुष्टुभीविद्यादर्शनम्

अथापश्यदृचमानुष्टुभीं परमां विद्यां यस्याङ्गान्यन्ये मन्त्राः
यत्र ब्रह्म प्रतिष्ठितं विश्वेदेवाः [वेदाः ?] प्रतिष्ठिताः । यस्तां न वेद
किमन्यैर्वेदैः करिष्यति ॥ १ ॥

ततः किं जातं इत्यत आह—अथेति । अथ तपश्चर्यान्तरं आनुष्टुभीं विद्यामपश्यत् । तपसा विशुद्धचित्तस्य विद्या प्रादुरभूदित्यर्थः । प्रकृतविद्यां सर्वाधिकरणतया स्तौति—यस्वेति । एवं सर्वाधारतया य इति ॥ १ ॥

अव्यक्तोपनिषत्

आनुष्टुभीषिष्यस्य नृसिंहदर्शनम्

तां विदित्वा स च रक्तं जिज्ञासयामास । तामेवमनूचानां
गायन्नासिष्ट । सहस्रं समा आद्यन्तनिहितोङ्कारेण पदान्यगायत् ।
सहस्रं समास्तथैवाक्षरशः । ततोऽपश्यज्ज्योतिर्मयं श्रियाऽऽलिङ्कितं
सुपर्णरथं शेषफणाच्छादितमौलिं मृगमुखं नरवपुषं शशिसूर्यहव्यवाह-
नात्मकनयनत्रयम् ॥ २ ॥

प्रकृतविद्याया मन्त्रराजत्वेन सर्ववेदान्तसिद्धान्तार्थत्वेन च तां विदित्वा
स च परमेष्ठी स्वाविर्भावहेतुं रक्तं परमपुरुषं जिज्ञासयामास ज्ञातुमुद्युक्तो
बभूव । ततः किं कृतवानित्यत आह—तामिति । तपसा प्रादुर्भूतां आनुष्टुभीं
विद्वां गायन्नासिष्ट गानं कुर्वन् स्थितवान् । कियन्तं कालं केन प्रकारेण
गायन्नास्त गानफलं किं लब्धवान् इत्यत आह—सहस्रमिति । आदौ सहस्रं
समाः । अद्यन्तप्रणवसंपुटितमन्त्रराजपदानि तद्वर्णांश्च गायन्पूर्वाभिमुखः तस्थौ ।
ततः किं दृष्टवान् इत्यत्र—तत इति । परमेष्ठितपःफलदित्सया स्वाव्यक्ततामाच्छाद्य
दिव्यमङ्गळविग्रहनृसिंहरूपेण व्यक्तत्वमेत्य प्रसन्नो बभूवेत्यर्थः ॥ २ ॥

नृसिंहस्तुतिः

ततः प्रजापतिः प्रणिपपात नमो नम इति । ¹तथैवर्चाऽथ
तमस्तौत् । उग्रमित्याह उग्रः खलु वा एष मृगरूपत्वात् । वीरमित्याह
वीरो वा एष वीर्यवत्त्वात् । महाविष्णुमित्याह महतां वा अयं
महान्नोदसी व्याप्य स्थितः । ज्वलन्तमित्याह ज्वलन्निव खल्वसाव-
वस्थितः । सर्वतोमुखमित्याह सर्वतः खल्वयं मुखवान् विश्वरूपत्वात् ।

¹ तथैव—अ १, अ २, क, उ. तथैव—अ.

नृसिंहमित्याह यथा यजुरेवैतत् । भीषणमित्याह भीषो वा अस्मादा-
दित्य उदेति भीतश्चन्द्रमा भीतो वायुर्वाति भीतोऽग्निर्दहति भीतः
पर्जन्यो वर्षति । भद्रमित्याह भद्रः खल्वयं श्रिया जुष्टः । मृत्यु-
मृत्युमित्याह मृत्योर्वा अयं मृत्युरमृतत्वं प्रजानामन्नादानाम् ।
नमामीत्याह यथा यजुरेवैतत् । ¹अहमित्याह यथा यजुरेवैतत् ॥ ३ ॥

प्रसन्नं भगवन्तं दृष्ट्वा अयं किमकुरुत इत्यत्र—तत इति । सार्थया
विद्यया स्तुतवानित्यर्थः । तत्प्रकारः कथमित्यत्र—उग्रमिति । कथमुग्रत्वमित्यत्र—
उग्रः खलु वा एषः । तस्योग्रत्वे को हेतुरित्यत्र—मृगरूपत्वात् । मृगराजस्यो-
ग्रत्वप्रसिद्धेः, “मृगं न भीममुपहत्तुमुग्रम्” इति श्रुतेः । तथा वीरमित्याह
वीरो वा एषः—इत्यादि समानम् । कुतः? वीर्यवत्त्वात् “यतो वीरः”
इति श्रुतेः । महतामप्ययं महान् रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्याप्य स्थितत्वात्,
“य आविवेश भुवनानि विश्वा” इति श्रुतेः । ज्वलन्तमित्यादि, ज्योतिषामपि
ज्योतीरूपत्वात् “ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् संतपन्” इति श्रुतेः ।
विश्वरूपत्वात्, “विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः” इति श्रुतेः । नृसिंहमिति,
सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च, सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च, “प्रतद्विष्णुस्तवते
वीर्याय मृगः” इति श्रुतेः । भद्रमिति, “भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः”
इत्यादिश्रुतेः । मृत्युमृत्युमिति, स्वमात्रस्य स्वातिरिक्तमृत्युमृत्युत्वात्, “यस्य
छायामृतं यस्य मृत्युः” इति श्रुतेः । नमामीति “यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति
मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च” इति श्रुतेः । अहमिति “वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः”
इति श्रुतेः ॥

इति द्वितीयः खण्डः

¹ अहमित्यादि वाक्यं नास्ति (अ, अ १) कोशयोः.

अथ भगवांस्तमब्रवीत् प्रजापते प्रीतोऽहं किं तवेप्सितं तद्दामि शंसेति । स होवाच भगवन्नव्यक्तादुत्पन्नोऽ^१स्मि व्यक्तं मम कृत्यमिति पुराऽश्रावि । तत्राव्यक्तं ^२भवानित्य^३ज्ञायि । व्यक्तं मे कथयेति । व्यक्तं वै विश्वं चराचरात्मकम् । यद्वच्यते तद्वच्यतस्य व्यक्तत्वमिति ॥ १ ॥

एवं मन्त्रराजस्त्वेन स्तुतः परमेश्वरः परमेष्ठीप्सितवरं ददावित्याह—
अथेति । अथ तत्कृतस्तुत्यनन्तरम् । एवं भगवदनुज्ञां लब्ध्वा स होवाच ।
पुरा दैव्या वाचा । परमेष्ठिना एवं पृष्टो भगवानाह—व्यक्तमिति ॥ १ ॥

जगत्सृष्ट्युपायो ध्यानयज्ञः

स होवाच न शक्नोमि जगत् स्रष्टुमुपायं मे कथयेति । तमुवाच पुरुषः प्रजापते शृणु सृष्टेरुपायं परमं यं विदित्वा सर्वं ज्ञास्यसि सर्वत्र शक्यसि सर्वं करिष्यसि मय्यग्नौ स्वात्मानं हविर्ध्यात्वा तथैवानुष्टुभर्चा । ध्यानयज्ञोऽयमेव ॥ २ ॥

भगवदुक्तं अवगम्य स होवाच । किमिति ? न शक्नोमीति । तेन पृष्टः तमुवाच पुरुषः । किमिति ? प्रजापते इति । वक्ष्यमाणं यं विदित्वा । तमुपायमाचष्टे—मयीति । स्वातिरिक्तभ्रमतूलाचलाग्नौ परस्मिन् ब्रह्मणि मयि स्वात्मानं प्रत्यञ्चं हविः ध्यात्वा तथैवानुष्टुभर्चा । प्रत्यगभिनं ब्रह्मास्मीत्यनुसन्धानमेव ध्यानयज्ञः ॥ २ ॥

^१ सि—अ, अ १, अ २, क. स्मि—मु.

^२ भगवा—अ १,

^३ ज्ञायि—अ, अ २, क. [त्या] ज्ञाय—उ, उ १, अ १.

चतुर्थः खण्डः

ध्यानयज्ञमहिमा

एतद्वै महोपनिषद्देवानां गुह्यम् । न ह वा एतस्य साम्ना नर्चा
न यजुषाऽर्थोऽनुविद्यते । य इमां वेद स सर्वान् कामानवाप्य
सर्वान् लोकान् जित्वा मामेवाभ्युपैति । न च पुनरावर्तते य एवं
वेदेति ॥ ३ ॥

यत्प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुसन्धानं एतदिति । यत्प्रत्यगब्रह्मैक्यानुसंधानं तदेतदेव
महती च सा उपनिषत् प्रत्यगभिन्नब्रह्मविद्या महोपनिषत् देवानामपि गुह्यं,
परमरहस्यत्वात् । एतस्य एतेन ध्यानयज्ञेन योऽर्थोऽनुविद्यते सोऽयमर्थो न हि
वेदत्रयेणाप्यनुविद्यते । हवा इत्यवधारणार्थं । ध्यानयज्ञस्य निर्विशेषब्रह्ममात्रपर्य-
वसन्नत्वात्, वेदत्रयस्य प्रायशः कर्मोपासनाकाण्डव्यप्रत्वेन सविशेषब्रह्म-
गोचरत्वात्, ध्यानयज्ञेन यदुपलभ्यते तद्वेदत्रयगोचरकर्मोपासनाभ्यां नैव
लभ्यते । यस्मादेवं तस्मात् ध्यानयज्ञोऽयमेव वरिष्ठ इत्यर्थः । विद्याफलमाह—
य इति । यो मयोक्तां निर्विशेषब्रह्मोपनिषदं वेद सोऽयं मुनिः स्वातिरेकेण
कामा लोका वा न सन्तीति सर्वकामानवाप्य सर्वलोकान् जित्वा मद्भावमेव
न हि पुनरावर्तते, “मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते” इति स्मृतेः ॥

इति तृतीयः खण्डः

ध्यानयज्ञेन परमेष्ठिनः सर्वज्ञत्वादिलाभः

प्रजापतिस्तं यज्ञाय वसीयांसमात्मानं मन्यमानो मनोयज्ञेनेजे
सप्रणवया तयैवर्चा हविर्ध्यात्वाऽऽत्मानमात्मन्यग्नौ जुहुयात् ।
सर्वमजानत् सर्वत्राशक्तत् सर्वमकरोत् ॥ १ ॥

ततः किं कृतवानित्यत्र भगवदुपदिष्टध्यानयज्ञानुष्ठानतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्ता च भवतीत्याह—प्रजापतिरिति । परब्रह्माग्नौ स्वात्महोमेन स्वनाश-शङ्कां विहाय यः पुरा विष्णुनाभिपद्मादाविर्भूतः तं आत्मानं यज्ञाय यज्ञार्थ-वसीयांसं मन्यमानः सन् महता धैर्येण मानसिकयज्ञेनेजे यागं कृतवान् । कया तत् कथं कृतवानित्यत्र सप्रणवया तयैवर्चा उग्रं वीरमित्याद्येकादशपदोज्ज्वलया अनुष्टुभा । प्रत्यगभिन्नब्रह्मैक्यानुसन्धानं कृतवान् तस्यैव ब्रह्मयज्ञत्वात्,

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

इति स्मृतेः । ब्रह्मयज्ञफलं किमवाप्तवानित्यत्र प्रत्यगभिन्नब्रह्मानुसन्धानमहिम्ना ब्रह्मातिरेकेण न किञ्चिदस्तीति सर्वत्र आत्मात्मीयाभिमतं विहाय यत् भवितव्यं तत् सर्वम् । सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्ता च भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्यस्यापि ध्यानयज्ञेन सर्वज्ञत्वादिलाभः

य एवं विद्वानिमं ध्यानयज्ञमनुतिष्ठेत् स सर्वज्ञोऽनन्तशक्तिः
सर्वकर्ता भवति । स सर्वान् लोकान् जित्वा ब्रह्म परं प्राप्नोति ॥ २ ॥

य एवं वेद सोऽपि यथोक्तफलं अश्नुत इत्याह—य इति । यथा ब्रह्मा तथा स सर्वान् ॥

इति चतुर्थः खण्डः

लोकत्रयादिसृष्टिः

अथ प्रजापतिर्लोकान् सिसृक्षमाणस्तस्या एव विद्याया यानि
त्रिंशदक्षराणि तेभ्यस्त्रीन् लोकान् । अथ द्वे द्वे अक्षरे ताभ्यामुभयतो

वसुधादित्यसृष्टिः

दधार । तस्या एवर्चो द्वात्रिंशद्विंशैरक्षरैस्तान् देवान् निर्ममे । सर्वैरेव स
इन्द्रोऽभवत् । तस्मादिन्द्रो देवानामधिकोऽभवत् । य एवं वेद
समानानामधिको भवेत् ॥ १ ॥

किमुपादाय अयं जगत् ससर्जेत्यत आह—अथेति । अथ भगवदुक्तीर्या
स्वकृतैयज्ञफलसम्पत्त्यनन्तरं प्रजापतिः लोकान् सिसृक्षमाणः स्रष्टुं व्यवसितः
सन् तपस्तप्यतोऽस्य या आनुष्टुभी विद्या प्रादुर्बभूव तस्या एव विद्यायाः
अक्षरेषु यानि । त्रीन् लोकान् भूरादीन्—निर्ममे इत्युत्तरेणान्वयः । लोकत्रयं
सृष्ट्वा पुनरक्षरद्वयतः तत् दधार । ततः किमित्यत्र—तस्या एवेति । यस्मादेवं
तस्मात् । एवंविदः फलमाह—य इति ॥ १-३ ॥

वसुधादित्यसृष्टिः

तस्या एकादशभिः पा[प]दैरेकादश रुद्रान् निर्ममे । तस्या
एकादशभिरेकादशादित्यान् निर्ममे । सर्वैरेव स विष्णुरभवत् । तस्मा-
द्विष्णुरादित्यानामधिकोऽभवत् । य एवं वेद समानानामधिको भवेत् ।
स चतुर्भिश्चतुर्भिरक्षरैरष्टौ वसूनजनयत् ॥ २ ॥

चतुर्वर्ण्यसृष्टिः

स तस्या आद्यैर्द्वादशभिरक्षरैर्ब्राह्मणमजनयत् । दशभिर्दश-
भिर्विद्वक्षत्रे । तस्माद्ब्राह्मणो मुख्यो भवति । एवं तन्मुख्यो भवति
य एवं वेद । तूष्णीं शूद्रमजनयत् तस्माच्छूद्रो निर्विद्योऽभवत् ॥ ३ ॥

^१ रेवाक्ष—अ १, क.

^२ निर्विद्यो भवति—अ, क.

न वा इदं दिवा न नक्तमासीदव्यावृत्तम् । स प्रजापतिरानुष्टु-
भाभ्यामर्धर्चाभ्यामहोरात्रावकल्पयत् ॥ ४ ॥

इत्थंभूतविचित्रसृष्टेः अधिकरणसापेक्षत्वात् चित्रभित्तिवत् तदधिकरणं किं दिवा उत नक्तं इत्यत आह—नेति । सृष्टेः पुरा अधिकरणे न हि दिवानक्तकल्पनाऽस्ति, तदधिकरणं कल्पनाव्यावृत्तं कल्पनाविरलं सत् निरधिकरणमेवासीत् । तदेव ब्रह्मेत्यर्थः । स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितसृष्टिप्रसक्तौ यन्निरधिकरणं तदधिकरणभावमेति, तदवष्टभ्य खलु स प्रजापतिः ॥ ४ ॥

वेदछन्दस्सृष्टिः

ततो व्यैच्छत् । व्येवास्मा उच्छति । अथो तम एवापहते । ऋग्वेदमस्या आद्यात् पादादकल्पयत् । यजुर्द्वितीयात् । साम तृतीयात् । अथर्वाङ्गिरसश्चतुर्थात् । यदष्टाक्षरपदा तेन गायत्री । यदेकादशपदा तेन त्रिष्टुप् । यच्चतुष्पदा तेन जगती । यद्वात्रिंशदक्षरा तेनानुष्टुप् । ^१सा वा एषा सर्वाणि छन्दांसि य इमां सर्वाणि छन्दांसि वेद । सर्वं जगदानुष्टुभ एवोत्पन्नमनुष्टुप्प्रतिष्ठितं प्रतितिष्ठति यश्चैवं वेद ॥ ५ ॥

एवं कल्पयित्वा इतः किं कल्पनीयमिति ततो व्यैच्छत् विशेषेण इच्छां कृतवान् । व्येवास्मा उच्छति अस्मा एवं चिन्तां उपेयुषे या उच्छेत्तव्या सृष्ट्यावृत्तिरेव तदिच्छामात्रेण उच्छति भिद्यते । अथो तम एवापहते अथ सृष्ट्यावृत्तिभेदानानन्तरं इतः कर्तव्यावृत्तिरूपं तम एवापहते नश्यति, न तु

^१ स वा—अ, अ १, अ २, क.

सृष्टिकर्तव्यताज्ञानम् । पुनः निरावृतः किं कृतवानित्यत्र स्वसृष्टप्राणिपटला-
भ्युदयनिःश्रेयसार्थं ऋग्वेदमिति । ततः छन्दांसि सृजति—यदष्टा-
क्षरपदेति । एवं वेदनफलमाह—सेति । या अनुष्टुबिति ख्याता सा वा
एषा सर्वाणि छन्दांसि, छन्दसामनुष्टुप्कार्यत्वात् । य इमां आनुष्टुभीम् ।
वेदनफलं तु प्रतितिष्ठतीति ॥ ९ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

स्त्रीपुरुषमिथुनसृष्टिः

अथ यदा प्रजाः सृष्टा न जायन्ते प्रजापतिः कथंन्विमाः
प्रजाः सृजेयमिति चिन्तयन्नुग्रमितीमामृचं गातुमु^१पाकामत् । ततः
प्रथमपादादुग्ररूपो देवः प्रादुरभूत् एकः श्यामः पुरतो रक्तः
पिनाकी स्त्रीपुंसरूपस्तं विभज्य स्त्रीषु तस्य स्त्रीरूपं पुंसि च पुंरूपं
व्यधात् । स उभाभ्यामाशाभ्यां सर्वमादि[वि]ष्टः । ततः प्रजाः
प्रजायन्ते । य एवं ^२वेद सोऽपि त्र्यम्बक इमामृचमुद्गायन्नुद्ग्रथित-
जटाकलापः प्रत्यग्न्योतिष्यात्मन्येव ^३रन्ता रमति ॥ १ ॥

एवं स्वसृष्टप्राणिपटलं निर्व्यापारमुपलभ्य कथमहं व्यापारवत्प्रजाः
सृजेयमिति चिन्तयतः पूर्वलब्धविद्या प्रादुर्बभूव । तां गातुमुपक्रमतः उपक्रमं

^१ पकामन्—अ १, अ २, क. पकामत्—अ.

^२ वेद प्रजापतेः सो—अ, अ १, अ २, क.

^३ रन्तारमिति—अ, अ १, अ २, क, उ. रन्ता रमति—उ १.

कुर्वतः विद्याऽर्थरूपी भगवानर्धनारीश्वरो भूत्वा प्रादुर्बभूव । न हि निराशाः प्रजाः
 सृष्टिचक्रे प्रवर्तन्ते इत्यालोच्य परस्पराशाबद्धं स्त्रीपुरुषमिथुनं ससर्ज । ततः
 प्रभृति सृष्टिचक्रं यथापूर्वकल्पं चलतीत्याह—अथेति । ततः अनुष्टुभः
 प्रथमपादादुद्गुरुं देवो नृसिंहः प्रादुरभूत् पृष्ठतः एकः श्यामः स्त्रीलिङ्गचिह्नितः,
 पुरतो रक्तपिनाकी रक्तशब्देन पुमांश्चासौ पिनाकपाणिश्चेति रक्तपिनाकी
 पुल्लिङ्गचिह्नितः, एवं स्त्रीपुंसरूपः । य इत्थंभूतकलेवरः तं विभज्य । य एवं
 कृतवान् सः स्वसृष्टप्राणिपटलमाविष्टः । ततः प्रभृति प्रजाः सृष्ट्यनुकूलव्या-
 पारवत्यः प्रजायन्ते । वेदनफलं—य एवं वेद सोऽप्येवं प्रजायते । य एवं
 स्त्रीपुरुषसृष्टिं कृतवान् सोऽपि त्र्यम्बकः त्र्यक्षः पिनाकी भूरादित्रिपुरोपलक्षिता-
 विद्यापदतत्कार्यानन्तकोटिब्रह्माण्डाम्बकस्वामी वा नृसिंहः इमामृचं स्वात्मानु-
 सन्धानरूपिणीं उद्गायन् उद्ग्रथितजटाकलापः ऊर्ध्वीकृतसटाकलापो वा
 प्रत्यग्ज्योतिष्यात्मन्येव रन्ता रमति रमते । स्वातिरिक्तबाह्यरत्यनुकूल-
 वस्तुनोऽवस्तुत्वात् स्वस्य स्वस्मिन्नेव रतिरुपपद्यत इत्यर्थः ॥

इन्द्राख्यायिका

इन्द्रो वै किल देवानामानुजावर आसीत् । तं प्रजापतिर-
 ब्रवीद्गच्छ देवानामधिपतिर्भवेति । सोऽगच्छत् । तं देवा ऊचुरानुजा-
 वरोऽसि त्वमस्माकं कुतस्तवाधिपत्यमिति । स प्रजापतिमभ्येत्योवाचेमं
 देवा ऊचुरानुजावरस्य कुतस्तवाधिपत्यमिति । तं प्रजापतिरिन्द्रं
 त्रिकलशैरमृतपूर्णैरानुष्टुभाभिमन्त्रितैरभिषिच्य तं सुदर्शनेन दक्षिणतो
 ररक्ष पाञ्चजन्येन वामतो द्वयेनैव सुरक्षितोऽभवत् । रौक्मे फलके
 सूर्यवर्चसि मन्त्रमानुष्टुभं विन्यस्य तदस्य कण्ठे प्रत्यमुञ्चत् । ततः
 सुदुर्निरीक्षोऽभवत् । तस्मै विद्यामानुष्टुभीं प्रादात् । ततो देवास्त-

माधिपत्यायानुमेनिरे । स स्वराडभूत् । य एवं वेद स्वराड् भवेत् ।
सोऽमन्यत पृथिवीमिमां कथं जयेयमिति । स प्रजापतिमुपाधावत् ।
तस्मात् प्रजापतिः कमठाकारमिन्द्रनागमुजगेन्द्राधारं भद्रासनं
प्रादात् । स पृथिवीमभ्यजयत् । ततः स उभयोर्लोकयोरधिपतिरभूत् ।
य एवं वेदोभयोर्लोकयोरधिपतिर्भवति । स पृथिवीं जयति ॥ २ ॥

इन्द्राख्यायिकामवतारयति—इन्द्र इति । आनुजावरः अधिपतिः
आसीत् । यः स्वनिकटमेत्य शरणं गतः तं प्रजापतिः अब्रवीत् । किमिति ?
गच्छेति । तदाज्ञां शिरसा धृत्वा देवानां निकटं सोऽगच्छत् । तं देवा ऊचुः ।
किमिति ? किं आनुजावरोऽसि ? । देवैः एवमधिक्षिप्तः सः । एवमुक्तवन्तं तम् ।
पुनः तम् । वामतो ररक्षेत्यर्थः । एवं मूर्तिभूतमुदर्शनपाञ्चजन्यतेजसा द्वयेनैव
सुरक्षितोऽभवत् । पुनः प्रजापतिः तत्कृते किं कृतवानित्यत्र—रौक्मे फलके
सौवर्णपीठे सूर्यवर्चसि । यत एवं दिव्यतेजसा बभौ ततो देवाः । एवं जानतः
फलमाह—स स्वराडभूत् इति । य एवं देवराज्ये अभिषेचितः सोऽमन्यत ।
किमिति ? पृथिवीमिति । तस्मात् . . . प्रादात्, इन्द्राद्यष्टदिक्पालैः
अष्टदिङ्नागैः गजैः अष्टदिक्फणीन्द्रैः अलङ्कृतं कूर्माकारं भद्रासनं दत्तवानित्यर्थः ।
भद्रासनयोगतः अयं स पृथिवीमभ्यजयत् । य एवं वेद स उभयोः ॥ २ ॥

परमात्मप्रतिष्ठासाधनम्

यो वा अप्रतिष्ठितं शिथिलं भ्रातृव्येभ्यः परमात्मानं मन्यते
स एतमासीनमधितिष्ठेत् । प्रतिष्ठितोऽशिथिलो भ्रातृव्येभ्यो वसीयान्
भवति यश्चैवं वेद यश्चैवं वेद ॥ ३ ॥

१ पृथिवीमपि कथसपां ज—अ, अ १, अ २, क, मु.

यस्तु स्वप्रतिकूलभावमापन्नबाह्यान्तःकरणरूपभ्रातृव्येभ्यः शत्रुभ्यः प्रत्यगभिन्नपरमात्मानं स्वपदे अप्रतिष्ठितं देहादावात्मात्मीयाभिमानतः शिथिलं जीवभावमापन्नं मन्यते सोऽयं विद्वान् स्वातिरिक्तप्रपञ्चारोपापवादाधिष्ठानतया स्वे महिम्नि आसीनं परमात्मानं निष्प्रतियोगिकाद्वैतभावेन अधितिष्ठेत् प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति स्थिरासनो भवेत् । एवं भावनया अयं स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः । एवं वेदनसमकालं स्वातिरिक्तकरणप्राप्तकार्यकलनापह्ववसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्मात्र-भावेन स्वे महिम्नि स्वयमेव वसीयान् भवति विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः । आवृत्तिः परापरब्रह्मविद्यासमाप्त्यर्था ॥ ३ ॥

इति षष्ठः खण्डः

एतद्विद्याऽध्ययनफलम्

य इमां विद्यामधीते स सर्वान् वेदानधीते । स सर्वैः क्रतुभिर्यजते । स सर्वतीर्थेषु स्नाति । स महापातकोपपातकैः प्रमुच्यते । स ब्रह्मवर्चसं महदामुयात् । आब्रह्मणः पूर्वानाकल्पांश्चोत्तरांश्च वंश्यान् पुनीते । नैनमपस्मारादयो रोगा अधिदेयुः । सयक्षाः सप्रेतपिशाचा अप्येनं स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा पापिनः पुण्यलोकानवाप्नुयुः । चिन्तितमात्रादस्य सर्वेऽर्थाः ^१सिद्ध्येयुः । पितरमिवैनं सर्वे मन्यन्ते । राजानश्चास्या^२देशकारिणो भवन्ति । न चाचार्यव्यतिरिक्तं श्रेयांसं दृष्ट्वा नमस्कुर्यात् । न चास्मादुपावरोहेत् । जीवन्मुक्तश्च भवति ।

^१ अध्येयुः—अ, अ १, क

^२ देशाधिका—अ, अ २, क.

देहान्ते तमसः परं धाम प्राप्नुयात् । यत्र विराण् नृसिंहोऽवभासते तत्र
खलूपासते । तत्स्वरूपध्यानपरा मुनय आकल्पान्ते तस्मिन्नेवात्मनि
लीयन्ते । न च पुनरावर्तन्ते ॥ १ ॥

एतच्छास्त्रपठनपाठनवेदनफलप्रकटनार्थं सप्तमखण्डिका आरभ्यते—य
इति । न चास्मादुपावरोहेत्, एतस्मादन्याश्रयणं न कुर्यात् । एतावन्मात्रा-
नुष्ठानतो जीवन्मुक्तश्च भवति ॥ १ ॥

एतद्विद्यासंप्रदानविधिः

न चेमां विद्यामश्रद्धधानाय ब्रूयान्नासूयावते ना[न]नूचानाय
नाविष्णुभक्ताय ^१नानृतिने नातपसे नादान्ताय नाशान्ताय नादीक्षि-
ताय नाधर्मशीलाय न हिंसकाय नाब्रह्मचारिण इत्येषोपनिषत् ॥ २ ॥

शास्त्रसंप्रदायमाह—न चेमामिति ॥ २ ॥

• इति सप्तमः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
अव्यक्तोपनिषद्ब्रह्माख्या लिखिता नरसिंहगा ।
अव्यक्तविवृतिग्रन्थः पञ्चाशदधिकं शतम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अष्टषष्टिसङ्ख्यापूरकं
अव्यक्तनृसिंहोपनिषद्विवरणं संपूर्णम् ॥

कलिसंतरणोपनिषत्

सह नावतु—इति शान्तिः

भगवन्नामस्मरणमात्रेण कलिसंतरणम्

द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्
कलिं संतरेयमिति । स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं
गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि । भगवत आदिपुरुषस्य
नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति ॥ १ ॥

यद्विद्यनाम स्मरतां संसारो गोष्पदायते ।

स्वानन्यभक्तिर्भवति तद्रामपदमाश्रये ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्त्यं कलिसन्तरणोपनिषत् स्वातिरिक्तास्तित्व-
भ्रमनिरासकनाममाहात्म्यप्रकटनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते ।
अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । नारदब्रह्मप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका
विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—द्वापरान्त इति । नारदेनैवं पृष्टः
स होवाच ब्रह्मा । किमुवाचेत्यत्र—साध्विति । येन भगवन्नामोच्चारणमात्रेण
ब्रह्महत्याऽऽदिषञ्चमहापातकपरद्रव्यपरदारामिदर्शनपरश्रेयोऽसहिष्णुताऽऽद्यलंकृत -
कलिसंसारं तरिष्यसि, अदित्यंभूतकलिसन्तरणोपायभूतमभक्ताय कदाऽप्यप्रकट-

नीयत्वात् गोप्यं, किं तत्प्रमाणविरलं केवलमुपदिश्यत इत्यत्र सर्वश्रुतिस्मृतिषु पञ्चमहापातकादिकोटिदोषनिरसनपूर्वं भगवत्पदप्रापकत्वेन प्रसिद्धं तद्ब्रह्मस्यार्थमपि केवलकृपयोपदिश्यते तच्छृणु । कास्तास्तत्प्रशंसापराः श्रुतयः स्मृतयश्च इत्यत्र—

कृतं दिने यद्दुरितं पक्षमासर्तुवर्षजम् ।
 सर्वं दहति निःशेषं तूलाचलमिवानलः ॥
 ब्रह्महत्यासहस्राणि ज्ञानाज्ञानकृतानि च ।
 स्वर्णस्तेयसुरापानगुरुतल्पायुतानि च ॥
 कोटिकोटिसहस्राणि उपपातकजान्यपि ।
 सर्वाण्यपि प्रणश्यन्ति रामनामानुकीर्तनात् ॥
 यत्प्रयागादितीर्थोक्तप्रायश्चित्तशतैरपि ।
 नैवापनोद्यते पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥
 पुण्यक्षेत्रेषु सर्वेषु कुरुक्षेत्रादिषु स्वयम् ।
 बुद्धिपूर्वमघं कृत्वा तदप्याशु विनाशयेत् ॥
 कृच्छ्रैस्तप्तपराकाद्यैर्नानाचान्द्रायणैरपि ।
 पापं च नापनोद्यं यत्तदप्याशु विनाशयेत् ॥
 आत्मतुल्यसुवर्णादिदानैर्बहुविधैरपि ।
 किञ्चिदप्यपरिक्षीणं तदप्याशु विनाशयेत् ॥
 सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।
 न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥

इत्याद्याः श्रुतयः,

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥
 ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
 यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥
 सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
 नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

धिवशेन प्रयत्नेन ज्ञानेनाज्ञानतोऽपि वा ।

नामस्मरणतोऽपापो विद्वानमृतमश्नुते ॥

इत्याद्याः स्मृतयश्च । एवं नामस्मरणतः कलिः नश्यतीत्याह—भगवत इति ॥ १ ॥

परब्रह्मावरणावनाशकषोडशनामानि

नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति । स होवाच
हिरण्यगर्भः ।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम् ।

नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते ॥

षोडशकलाऽऽवृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम् । ततः प्रकाशते

परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति ॥ २ ॥

एवं श्रुतिस्मृतिप्रमाणसिद्धभगवन्नामस्मृतितो निःशेषकलिहानि श्रुत्वा तन्नामेदमिति बुभुत्सया नारदः पुनः पप्रच्छ । नारदप्रश्नोत्तरं स होवाच हिरण्यगर्भः । किं तदित्यत्र—हरे रामेति । स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातं स्वावशेषतया हरतीति हरिः । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया राजते महीयत इति रामः । कृष्यते क्लिश्यते इति कृषिशब्देन कलिरुच्यते, तं कलिं स्वभक्तकृत-संकृतस्मरणमात्रेण निःशेषं मुष्णाति ग्रसति निःशेषीकरोतीति कृष्णः, तस्य संबुद्धिः हरे राम कृष्ण इति । रामकृष्णानाम्नोः मिथः हरिनामसमन्वयतः नाम्नां षोडशकं भवति । षोडशनाम सकृदुच्चारितं सत् कलिकल्मषमुन्मूलयति । सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणेषु नारदः परतरोपायो दृश्यते । अयमेव परमोपाय इत्यर्थः ।

एवं नामस्मृतितो जीवावृतौ भिन्नायां अथ निर्विशेषं ब्रह्म प्रकाशत इत्याह—
षोडशेति । प्राणादिनामान्तषोडशकलाभिः आवृतस्य जीवस्य एतत्षोडशकं
नाम जीवावरणविनाशकं भवति । एवं भगवन्नामस्मृतिखड्गेन स्वावरणे भिन्ने
मेघापाये अंशुमानिव ततः प्रकाशते परं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ॥ २ ॥

नामजपमहिमा

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन् कोऽस्य विधिरिति । तं होवाच
नास्य विधिरिति । सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां
समीपतां ^१सरूपतां ^२सायुज्यतामेति । यदाऽस्य ^३षोडशीकस्य
सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति । तरति वीरहत्याम् ।
स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति । वृषलीगमनात् पूतो भवति । पितृदेव-
मनुष्याणामपकारात् पूतो भवति । सर्वधर्मपरित्यागपापात् सद्यः
शुचितामाम्नुयात् । सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥

इत्थंप्रभाववन्नामस्मरणविधिबुभुत्सया पुनः मुनिः भगवन्तं पृच्छतीत्याह
—पुनरिति । पुनः नारदः पप्रच्छ—किमिति ? भगवन् कोऽस्य नामस्मरणस्य
विधिरिति । उत्तरं भगवानाचष्टे—तमिति । तत् कथमित्यत्र—सर्वदेति ।
षोडशनामात्मकविद्यायाः श्रौतत्वेन द्विजातिरेव सर्वदा शुचिरशुचिर्वाऽपि पठन्
स्मरन् सालोक्यादिचतुर्विधमुक्तिमेति, श्रौतेतरनामसु स्त्रीशूद्राणामधिकारः इत्यत्र—

सदा रामेति नामैव स्मरतामघशान्तये ।
निःशेषं नाशयित्वाऽथ क्रममुक्तिं विधास्यति ॥
स्वान्तःकरणसंभूतसञ्चिताघनिवृत्तये ।
सर्ववर्णैराश्रमिभिः स्मर्तव्यं नाम सर्वदा ॥

^१ 'सरूपतां' इति (अ, अ १.) कोशयोः नास्ति. ^३ सायुज्यमे—अ.

^२ षोडशि—अ १, अ २, उ १, क. षोडश—अ.

नाम कीर्तयतो नास्ति पातकमित्यत्र शपथयति—

नाम कीर्तयतः पुंसो नास्ति पातकञ्णवपि ।

गुह्यामि तप्तायःपिण्डमहिभाण्डे करं क्षिपे ॥

नाम स्मर्तुरपापित्वादकार्यं न भवेन्मतिः ॥

इत्यादिन्वमार्थविवेकोक्तः । ब्रह्महत्याऽऽदिपातकनिवृत्तये कियत् स्मर्तव्यमित्यत्र, अनधिकारिभिः यथोक्तसङ्ख्याया नाम स्मर्तव्यं, अधिकारिणा तु नासार्थानुसन्धानपूर्वकं सर्वदा सकृद्वा स्मर्तव्यं, तेन स्वाङ्गः स्वाघतो मुच्यते, स्वङ्गस्तु स्वातिरिक्तभ्रमतो मुच्यत इत्याह—यदेति । स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यासंभवप्रबोधसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया राजते महीयत इति रामनामसकृत्स्मरणात् सद्यः स्मरणसमकालमेव स्वातिरिक्तभ्रमतो मुच्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः कलिसन्तरणोपनिषत्समात्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मबोगिना ।

कलिसन्तारविवृतिः लिखिता हरिगोचरा ।

कलिसन्तारविवृतिः चत्वारिंशदिति रिता ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे त्रिसङ्ख्योत्तरशतसङ्ख्यापूरकं

कलिसन्तरणोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

कृष्णोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

रामचन्द्रस्य कृष्णावतारप्रतिज्ञा

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं
मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः । तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्
वै गण्यन्ते आलिङ्गामो, ^१भवन्तमिति । भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं
गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ । अन्ये येऽव^२तारास्ते हि मोषा नः
स्त्रीश्च (नो) कुरु ।

अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवाङ्गस्पर्शनादिह ।

शश्वत् स्पर्शयिताऽस्माकं गृह्णामोऽवतरा वयम् ॥ १ ॥

रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान् स्वयम् ।

अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम् ॥ २ ॥

यो रामः कृष्णतामेल्य सार्वार्त्म्यं प्राप्य लीलया ।

अतोषयद्देवमौनिपटलं तं नतोऽस्म्यहम् ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं श्रीकृष्णोपनिषत् सार्वार्त्म्यप्रकटनव्यप्रा
ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । मौनिमण्डल-

भगवत्प्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—
 श्रीति । तं होचुः—किमिति ? नोऽवद्यमिति । हे रामचन्द्र त्वद्रूपं नोऽवद्यं
 स्वैतरकलनाऽसहसत्तासामान्यरूपं, निष्प्रतियोगिकसन्मात्रत्वात्, “ पश्यतेहापि
 सन्मात्रमसदन्यत्”, “ ब्रह्ममात्रमसन्न हि ” इत्यादिश्रुतेः । स्वाज्ञलोकस्वपदासि-
 हेतवे भगवत्कृतमत्स्याद्यवतारान् वै मुनयो वयं मन्यामहे । ब्रह्मादिभिरपि
 एवमेव भगवदवताराः स्वाज्ञस्वपदासिहेतव इति गण्यन्ते चिन्त्यन्ते इत्यर्थः ।
 यत् एवं अतो भवन्तं व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चोपाधितः तदारोपापवादाधारस्वरूपतश्च
 आलिङ्गमः आलिङ्गनं कुर्मः । इति देवर्षिपटलवचनमाकर्ण्य, पुंभिः पुंसामा-
 लिङ्गनस्यारमणीयत्वात्, यदि यूनं योगशक्त्या स्त्रीत्वं भजन्तः तदाऽपि मम
 सत्यवाक्सत्यप्रतिज्ञापूर्वकमेकदारव्रतत्वात् अतः भवान्तरे इति । इत्थं भगव-
 द्वाक्यमाकर्ण्य देवा ऋषयश्च तुष्टा आहुरित्याह—अन्य इति । कृष्णावतारं
 कुर्वतस्ते अन्ये ये अवताराः बलगोपवृन्दरूपेण ये अन्ये पुंभावापन्ना अवतारा
 भविष्यन्ति हे भगवन् तत्र तदा नः अस्मान् स्त्रीश्च स्त्रियः कुरु, तत्राप्यस्माकं
 अस्वतन्त्रत्वात् । हिशब्दोऽस्माकं अनीश्वरत्वख्यापनार्थः । तदेवाधुना—
 सर्वेश्वरस्य तव सदा अङ्गस्पर्शनात् स्पर्शनार्थं त्वयेश्वरेण त्वत्प्रसादतोऽस्माभिश्च
 रासक्रीडाऽनुकूलतया अन्योन्यानुकूलविग्रहं धार्यं यथा अस्माकं त्वद्भावपर-
 तन्त्राणां गात्राणि भवान् शश्वत् मुहुर्मुहुः स्पर्शयिता भवति तथा वयं अवतरा
 अवतारान् गृह्णामो गृह्णीमः कुर्मः ॥ १ ॥ इत्येवंरूपं रुद्रादीनां, आदिशब्द-
 वान्यवस्वादिल्यादिदेवानां, तथा ऋषीणां च वचः श्रुत्वा प्रोवाच । किमिति ?
 भवतां अङ्गसङ्गं करिष्यामि ॥ २ ॥

भगवतः सार्वान्यवर्णनम्

मोदितास्ते ^१सुराः सर्वे कृतकृत्याऽधुना वयम् ।

यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मौक्तिकेहिनी ॥ ३ ॥

माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वरानसतामसी ।
 प्रोक्ता च सात्त्विकी-^१रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी- ॥ ४ ॥
 तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता ।
^२अजया वैष्णवी माया जप्येन च सुता ^३पुरा ॥ ५ ॥
 देवकी ^४ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते ।
 निगमो ^५वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ॥ ६ ॥
 स्तुवन्ति सततं ^६यस्तु सोऽजतीर्णो महीतले ।
 वने बृन्दावने क्रीडन् गोपगोपीसुरैः सह ॥ ७ ॥
 गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः ।
 वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः ^७स्वघोऽसुरः ॥ ८ ॥
 गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः ।
 लोभ^८क्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः ॥ ९ ॥
 गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः ।
 दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत् ॥ १० ॥
 दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्वृष्टिरूपो भवेद्विजः ।
 रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत् कथम् ॥ ११ ॥
 बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात् ।
 शेषनागो भवेद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ॥ १२ ॥

^१ रुद्रभ—अ १. ^२ अजेया—अ १, अ २, क.

^४ ब्रह्मपुत्री—अ २. ^५ वासु—अ १.

^७ सखा—अ. सघा—अ १. सघो—अ २, क.

^८ लोभक्रोधभया—अ, क.

^३ सुरो—अ, अ १.

^६ यन्तु—अ, अ १.

अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्याः स्त्रियस्तथा ।
 ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः ॥ १३ ॥
 द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः ।
 दर्पः कुवल्यापीडो गर्वो रक्षः स्वगो बकः ॥ १४ ॥
 दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै ।
 अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ॥ १५ ॥
 शमो मित्रः सुदामा च सत्याऽकूरोद्धवो दमः ।
 यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥ १६ ॥
 दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु ^१स स्मृतः ।
 दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ॥ १७ ॥
 क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत् सुमहोदधौ ।
 संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ॥ १८ ॥
 कृपार्थं सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
 यत् सृष्टमीश्वरेणासीत् तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ॥ १९ ॥
 जयन्तीसंभवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः ।
 यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥ २० ॥
^२कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा ।
 चक्रं शङ्खं च ^३संसिद्धिं बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥ २१ ॥
 यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः ।
 नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥ २२ ॥

^१ संस्मृतः—अ, अ^१२.

^२ का—अ, अ १.

^३ संसिद्धिं—

गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिबर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥ २३ ॥
अब्जकाण्डं जगद्धीजं धृतं पाणौ स्वलीलया ।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ॥ २४ ॥
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ।
तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ॥ २५ ॥
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥ २६ ॥ इत्युपनिषत् ॥

सत्यवाग्भिरुदञ्चितश्रीरामचन्द्रसूक्तिमाकर्ण्य मोदितास्ते सुराः सर्वे
ऋषयश्च कृतकृत्याऽऽधुना वयमिति । देवर्षिबृन्दकृते यत्प्रतिज्ञातं तत्परिपालनाय
रामावतारमुपसंहृत्य स्वयमेव साङ्गसावरणसपरिवारसशक्तिकः श्रीकृष्णो बभूव ।
तत्र नन्दयशोदाऽऽदिपरिवारसहितं भगवतः सार्वान्त्र्यमवतारयति—यो नन्द
इति । भगवतः स्वरूपभूतपरमानन्द एव नन्दो बभूव । परमानन्दं भगवन्तं
पुत्रभावेन आप्य सदा अभिनन्दितत्वात् अस्य नन्दत्वम् । स्वभक्तानां यशः
ख्यातिं ज्ञानं ददातीति यशोदा निर्विशेषब्रह्मविद्या स्वनिष्ठानां स्वातिरिक्तास्तित्व-
भ्रममुक्तेरावासगेहरूपेयमिति मुक्तिगेहवती, मुक्तिगेहिन्येव मौक्तिगेहिनी भवति,
विद्याया मुक्तप्राप्यसीमत्वात् ॥ ३ ॥ स्वाज्ञविकल्पितमायायाः गुणतत्त्वैविध्यमाह
—मायेति । रुद्रस्य रजस्तमस्तत्कार्यग्रासत्वेन सत्वमयत्वं, ब्रह्मणः सृष्टिकर्म-
व्यग्रत्वेन रजोमयत्वं, दैत्यानां प्राणिसामान्यपीडनप्रकृतित्वेन तमोमयत्वं, एवं
मायायास्त्रैविध्यमुक्तं भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ तस्याः “ ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति ”
इति निर्विशेषब्रह्मज्ञानेतरसाधनशतेनापि दुर्जयत्वमाह—अजयेति । अजया
अजेया वैष्णवी माया । या मा सा मायेति या पुरा स्वाज्ञानात् प्रसूतेति
स्वसुतेव भाता । सेयं वैष्णवी माया ब्रह्मज्ञानेतरमन्त्रादिजप्येन चशब्दात्
कर्मयोगादिसाधनेनाप्यजेया ब्रह्मज्ञानेन जेतुं शक्येत्यत्र—

या च प्रागात्मनो मे मा तथाऽन्ते च तिरस्कृता ॥

देवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

इति श्रुतिः स्मृतिश्च मानं भवति ॥ ५ ॥ देवकी वसुदेवश्च कीदृशः इत्यत आह—देवकीति । “ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं,” “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” इत्यादिवेदैः तुरीयोङ्काररूपेण या उपगीयते सेयं ब्रह्मपुत्रा पुत्री ब्रह्मप्रणवविद्या देवकी भवति । प्रणवविद्याया ब्रह्मपुत्रिकात्वं कथमित्यत्र—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

इति स्मृतिर्मानम । निगमः ऋगादिचतुर्वेद एव वसुदेवः “तत्त्वमसि” इति श्रुतिप्रकटित “तत्त्वं” पदलक्ष्ययोः कृष्णरामयोः एकीभावो हि वेदार्थः, “तत्त्वंपदलक्ष्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म” इति श्रुतेः, पराक्सापेक्षप्रत्यग्ब्रह्मैक्यगत-विशेषांशापायसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रस्य कृत्स्नवेदार्थत्वेन परमाद्वैतरूपत्वात्, “वेदार्थः परमाद्वैतं नेतरत् सुरपुङ्गवाः” इति स्मृतेः ॥ ६ ॥ वेदार्थत्वेन तं के वदन्ति, स कुत्रोपलभ्यते इत्यत आह—स्तुवन्तीति । यस्तु भगवान् वने बृन्दावने च गोपैः गोपीभिः सुरैश्च सह क्रीडन् आस्ते सोऽयं ब्रह्मादि-पिपीलिकाप्राणिपटलमहीतले स्वोपलब्धिहेतुतया महनीयतले हृदयकमले अन्तर्यामिरूपेण प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेण अवतीर्णो भवति, तमेव सततं निष्प्रति-योगिकब्रह्ममात्रतया वेदा ब्रह्मरूद्रादयो देवाः सनकादिमुनयश्च स्तुवन्ति स्वमात्रावशेषतया विस्पष्टं वदन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ गोप्यादयः काः इत्यत आह—गोप्य इति । नानाविधाः ऋचो मन्त्रा एव गोप्यो गावश्च भवन्ति । तस्य भगवतः कमलासनो ब्रह्मा गोपालनसाधनयष्टिका भवति । भगवान् रुद्रस्तु सप्तस्वरानुवादिवंशो वेणुर्भवति । इन्द्रस्तु गवयशृङ्गं भूत्वा भगवत्करतले विलसति । असुरः भगवद्भाववैरव्यात् अघो भवति, भगवन्नामस्मृतितो विनश्यतीत्यर्थः ॥ ८ ॥ किं बहूना—गोकुलमिति । किंच लोभक्रोधादयो

दैत्याः भवन्ति । भगवद्दर्शनतन्नामस्मृतिमात्रेण लोभाद्यरिषड्गौजीवककलिकाल-
स्तिरस्कृतो भवति ॥ ९ ॥ तत्र गोकुलवैकुण्ठे मायाविग्रहधारणः विजयते ।
मायया अस्य विग्रहधारणा, वस्तुतो भगवान् निर्विशेषं ब्रह्मेत्यर्थः । तथाऽपि
गोपरूपतया निष्कुहकगोपतुल्यो भवतीत्यत आह—दुर्बोधमिति । यन्मायया
यदज्ञानेन इदं जगत् स्वाविद्यापदतत्कार्यं स्वातिरिक्तमिति मोहितं भवति तस्य
भगवतः कुहकं अध्यक्षसायं तद्भावापन्नमुनिं विना सुरासुरैरपि दुर्बोधम् ॥ १० ॥
तत्र हेतुमाह—दुर्जयेति । तदीयाघटितघटनापटीयसी शक्तिः या विजृम्भते सेयं
सर्वैरपि दुर्जया दुर्विज्ञेयेत्यर्थः । द्विजो द्विजराजश्च चन्द्रः धृष्टिरूपो धैर्यरूपो
भवेदित्यर्थः । मायाशक्तः दुर्जयत्वेन तथा भगवानपि मुह्यतीत्यत आह—
रुद्र इति ॥ ११ ॥ ये देवाः तद्भावविकलाः तेषां सुराणां बलं ज्ञानं विज्ञानं
च यया क्षणादपहृतं, येन रुद्रोऽपि वेणुभावं नीतः, तस्य निर्मायस्य भगवतः
माया वा तत्कार्यं जगद्वा कथं स्वावारकं भवति, भगवतो निरावृताजडक्रिया-
ज्ञानेच्छाशक्तिमत्त्वेन निर्मायत्वात् । को वा रामः कः कृष्णः तज्जायाग्रामः
कीदृशः इत्यत आह—शेषनाग इति । आदिशेषो बलरामः, निर्विशेषं ब्रह्मैव
कृष्णः ॥ १२ ॥ अष्टोत्तरशताधिकषोडशसहस्रस्त्रियस्तु ऋचोपनिषदः—
इत्यत्र विसर्गलोपः—ऋचः ऋगादिचतुर्वेदप्रविभक्ताः ऋचो मन्त्राः उपनिषदश्च
भवन्ति । किं बहुना—ता वै स्त्रियो ब्रह्मरूपा एव भवन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥
किंच—द्वेष इति । कुवलयपीडः गजविशेषः ॥ १४—१५ ॥ सत्या सत्यम् ।
यः शङ्खो दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नः लक्ष्मीसोदरत्वात् लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः,
मेघघोषश्च सोऽयं पाञ्चजन्य इति स्मृतः, य एवरूपः शङ्खः स स्वयं
बिष्णुरेव भवति । किंच—दुग्धोदधिरिति । गोपीनां गृहे येन क्षीरदधि-
भाण्डसहस्रं भ्रमं भवति तेनैव तत्प्रवाहतो दुग्धोदधिरपरः क्षीरसमुद्रः कृतो
भवति ॥ १६—१७ ॥ किंच—प्रतिगोपीगृहं क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्
श्वेतद्वीपालङ्कारसुमहोदधौ क्षीरसमुद्रे च क्रीडत इत्यर्थः । किमर्थं एवं अवतारः
कृतः इत्यत्र—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे ॥

इति स्मृत्यनुरोधेन भगवदवतारप्रयोजनमाह—संहारार्थमिति ॥ १८ ॥ श्रीकृष्णं विद्यादित्यर्थः । ईश्वरेण यत् सृष्टमासीत् तत् जगच्चक्रं ब्रह्मैव, कारणातिरेकेण कार्याभावात्, कार्यं कारणमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ जयन्तीशब्देन भगवदाविर्भावकाल उच्यते । तत्काले भवतीति जयन्तीसंभवो वायुः मुख्यप्राणः, तस्य कालोपाधेः भगवतो निष्पन्नत्वात् । स एव धर्मसंज्ञकः चमरः चामरो भवतीत्यर्थः । किञ्च—यस्यांशभूतोऽसौ ज्वलनाभासोऽग्निः भवति, यस्य खड्गरूपो महेश्वरो रुद्र आसीत् ॥ २० ॥ भगवत्संबन्धवाञ्छया देवपिता कश्यपप्रजापतिः उलूखलतां गतः, देवमाता अदितिः रज्जुतां गता भवति, मात्रा बालचेष्टा-निरसनकामया यदाऽयमुलूखले बद्धः तदेत्यर्थः । शङ्खचक्रे यस्यायुधविशेषो भवतः, सर्वप्राणिमूर्धनि सहस्रारचक्रे निर्विकल्परूपिणीं सिद्धिं विन्दुं तुरीयसाक्षात्कारं च योगिनो लभन्ते, स भगवान् सर्वात्मना अवतिष्ठते ॥ २१ ॥ एक एव भगवान् सर्वात्मा भवतीति विबुधा योगिनश्च विदित्वा नमन्तीत्यत्र नहि संशयोऽस्ति, निःसंशयं नमन्तीत्यर्थः,

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।

प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डाळगोखरम् ॥

इति श्रुतेः ॥ २२ ॥ किञ्च—गदेति । यस्य धनुः शार्ङ्गं भवति, यस्य मायाऽविद्या च शरदादिषडृतुकालश्च सुभोजनो भोजनं भवति, भगवतो निर्मायत्वेन मायातत्कार्यग्रासत्वात् ॥ २३ ॥ ब्रह्माण्डस्य पार्थिवत्वेनाद्भयो जातत्वात् अब्जकाण्डं अविद्याऽण्डं, तस्यानन्तकोटिब्रह्माण्डबीजत्वात् तदेव जगद्बीजं येन लीलया स्वपाणौ धृतं स भगवान् आदिविराट् भवतीत्यर्थः, “घटीयन्त्रस्थघटमालिकाजालवत् महाविष्णोः करतले विलसन्त्यनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि” इति श्रुतिः । किञ्च—गरुड इति । सुदामा कुचेलः ॥ २४ ॥

भगवद्भक्तिरेव चृन्दालक्ष्मीर्भूत्वा भगवन्निकटे वसति । भगवतोऽस्य क्रियाज्ञाने-
च्छाशक्तिस्तु भगवदतिरेकेण सर्वजन्तुः नास्तीति प्रकाशिनी बुद्धिः ज्ञान-
विज्ञानसम्यज्ज्ञानरूपिणी भवति । यद्यद्भगवत्सार्वात्म्यमुक्तं तत्तद्भगवतो न
भिन्नमित्याह—तस्मादिति । य एवं सर्वात्मभावमापन्नः तस्मादिदं सर्वं न
भिन्नम् । सर्वाभिन्नत्वे भगवतो नश्वरत्वं स्यादित्यत आह—नाभिन्नमिति ।
स्वातिरिक्तस्य अवस्तुत्वेन भिन्नाभिन्नव्यवहारानर्हत्वात् । स्वातिरिक्तसर्वभिन्नो वा
स्यादित्यत आह—आभिरिति । निष्प्रतियोगिकविभुः भूमा नारायणः आभिः
शशविषाणतुल्यस्वातिरिक्तकलनाभिः न वै भिन्नोऽभिन्नो वा भवितुमर्हति ।
स्वातिरिक्तसामान्यस्य निष्प्रतियोगिकाभावरूपत्वेन च नानयोः ब्रह्मातिरिक्तयोः
भिन्नाभिन्नकथा भवितुमर्हतीति भावः ॥ २९ ॥ किं बहुना—भूमाविति ।
भगवदाविर्भावसम्कालमेव स्वर्गवासिदृष्ट्याऽपि वैकुण्ठं विष्णवाख्यं ब्रह्म भूमावे-
वोत्तारितं आविर्भूतं विभाति । इत्युपनिषच्छब्दः कृष्णोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्याद्विवरणं कृष्णोपनिषदः स्फुटम् ।

कृष्णोपनिषदो व्याख्याग्रन्थोऽशीतिरितीरितः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षण्णवतिसङ्ख्यापूरकं

कृष्णोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

शेषो ह वै वासुदेवात् सङ्कर्षणो नाम जीव आसीत् । सोऽका-
मयत प्रजाः सृजेयेति । ततः प्रद्युम्नसंज्ञक आसीत् । तस्मात्
अहंकारनामाऽनिरुद्धो हिरण्यगर्भोऽजायत । तस्मात् दश प्रजापतयो

¹ अयं द्वितीयः खण्डः (अ, अ१) कोशयोरेवोपलब्धोऽत्र संयोजितः.

मरीच्याद्याः स्थाणुदक्षकर्मप्रियव्रतोत्तानपादवायवो व्यजायन्त ।
 तेभ्यः सर्वाणि भूतानि च । तस्माच्छेषादेव सर्वाणि च भूतानि
 समुत्पद्यन्ते । तस्मिन्नेव प्रलीयन्ते । स एव बहुधा जायमानः सर्वान्
 परिपाति । स एव काद्रवेयो व्याकरणज्योतिषादिशास्त्राणि निर्दिमाणो
 बहुभिर्मुमुक्षुभिरुपास्यमानोऽखिलां भुवमेकस्मिन् शीर्ष्णि ^१सिद्धार्थ-
 वद्गीयमाणः सर्वैर्मुनिभिः संप्रार्थ्यमानः सहस्रशिखराणि मेरोः
 शिरोभिरावार्यमाणो महावाय्वहंकारं निराचकार । स एव भगवान्
 भगवन्तं ^२बहुधा विप्रीयमाणः अखिलेन स्वेन रूपेण युगे युगे
 तेनैव जायमानः स एव सौमित्रिरैश्वाकः सर्वाणि धानुषशास्त्राणि
 सर्वाण्यस्त्रशास्त्राणि बहुधा विप्रीयमाणो रक्षांसि सर्वाणि विनिघ्नं-
 श्चातुर्वर्ण्यधर्मान् प्रवर्तयामास । स एव भगवान् युगसन्धिकाले
 शारदाभ्रसन्निकाशो रौहिणेयो वासुदेवः सर्वाणि गदाद्यायुधशास्त्राणि
 व्याचक्षाणो नैकान् राजन्यमण्डलान्निराचिकीर्षुः भूभारमखिलं
 निचखान । स एव भगवान् युगे तुरीयेऽपि ^३ब्रह्मकुले जायमानः
 सर्वा उपनिषदः उद्दिधीर्षुः सर्वाणि धर्मशास्त्राणि विस्तारयिष्णुः
 सर्वानपि जनान् सन्तारयिष्णुः सर्वानपि वैष्णवान् धर्मान्
 विजृम्भयन् सर्वानपि पाषण्डान् निचखान । स एष जगदन्त-
 र्यामी । स एष सर्वात्मकः । स एव मुमुक्षुभिर्ध्येयः । स एव
 मोक्षप्रदः । एतं स्मृत्वा सर्वेभ्यः ^४पापेभ्यो मुच्यते । तन्नाम

^१ सिद्धार्थं प्री—अ१.

^२ बहुधाऽपि प्री—अ१, (एवमुत्तरत्र).

^३ ब्राह्मण्यां परमहंसो जा—अ१.

^४ पम्भ्यो—अ१.

संकीर्तयन् विष्णुसायुज्यं गच्छति । तदेतत् दिवा अधीयानः
 रात्रिकृतं पापं नाशयति । नक्तमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति ।
 तदेतद्वेदानां रहस्यं, तदेतदुपनिषदां रहस्यं, एतदधीयानः सर्वक-
 तुफलं लभते, शान्तिमेति, मनश्शुद्धिमेति, सर्वतीर्थफलं लभते, य
 एवं वेद देहबन्धाद्विमुच्यते इत्युपनिषत् ॥

इति द्वितीयः खण्डः



गरुडोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

गरुडविद्यासंप्रदायः

ॐ गरुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ¹ब्रह्मा विद्यां नारदाय
प्रोवाच नारदो बृहत्सेनाय बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय
भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत् ॥ १ ॥

विषं ब्रह्मातिरिक्तं स्यादमृतं ब्रह्ममात्रकम् ।

ब्रह्मातिरिक्तविषहृद्ब्रह्ममात्रखण्डहम् ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं स्वाज्ञानपन्नगगरुडोपनिषत् निर्विशेष-
ब्रह्मज्ञानसाधनकळेवरप्राणपवनवियोगहेतुपन्नगादिनानाविषजातप्रशमननिपुणगरु-
डविद्याप्रकटनव्यग्रा परमार्थदृष्ट्या ब्रह्मातिरिक्तविषजातनिर्विषीकरणनिष्प्रतियोगिक-
ब्रह्ममात्रगरुडपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते ।
इयं विद्या ब्रह्मादिभरद्वाजान्तपारंपर्येणागतेति सूक्तिः विद्यास्तुत्यर्था । तत्परंप-
रामनुक्रामति—ओमिति । ओङ्कारलक्ष्यार्थनिष्पन्नं परं ब्रह्म स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे
सत्यसति निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमवशिष्यत इत्यत्र न हि संशयोऽस्ति ।
ओङ्कारवाच्यार्थनिष्पन्नं अपरं ब्रह्म “सुपणोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत्ते

शिरः” इति वक्ष्यमाणश्रुतिसिद्धं वैराजतत्त्वमित्यर्थः । तादृशापरब्रह्मगोचरां गारुडाख्यापरब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामीति श्रुतेर्वचः । सेयं विद्या कीदृशी ? इत्यत्र यां इह गारुडापरब्रह्मविद्यां ब्रह्मा नारदाय प्रोवाच इत्यादिपरंपरागतां विद्यां भरद्वाजो मुनिः, “देहे नष्टे क्रतो बुद्धिः बुद्धिनाशे कुतो ज्ञता” इति स्मृत्यनुरोधेन निर्विशेषब्रह्मज्ञानोपयोगितया जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत् इति । अपरब्रह्मविद्यायाः परब्रह्माभ्युपायत्वे “शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति” इति श्रुतेः ॥ १ ॥

गारुडविद्यायाः ऋष्यादि

अस्याः ^१श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । श्रीभगवान् महागरुडो देवता । श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थं मम सकलविषविनाशनार्थं जपे विनियोगः ॥ २ ॥

ॐ नमो भगवते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा । पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट् । श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम् । त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । उग्रभयंकरकालानलरूपाय करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ॥ एवं हृदया-दिन्यासः ॥ ३ ॥

भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः ॥ ४ ॥

ध्यानम्—

^२स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम् ।

प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुडं हरिवल्लभम् ॥

अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः ।
 तक्षकः कटिसूत्रं तु हारः कार्कोट उच्यते ॥
 पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु वामके ।
 शङ्खः शिरःप्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे ॥
 पाण्डुकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम् ।
 एलापुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदाऽन्वितम् ॥
 कपिलाक्षं गरुत्मन्तं सुवर्णसदृशप्रभम् ।
 दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नागाभरणभूषितम् ॥
 आजानुतः सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम् ।
 कुङ्कुमारुणमा^१कन्धं शतचन्द्रनिभाननम् ॥
 नीलाग्रनासिकावक्त्रं सुमहच्चारुकुण्डलम् ।
 दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम् ॥
 कुङ्कुमारुणसर्वा^२ङ्गं कुन्देन्दुधवला^३ननम् ।
 विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम ॥
 एवं ध्यायेत्तिसंघ्यासु गरुडं नागभूषणम् ।
 विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः ॥ ९ ॥

गारुडापरब्रह्मविद्यायाः ऋषिलन्दोदेवताऽऽदिकमाह—अस्या इति ॥२-४॥
 हरिवल्लभं हरिव वल्लभः स्वामी यस्य तं हरिवल्लभम् । अधिकारिभावानुरोधेन
 सपदिः स्वातिरिक्तस्य च विषं नाशयते ॥ ९ ॥

^१ कन्धं—अ २, स्कन्धं—अ, अ १.

^२ ङ्कु—अ १, उ, क.

^३ नन—अ १, उ, क.

गरुडमालामन्त्रादि

१ओमीमों नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णु-
वल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय
वज्रतुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्रपक्षालक्षितशरीराय
ओमीमेह्येहि श्रीमहागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं
दूषय दूषय स्पृष्टानां विषं नाशय नाशय दन्दशूकानां विषं दारय
दारय प्रलीनं विषं प्रणाशय प्रणाशय सर्वविषं नाशय नाशय हन
हन दह दह पच पच भस्मीकुरु भस्मीकुरु हुं फट् स्वाहा ॥ ६ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक । पृथ्वीमण्डलमुद्राङ्ग
श्रीमहागरुड विषं हर हर हुं फट् स्वाहा ॥ ७ ॥

ॐ क्षिप स्वाहा ॥ ८ ॥

ओमीं स चरति स चरति २तत्कारि मत्कारि विषाणां च
विषरूपिणी विषदूषिणी विष^३शोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं
विषं नष्टं विषमन्तः प्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषं
हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ ९ ॥

ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरि-
पूजिताय वज्रनखवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालंकृतशरीराय एह्येहि महागरुड
विषं छिन्धि छिन्धि आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा ॥ १० ॥

१ ओं रं ओं—अ १. ओं रां ओं—क.

२ तत्कारी मत्कारी—मु. (एवमुत्तरत्र).

३ शोषिणी—अ २, उ. (एवमुत्तरत्र).

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम
आत्मा साम ते तनूर्वामदेव्यं बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञियं पुच्छं
छन्दांस्यङ्गानि धिष्णिष्याः शफा यजूंषि नाम । सुपर्णोऽसि गरुत्मान्
दिवं गच्छ सुवः पत ॥ ११ ॥

ओमीं ब्रह्मविद्याममावा^१स्यायां पुरोवाच स चरति स चरति
तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विप^२दूषिणी विषहारिणी हतं विषं
नष्टं विषं प्रणष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा
विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ १२ ॥

^३तत्त्वयम् । यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वाऽनन्तकः स्वयं स
चरति स चरति तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं
नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ १३ ॥

यदि वासुकिदूतोऽसि यदि वा वासुकिः स्वयं स चरति स
चरति तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं
हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ १४ ॥

यदि तक्षकदूतोऽसि यदि वा तक्षकः स्वयं स चरति स चरति
तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं

^१ स्यां—अ १, अ २, क.

^२ दूषिणी—उ. (एवमुत्तरत्र).

^३ 'तत्' इति (उ) कोशे नास्ति.

हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ १५ ॥

यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं स चरति
स चरति तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं
विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ १६ ॥

यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं स चरति स चरति
तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं
हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ १७ ॥

यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं स चरति
स चरति तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं
विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ १८ ॥

यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं स चरति स चरति
तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं
नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य
वज्रेण स्वाहा ॥ १९ ॥

यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं स चरति स चरति
तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं

नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य
वज्रेण स्वाहा ॥ २० ॥

यदि पौण्ड्रकालिकदूतोसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं
स चरति स चरति तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी विष-
हारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा
विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २१ ॥

यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं स चरति स चरति
तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं
नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य
वज्रेण स्वाहा ॥ २२ ॥

यदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि
स्थावरजङ्गमानां स चरति स चरति तत्कारि मत्कारि विषनाशिनी
विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण
विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥ २३ ॥

अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मकमहापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्र-
कालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां
विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां
विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां
गृहगोधिकानां घणासानां गृहगिरिगृहकालानलवल्मीकोद्भूतानां

^१ अयं (२२) पर्यायः मुद्रितकोश एव दृश्यते.

तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटररतानां मूलत्वग्दारुनिर्यासपत्रपुष्प-
फलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जारजम्बूकव्याघ्रवराहाणां जरायु-
जाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानां शस्त्रबाणक्षतस्फोटव्रणमहाव्रणकृतानां कृत्रि-
माणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां
विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी
विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं
विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रणष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण
स्वाहा ॥ २४ ॥

गरुडमालामन्त्रमूलमन्त्रादिकमाह—ओमिति ॥ ६ ॥ वर्णतः
चन्द्रमण्डलसंकाश । विराडात्मना यस्य मुष्टौ सूर्यमण्डलं विद्यते तस्य सम्बुद्धिः
सूर्यमण्डलमुष्टिक ॥ ७-१० ॥ छन्दोमयाङ्गविराडादिरूपेण गरुडं स्तौति
सुपर्णोऽसीति । गरं नानाविषजातं उन्मूल्य आत्मसात्करोतीति गरुत्मान्
गरुत्मन् सुष्टु शोभनौ पर्णौ पक्षौ यस्य स त्वं सुपर्णोऽसि विराडादिभावमा-
पन्नस्य ते तव त्रिवृत् स्तोत्रीयानवकं शिरो भवति । गायत्रं सामैव ते चक्षुः
भवति । तव आत्मा मध्यशरीरं अवशिष्टस्तोमसहस्रं भवति । वामदेव्यं साम
ते तनूः भवति । बृहच्च रथन्तरं च बृहद्रथन्तरे सामनी ते पक्षौ भवतः ।
ते पुच्छं यज्ञायज्ञियं साम भवति । नानाछन्दांसि तव अङ्गानि भवन्ति । तव
विश्रमणहेतुधिष्णिग्या अपि छन्दांस्येव भवन्तीत्यर्थः । तव शफाः खुरा यजूषि
ऋचश्च भवन्ति । अनुक्ताङ्गमथर्वणवेदो भवतीति वेदितव्यम् । यतस्त्वं गरुत्मान्
सुपर्णोऽसि अतः त्वं दिवं गच्छ सुवः पत इति सुवर्ग्रहणं चतुर्दशभुवनस्यो-
पलक्षणार्थं, विराट्सूत्रेश्वरात्मना सर्वव्यापको भवेत्यर्थः । सुपर्णगतविशेषांशापाये
सुपर्णस्य निर्विशेषब्रह्मरूपत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ११-१२ ॥ तत् स्त्र्यं
विषहरबीजम् ॥ १३-२३ ॥ किं बहुना—अनन्तेति ॥ २४ ॥

य इमां ब्रह्मविद्याममावा^१स्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं
 न हिंसन्ति सर्पाः । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत् ।
 शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत् । सहस्रं ब्राह्मणान्
 ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत् । सर्पान् जले न मुञ्चन्ति । तृणे न
 मुञ्चन्ति । काष्ठान् मुञ्चन्तीत्याह भगवान् ब्रह्मेत्युपनिषत् ॥ २९ ॥

एवं अपरब्रह्मविद्यया सर्पादिविषतो भीतिमुत्सृज्य निर्विशेषब्रह्मज्ञानसाध-
 नानुष्ठाननिष्पन्नब्रह्मविद्याप्रादुर्भावसमकालं विद्वान् ब्रह्मातिरिक्तसामान्यविषप्रा-
 सनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रामृतरूपेण अवशिष्यत इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः
 गरुडोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 गरुडोपनिषद्ब्रह्माख्या लिखितेश्वरगोचरा ।
 गरुडोपनिषद्ब्रह्माख्याग्रन्थोऽशीतिरितीरितः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे द्रव्यधिकशतसङ्ख्यापूरकं
 गरुडोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

^१ स्यां—अ १, अ २५क, उ.

गोपालतापिन्युपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः ।

गोपालपूर्वतापिनी

प्रथमोपनिषत्

मङ्गलाचरणम्

सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्ट¹कारिणे ।

नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १ ॥

श्रीमत्पञ्चपदागारं सविशेषतयोज्ज्वलम् ।

प्रतियोगिविनिर्मुक्तं निर्विशेषं हरिं भजे ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं गोपालतापिन्युपनिषत् सविशेषब्रह्मसा-
प्राज्यप्रकटनव्यग्रा निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः
स्वल्पप्रन्थतो विवरणमारभ्यते । मौनिमण्डलब्रह्मणोः गोपीमण्डलदुर्वाससोः
ब्रह्मनारायणयोश्च प्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । विद्याऽऽदौ
मङ्गलं कुर्वन्त्याख्यायिकामवतारयति—सच्चिदानन्देति । अनृतजडदुःख-
प्रपञ्चप्रासः सच्चिदानन्दः । स एव कृषिशब्दवाच्यस्वातिरिक्तप्रपञ्चजातं

¹ कर्मणे—अ.

मुष्णाति स्वावशेषतया प्रसतीति कृष्णः । स्वभक्तजनं आ[अ]च्छिष्टं
 आविद्यकदुःखविरलं करोतीति आ[अ]च्छिष्टकारी । वेदान्ता उपनिषदः
 तत्प्रमाणसिद्धत्वात् वेदान्तवेद्यः । सर्वप्राणिहितोपदेष्टृत्वात् गुरुः । बुद्धिवृत्ति-
 सहस्रभावाभावेक्षितृत्वात् सर्वप्रत्यगात्मतया बुद्धिसाक्षी । तस्मै उक्तविशेषण-
 विशिष्टाय कृष्णाय नमः । नमःशब्दः कृष्णात्मनोरभेदद्योतकः, “ नमस्त्वैक्यं
 प्रवदेत् ” इति श्रुतेः ॥ १ ॥

गोपालकृष्णस्य परमदेवत्वम्

ॐ मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः—कः परमो देवः । कुतो
 मृत्युर्बिभेति । कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति । केनेदं विश्वं
 संसरतीति ॥ २ ॥

तदु होवाच ब्राह्मणः—कृष्णो वै परमं दैवतम् । गोविन्दा-
 न्मृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति । स्वाहेदं विश्वं
 संसरतीति ॥ ३ ॥

एवं प्रत्यग्रहैक्यलक्षणं मङ्गलं कृत्वा आख्यायिकां गोपालब्रह्मविद्या-
 मवतारयति—ओमिति । ओं ओङ्कारार्थं ब्रह्म तदतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति इति
 मननशीलाः मुनयः नारदादयः विदितब्रह्मतत्त्वा अपि स्वाज्ञलोकोद्धारणं कर्तव्यमिति
 मनीषया ब्राह्मणं ब्रह्माणं प्रत्येवमूचुः । किमिति ? कः परमो देव इति ॥ २ ॥
 नारदादिमुनिभिः एवं पृष्ठो ब्रह्मा गोपालमन्त्रराजविद्यया उत्तरमाचष्टे—
 तदु होवाच ब्राह्मण इति । किमिति ? कृष्ण इति । स्वभक्तपटलखातिरिक्तास्ति-
 त्वविभ्रमकर्षणात् कृष्णो वै प्रसिद्धः परमं दैवतं, “ तं देवतानां परमं च
 दैवतं ” इति श्रुतेः । ‘कः परमो देवः’ इति प्रश्नमपाकृत्य ‘कुतो मृत्युः
 बिभेति’ इति प्रश्नमपाकरोति—गोविन्दादिति । गोभिः गीर्भिः तत्त्वमस्यादि-
 महावाक्यततिभिः स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातासंभवप्रबोधसिद्धं ब्रह्म निष्प्रति-

योगिकस्वमात्रमिति विन्दते उपलभ्यते इति गोविन्दः तस्मात् गोविन्दात्
स्वासक्तं मृतिं नयतीति मृत्युः स्वातिरिक्तास्तित्वविभ्रमः विभेति । गोविन्दस्य
निष्प्रतियोगिकाद्वितीयत्वं मृत्योः भीहेतुरित्यर्थः, “भीषाऽरुम्भद्वातः पवते”
इत्यादिश्रुतेः । कस्य विज्ञानेन अखिलं विज्ञातं भवतीति प्रश्नोत्तरमाह—गोपीति ।
स्वातिरिक्तास्तित्वविभ्रमं नामरूपाभ्यां गोपायतीति गोपी, यद्वा—स्वमात्रं ब्रह्म गो-
पायति आवृणोतीति गोपी माया । तद्विद्यांऽशतो जनित्वा तद्विद्यांऽशतो नश्यतीति
स्वातिरिक्तास्तित्वविभ्रमरूढमूलस्वातिरिक्तप्रपञ्चो गोपीजन इत्युच्यते । तद्वावा-
भावावभासकप्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना तल्लयाधिकरणतया भातीति गोपीजनवल्लभः
परमात्मा स्वाधिष्ठेयप्रपञ्चविलयसापेक्षप्रसक्ताधिष्ठानत्वासंभवप्रबोधसिद्धो निष्प्रति-
योगिकस्वमात्रमिति तज्ज्ञानेन एतत् सर्वमाविद्यकं जगन्निष्प्रतियोगिकाभावरूपतया
विज्ञातं भवति, निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्टं भवतीत्यर्थः । केनेदं विश्वं
संसरतीति प्रश्नोत्तरं तु—

या च प्रागात्मनो मे मा तथाऽन्ते च तिरस्कृता ।

ब्रह्मवादिभिरुद्धीता सा मायेति विवेकतः ॥

इति श्रुतिः निष्प्रतियोगिकभावरूपब्रह्ममात्रातिरेकेण कालत्रयेऽपि नास्त्येवेति यां
सुष्ट्वाह सेयं स्वाहा माया तथा इदं विश्वं जीवजातं संसरति संसारवत्
भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

गोपालकृष्णस्वरूपनिरूपणम्

तद्बु होचुः—कः कृष्णः । गोविन्दश्च कोऽसाविति । गोपी-
जनवल्लभश्च कः । का स्वाहेति ॥ ४ ॥

तानुवाच ब्राह्मणः—पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजन-
विद्याकला^१पीप्रेरकः । तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत् । यो
ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति ॥ ५ ॥

^१ पिप्रे—अ १, क. भिप्रे—अ.

एवं ब्रह्मोक्तार्थं निशम्य विशेषार्थबुभुत्सया मुनयः पृच्छन्तीत्याह—तद्दु
 होचुरिति । तच्च तदुक्तार्थं उ ह पूर्ववत् ऊचुः । किमिति ? कः कृष्ण इति ॥ ४ ॥
 एवं मुनिभिः पृष्ठः तानुवाच ब्राह्मणः । किमिति ? पापकर्षणः इति ।
 सच्चिदानन्दात्मना अनृतजडदुःखात्मकपापकर्षणात् पापकर्षणः कृष्णशब्दार्थः ।
 गोविन्दशब्दार्थस्तु गोभूमिवेदविदित इति । गोभिः वेदैः विदितत्वात् गोविन्द
 इत्यर्थः । गोपीजनवल्लभशब्दार्थमाह—गोपीति । गोपायन्तीति गोप्यः पालन-
 शक्त्यः तासां जनः समूहः । स्वातिरिक्तविद्याऽविद्याकलाजातं पिबति प्रसतीति
 शोपीजनविद्याकलापी, विद्याकलापः अस्यास्तीति वा, प्रेरकः सर्वान्तर्यामित्वात् ।
 स्वाहास्वरूपमाह—तन्माया चेति । तथा हि स्वाज्ञलोकः संसरति । कल्या
 सहितं सकलं शबळमीश्वराख्यं वस्तु स्वगतविशेषांशापाये परं ब्रह्मैव तत् ।
 तद्भयानांदिफलमाह—यो ध्यायतीति ॥ ५ ॥

गोपालकृष्णरूपविशेषध्यानम्

ते होचुः—किं तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्भजनं तत्सर्वं
 विविदिषतामाख्याहीति ॥ ६ ॥

तद्दु होवाच हैरण्यो गोपवेपमभ्राभं कल्पद्रुमाश्रितम् ॥ ७ ॥

तदिह श्लोका भवन्ति—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।

द्विभुजं ज्ञानमुद्राऽऽख्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥ ८ ॥

गोपगीपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रयम् ।

दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥ ९ ॥

कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम् ।

^१चिन्तयन् चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥ १० ॥ इति ॥

^१ चिन्तयेत् चे—अ. १

ध्यानादिबुभुत्सया पुनस्ते पृच्छन्तीत्याह—ते होचुरिति ॥ ६ ॥ तत्र ध्येयस्वरूपमाह—तदु होवाचेति । तत् तत्र प्रश्नत्रये हिरण्यगर्भस्य विष्णोरपत्यं हिरण्यो ब्रह्मा ध्येयस्वरूपं उवाचेत्यर्थः । वेषमात्रेण गोपी न कृत्यत् इति गोपवेषं, अपो विभर्तीत्यन्नः समुद्रः तद्वदाभा यस्येति अन्नाभं समुद्रवत् गंभीरमित्यर्थः । कल्पद्रुमाश्रितं स्वे[सर्वे] प्सितार्थदवेदान्तवेद्यच[श]रणत्वात्, स्वस्य कर्माध्यक्षत्वेन भक्तस्येप्सितार्थ[द]त्वादित्यत्र—“सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः” इति श्रुतेः, “फलमत उपपत्तेः” इति न्यायात्, “लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्” इति स्मृतेश्च ॥ ७ ॥ ब्राह्मणोक्तार्थं मन्वा अप्यनुवदन्तीत्याह—तदिहेति ॥ ८ ॥ गोपायतीति गोपो जीवः, गोपी माया, गावो वेदाश्च, तैः आवीतं आश्रितम् ॥ ९ ॥ इतिशब्दो ध्यानसमाप्त्यर्थः ॥ १० ॥

गोपालकृष्णमन्त्रजपः

तस्य पुना रसनमिति—जलभूमिन्दु^१संपातकामादिकृष्णायेत्येकं पदम् । गोविन्दायेति द्वितीयम् । गोपीजनेति तृतीयम् । वल्लभायेति तुरीयम् । स्वाहेति पञ्चममिति ॥ ११ ॥ पञ्चपदं जपन् पञ्चाङ्गं द्यावाभूमिसूर्याचन्द्रम^२साग्निस्तद्रूपतया ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति ॥ १२ ॥

तदेष श्लोकः—क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभायेति^३बृहन् भानव्यासकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गतिः स्यादिति ॥ १३ ॥

द्वितीयप्रश्नार्थमाह—तस्येति । तस्य कृष्णाख्यब्रह्मणः रसनं पञ्चपदजपनमिति । जलं ककारः भूमिः लकारः ईकारः इन्दुः अनुस्वारः तं संपातरूपं

^१ संपातार्थं कृ—अ.

^२ सामितद्रू—अ १, अ २, क.

^३ ब्रह्मन्—अ, अ २, क, उ १.

कामबीजं “ह्रीं” इति बीजेन साकं कृष्णाय इत्यादि पञ्चपदं भवति ॥ ११ ॥
 मन्त्रजपात्मकोत्तरसनस्य फलमाह—पञ्चपदमिति । पञ्चपदं जपन् मुमुक्षुः
 द्यावाभूम्यादिपञ्चाङ्गविशिष्टं वैराजरूपं तद्रूपतया संपद्यते । आवृत्तिः प्रथमो-
 पनिषत्समाप्त्यर्था ॥ १२ ॥ उत्तरसने मन्त्रसंवादमाह—तदेष श्लोक इति ।
 “ह्रीं” इत्येतत् आदावादाय ततः कृष्णायेत्यादिपदचतुष्टयं, स्वाहेत्यर्थे हृहन्
 भानव्य इति, आहव्य पञ्चपदं यः [अ]सकृदुच्चरेत् तस्य मङ्गु शीघ्रं
 पूञ्चाङ्गब्रह्मरूपा गतिः भवतीति सामान्यफलमेतत् । मन्त्रोक्तार्थानुसन्धानपूर्वकं
 जपतः निर्विशेषब्रह्मभावापत्तिः मुख्यफलम् । न कदाऽपि अन्या गतिः तस्य
 स्यात् । इतिशब्दो रसनसमाप्त्यर्थः ॥ १३ ॥

गोपालकृष्णभजनम्

भक्तिरस्य भजनम् । तदिहामुत्रोपाधिनैराशयेनामुष्मिन् मनः-

^१कल्पनम् । एतदेव च नैष्कर्म्यम् ॥ १४ ॥

कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधाऽऽराधयन्ति ।

गोपीजनवल्लभो भुवनानि दधे स्वाहाश्रितो ^२जगदैजत्सुरेताः ॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव ।

कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ

पञ्चपदो विभाति ॥ इति ॥ १६ ॥

किमाहो तद्भजनं इति प्रश्नोत्तरमाह—भक्तिरस्येति । दासोऽहं सोऽहं
 इति वा अनन्यभावापन्नेयं भक्तिः, “स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते”
 इति स्मृतेः । भजनसाधनमाह—तदिति । एवं भजनमेव नैष्कर्म्यं ज्ञान-
 मित्यर्थः ॥ १४ ॥ भजनोपायमाह—कृष्णमिति । यः सर्वात्मतया प्रसिद्धः तं

^१ कल्पितम्—अ २.

^२ जगदेतत्—अ, अ १, मु.*

कृष्णं विपश्चितो विप्राः बहुधा द्रव्ययज्ञादिज्ञानयज्ञान्तैः यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधा श्रवणादिभिः आराधयन्ति महामण्डूकादिकूर्मादिशेषात्मना । ऋषीजनवल्लभो भुवनानि दधे । यद्वा—सर्वारोपाधिकरणविश्वविराडोत्राद्यात्मना भुवनोपलक्षिता-विद्यापदतत्कार्यानन्तकोटिब्रह्माण्डानि दधे धृतवानित्यर्थः । किञ्च—स्वाहेति । स्वाहाशब्दवाच्यमायाश्रितः सन् जगत् स्वाविद्यापदं ऐजत् अचालयूत् सृष्टिकाले मायायां सुष्ठु रेतोबीजं यस्य सोऽयं सुरेताः, “ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ”, “ रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ”, “ मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् भर्गं दधाम्यहम् ” इति श्रुतेः, स्मृतेश्च ॥ १५ ॥ स्वभक्तभजनाय भगवान् पञ्चपदात्मना भवतीति सदृष्टान्तमाह—वायुरिति । यथा मुख्यप्राणात्मको वायुरेकोऽपि भुवनं अविद्यापदप्रविभक्तब्रह्माण्डपटलं प्रविष्टः सन् जन्येजन्ये प्रतिशरीरं प्राणापानादि-भेदेन पञ्चरूपो बभूव तथैवैकोऽप्यसौ कृष्णो जगद्विद्यार्थं गोपालविद्याऽऽ-त्मकशब्देन पञ्च पदानि यस्य पञ्चपदो विविधं भाक्ति प्रकाशते । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ॥ १६ ॥

द्वितीयोपनिषत्

गोविन्दपूजाप्रकारः

ते होचुः—उपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिला-धारिणो ब्रूहीति ॥ १७ ॥

तानुवाच—यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिका^१नलास्रयुगं तदन्तरालाद्यर्णाखिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाढ्यं सन्नह्माणमादायानङ्गायत्रीं यथावद्व्या^२खिल्या भूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वाऽङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादि^३स्वशक्तीन्द्रादिवसुदेवादिपार्थादिनि -

^१ लया—अ, अ १.

^२ नलकास्र—अ २, क, उ, मु. नलकास्र—अ.

^३ खिल्य भू—अ २, क.

^४ स्वशक्तिं नन्दादि—अ, अ १, अ २, क, उ.

ध्यावीतं यजेत् सन्ध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारैः । तेनास्याखिलं
भवत्यखिलं भवतीति ॥ १८ ॥

तदिह श्लोका भवन्ति—

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति ।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ २० ॥
एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ते न ^१कामात् ।
तेषामसौ ^२गोपरूपः प्रयत्नात् प्रकाशयेदात्मपदं तदेव ॥ २१ ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो ^३विद्यास्तस्मै गोपायति स्म कृष्णः ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं व्रजेत् ॥ २२ ॥
ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम् ।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥ २३ ॥
^४एतस्मादेव ^५पञ्चपदादभूवन् गोविन्दस्य मनवो मानवानाम् ।
दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत् ॥

“गोविन्दं सन्तं बहुधाऽऽराधयन्ति” इत्युक्तं, तत्प्रकारं पृच्छन्तीत्याह
—त इति ॥ १७ ॥ एवं नारदादिमुनिभिः पृष्टः तत्पूजापीठं प्रकटयति—
तानुवाचेति । तान् प्रति ब्रह्मा उवाच । किमिति ? यत्तस्य गृहे क्षालितं पीठं

^१ कामान्—अ २.

^३ विद्यां त—अ, अ २, क.

^५ पञ्चपदा अ—अ. †

^२ गोपरूपोप—अ, अ २, क.

^४ एतस्मा एव—अ, अ १, क.

स्थापयित्वा हेरण्याष्टपलाशं सौवर्णाष्टदळं अम्बुर्जं स्थापयेत् सुगन्धघन्दनेन लिखेत् । तदन्तराळिके तस्य कमलस्यान्तराळिके अन्तराळप्रदेशे अनलास्युर्गं त्रिकोणद्वयं संपुटितं षट्कोणं लिखेदित्यर्थः । तदन्तराळाद्यर्गेति तस्य षट्कोणस्य अन्तराळमध्ये कामबीजं साधकनाम च लिखेदिति शेषः । तदुक्तं सनत्कुमार-संहितायां—

कर्णिकायां लिखेद्बहिर्हि पुटितं मङ्गळद्वयम् ।

तन्मध्ये विलिखेत् बीजं साध्याख्यं कर्म[काम]संयुतम् ॥ इति ॥

कृष्णाय नम इति बीजेन कामबीजेन च आढ्यं षडश्रसन्धिषु षडक्षरं लिखेत्, “षडश्रसन्धिषु” इति क्रमदीपिकोक्तेः । सब्रह्माणमिति—पूर्वलिखितकर्णिकास्थमनङ्गबीजं सब्रह्माणं षट्कोणस्य पूर्वनैऋत्यवायव्यकोणेषु “श्रीं” इति बीजमष्टादशाक्षरमन्त्रोपेतं आदायेत्यर्थः । मन्त्रद्रष्टोरभेदात् मन्त्रो ब्रह्मा । तदुक्तं संहितायां “ततः शिष्टार्णैः सकामं वेष्टयेत् विधिरिति षट्कोणस्य पूर्वनैऋत्यवायव्यकोणेषु श्रीं इति बीजं लिखेत् आग्नेयपश्चिमेशानकोणेषु हीं इति बीजम्” लिखेदिति शेषः, “श्रियं षट्कोणेषु इन्द्रनिर्ऋतिवायुषु । आलिय्य विलिखेन्मायां वह्निवारुणशूलिषु” इति संहितोक्तेः । अनङ्गायत्रीमिति अष्टदळकेसरेषु दळं प्रति वर्णत्रयं विलिखेत् । अनङ्गायत्री तु—“कामदेवाय विद्महे पुष्पबाणाय धीमहि । तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्” इति । पुनस्तत्रैवाष्टदळेषु अष्टाचत्वारिंशदक्षरं काममालामन्त्रं प्रतिदळं षट्षडक्षरं क्रमेण विलिखेत् । मालामन्त्रस्तु “नमः कामदेवाय सर्वजनप्रियाय सर्वजनसंमोहनाय ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल सर्वजनस्य हृदयं मे वशं कुरु स्वाहा” इति । अष्टदळोपरि वृत्तं कृत्वा मातृकाऽक्षरैः वेष्टयेत् । तथा च संहितायां—

अक्षरैः कामगायत्र्या वेष्टयेत् केसरे सुधीः ।

काममालामनोर्वर्णैः दळेष्वष्टसु मन्त्रवित् ।

लिखेत् गुहाननैर्भुक्तिः मातृकां तद्बहिर्लिखेत् ॥

इति । आभूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वेति, “ भृगृहं चतुरश्रं स्यादष्टवज्रयुतं मुने ”
इति संहितोक्तेः । अस्य धारणायन्त्रत्वात् साध्यादिलेखनमप्यादावसूचयत् ।
अत एव धारणाविधानं तत्फलं च संहितायामुक्तम्—

हुत्वा सहस्रमाज्येन यन्त्रे सम्पातपूर्वकम् ।
मूर्जयित्वाऽयुतं जत्वा धारयेद्यन्त्रमुत्तमम् ।
त्रैलोक्यैश्वर्यमामोति देवैरपि सुपूजितः ॥

इत्यादि । यदा तु पूजाऽर्थं यन्त्रं क्रियते तदा तु पूर्वं मण्टपादिपृथिव्यन्तं पूजयेत् ।
कार्णिकोपरि—

अग्न्यादिपीठपादेषु धर्मादींश्चतुरो यजेत् ।
चतुर्षु पीठगात्रेषु धर्मादींश्चतुरो यजेत् ॥
कार्णिकायां ततोऽनन्तं पद्मान्ते च ततो यजेत् ।
तारवर्णप्रभिन्नानि मण्डलानि क्रमात्ततः ॥
सत्त्वं रजस्तम इति यजेदात्मचतुष्टयम् ।
आत्माऽन्तरात्मा परमात्मा ज्ञानात्मेति ते क्रमात् ॥
विमलोत्कर्षिणी ज्ञानक्रियायोगेति पञ्चमी ।
प्रह्वी सत्या तथेशानाऽनुग्रहा नवमी स्मृता ॥
प्रागाद्यष्टसु पत्रेषु कार्णिकायां यजेन्मुने ॥

ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगपीठात्मने नम
इति पीठमन्त्रं पद्मस्योपरि विन्यस्य—

ततः पीठं समभ्यर्च्य देवमावाह्य नारद ।
अर्घ्यादिधूपदीपादीन् उपचारान् प्रकल्पयेत् ॥ इति ॥

अथावरणपूजां कुर्यात् । तत्र प्रथमावृतिस्तु—अग्नीशासुरवायव्यपुरःपृष्ठेषु क्वां
हृदयाय नम इत्यादिषडङ्गानि पूजयेत् । एवमङ्गावरणं संपूज्य द्वितीयावरणं
संपूजयेत् । अष्टपत्रेषु पूर्वाङ्गिचतुर्दिक्षु वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धान् पूजयेत् ।

आग्नेयादिचतुर्विदिक्षु शान्तिश्रीसरस्वतीरतीः पूजयेत् । तृतीयावृत्तिस्तु अष्टदले
 पूर्वादिक्रमेण रुक्मिण्यादिस्वशक्तीः पूजयेत् । रुक्मिणी सत्यभामा जाम्बवती
 नाम्नजिती मित्रविन्दा काळिन्दी लक्ष्मणा सुशीला चेति श्रीकृष्णशक्तयः ।
 चतुर्थपञ्चमाद्यावरणमाह—इन्द्रादिवसुदेवादिपार्थादीति । अत्र वसुदेवाद्यावरण-
 मेव चतुर्थं बोध्यम् । पूर्वदले ॐ पीतवर्णाय वसुदेवाय नमः, आग्नेयदले
 यशोदायै कनकाभायै, दक्षिणदले नन्दाय कर्पूरगौरवर्णाय, नैर्ऋतदले राधायै
 कुङ्कुमगौरवर्णायै, पश्चिमदले देवाय शङ्खकुन्दधवळाय, वायव्यदले कलापश्यामायै
 सुभद्रायै, उत्तरदले गोपेभ्यः, ईशानदले गोपीभ्यः । पञ्चमपार्थाद्यावृत्तिस्तु—
 अर्जुनदारुक्विष्वक्सेनसात्यकिगरुडनारदपर्वतान् पूजयेत् । षष्ठनिध्याद्या-
 वृत्तिस्तु—पूर्वादिक्रमेण इन्द्रनिधये नीलनिधये मुकुन्दनिधये मकरनिधये पश्चिमे
 अनन्तनिधये कृच्छ्रनिधये विद्यानिधये ईशाने पद्मपरमानन्दमोक्षनिधये नमः ।
 सप्तमेन्द्रावृत्तिस्तु—पूर्वादिक्रमेण इन्द्राद्यष्टदिकपालकेभ्यो नमः, पूर्वेशानमध्ये
 ब्रह्मणे, निर्ऋतिपश्चिममध्ये आदिशेषाय । अष्टमवज्राद्यावृत्तिस्तु—पूर्वादिक्रमेण
 वज्राद्यायुधेभ्यः । एतैरङ्गावरणादिवज्रावरणान्तैः आवीतं भगवन्तं यजेत् ।
 एवं देवं त्रिसन्ध्यासु षोडशोपचारैः पूजयेत् । तेन आराधनेन अस्य
 पुरुषार्थचतुष्टयं अखिलं भवति । आवृत्तिः द्वितीयोपनिषत्समाप्त्यर्था ॥ १८ ॥
 उक्तोपासनानुकूलमन्त्रा अपि भवन्तीत्याह—तदिह श्लोका भवन्तीति । यस्य
 वशे निखिलं वर्तते स वशी । शिष्टं कठवल्ल्यां व्याख्यातम् ॥ १९-२० ॥
 पूर्ववन्मन्त्रान्तरमाह—एतदिति । ये साधकाः एतद्विष्णोः यन्त्रात्मकं परमं
 पदं नित्योद्युक्ताः सन्ततश्रद्धाभक्तिविशिष्टाः सन्तस्तं यजन्ते निष्कामधिया
 सम्यगाराधयन्ति न तु तस्मात् कामान् कामान् कामयन्ते तेषामसौ गोपुरुषो
 हरिः स्वस्वरूपं प्रकाशयेदित्यर्थः ॥ २१ ॥ स्वात्मपदप्रदर्शनतः किं स्यादित्यत्र
 तद्भावापत्तिः स्यादित्याह—य इति । यः कृष्णः पूर्वं सृष्टिसमये ब्रह्माणं विदधाति
 यस्तस्मै वेदान् धारयति यः प्रळये विद्या वेदान् पयोधौ मत्स्याद्यवतारेण
 गोपायति पुनस्तस्मा उपदिशति तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं प्रत्यञ्चं मुसुक्षुः
 शरणं ब्रजेत् । तच्छरणतः स एव तं मोचयतीत्यत्र—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इति भगवद्वाक्यं मानम् ॥ २२ ॥ प्रकृतपञ्चपदस्य प्रणवयोगतो रसनफलमाह—
ओमिति । गोविन्दस्य पञ्चपदं ओङ्कारेणान्तरितं संपुटितं कृत्वा ये जपन्ति
तेषां असौ भगवान् स्वात्मरूपं दर्शयेत् । यस्मादेवं तस्मात् मुमुक्षुः
नित्यशान्त्यै गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं नित्यमभ्यसेत् जपेदित्यर्थः ॥ २३ ॥
एतस्मात् अन्ये मन्त्राः बभूवुरित्याह—एतस्मादिति । एतस्मात् गोविन्दस्य
पञ्चपदमन्त्रात् अन्ये दशाक्षराद्या मनवो मानवानां सनकादीनां स्फुरिता
बभूवुः । “संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः”
इति श्रुतिसिद्धसंक्रन्दनाद्यैः इन्द्रादिदेवैः भूतिकायैः यथावत् अभ्यस्यन्ते ।
ते मन्त्रा अपि कृष्णपदप्रापका एवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

तृतीयोपनिषत्

सृष्टिसाधनभूतोऽष्टादशार्णमन्त्रः

ते पप्रच्छुः । तदु होवाच—ब्रह्मसवनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः
परमेश्वरः परार्धान्ते सोऽबुध्यत । कोपदेष्टा मे पुरुषः पुरस्तादावि-
र्बभूव । ततः प्रणतो मयाऽनुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं सृष्टये
दत्त्वाऽन्तर्हितः । पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुर्भूतेष्वक्षरेषु विभज्य
भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयन् तदिह कादापो लात् पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दो-
रिन्दुस्तत्संपातात्तदर्क इति क्लींकारादसृजं कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्त-
रात् सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति तदुत्तरात् स्त्रीपुमादिभेदं
सकलमिदं सकलमिदमिदं ॥ २५ ॥

पुनर्मुनयः पञ्चपदस्वरूपमेव पृच्छन्ति—ते पप्रच्छुरिति । तैः पृष्ठः तद्
होवाच । परार्थान्ते रात्र्यन्ते । ब्रह्मणः सवनं सम्यं चरतो मे ध्यातः स्तुतः
परमेश्वरः परार्थान्ते रात्र्यन्ते स भगवान् अबुध्यत । कोऽयं मे म उपदेष्टा
पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव । एवमाविर्भूय किं कृतवानित्यत आह—तत इति ।
य एवं मत्पुरत आविर्बभूव स पुरुषः ततः तदनन्तरं मया अनुकूलेन हृदा
प्रणतः सन् मह्यं अष्टादशार्णं मन्त्रं स्वस्वरूपभूतं सृष्ट्यर्थं दत्त्वा अन्तर्हितोऽभव-
दित्यर्थः । ततः किं इत्यत आह—पुनरिति । पुनः विश्वं सिसृक्षतो मे
प्रादुर्भूतेष्वक्षरेषु भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयन् गोपवेषधरो भगवान् पुरस्तात्
प्रादुरभूत् । किं कुर्वन्नित्यत्र अष्टादशाक्षरेषु भविष्यज्जगत् प्रकाशयन् मनोगोचरं
कुर्वन् तत् तत्र जगद्रूपे प्रकाशिते सति इह अष्टादशाक्षरेषु कात् ककारात्
आपो जलं, लकारात् पृथिवी, ईत् ईकारात् अग्निः, बिन्दोः अनुस्वारात् इन्दुः
चन्द्रः, तेषां कादीनां संपातात् संश्लेषरूपात् ह्रींकारात् प्रसिद्धः अर्कः सूर्यः
इत्येतान् पञ्च असृजं, कृष्णायेति पदात् आकाशमसृजं, खाद्वायुरिति—खात्
चिदाकाशात् शब्दराशिः वेदः, गोविन्दायेति पदात् वायुरित्यसृजं, उत्तरात्
पदद्वयात्मकात् गोपीजनवल्लभायेति पदात् सुरभिः कामधेनुः विद्याः चतुर्दशेति
प्रादुरकार्षं, तदुत्तरात् स्वाहेति पदात् स्त्रीपुरुषस्त्रीवं च सकलं स्थावरजङ्गमं
प्रादुरकार्षम् । अभ्यासः तृतीयोपनिषत्समाप्त्यर्थः । इतिशब्दः पञ्चपदार्थ-
सृष्टिसमाप्त्यर्थः ॥ २९ ॥

चतुर्थोपनिषत्

स एव आत्मज्ञानसाधनभूतः

एतस्यैव यजने चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं ^१वेदेत्योकारा-

^२लिकं मनुमावर्तयेत् सङ्गरहितोऽभ्यानत् ॥ २६ ॥

^१ वेदयत्यो—अ, अ १, अ २, क.

^२ लीकं—अ, अ १.

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । .

दिवीव चक्षुराततम् ॥ २७ ॥

तस्मादेनं नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति ॥ २८ ॥

न केवलं सृष्टिसाधनभूतोऽयं मन्त्रः, किंतु महेश्वरस्य आत्मज्ञान-
प्रदोऽग्नीत्याह—एतस्येति । एतत्पञ्चपदयजनतो हि चन्द्रध्वजः चन्द्रमौलीश्वरः
विगळितत्वातिरिक्तमोहमात्मानं वेद बुबुधे इति कारणात् इदानीन्तनोऽपि
ओङ्काराळिकं प्रणवसंपुटितं अष्टादशाक्षरमनुं फलासङ्गरहितः सन् आवर्तयेत्
तेन चावर्तनेन अभि प्रत्यक्षं परमात्मानं आनत् आनयादित्यर्थः ॥ २६ ॥
तत्स्वरूपं विशदयति—तद्विष्णोरिति । यत्पदं सदा सूरयः स्वावशेषधिया
पश्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं व्याप्य सत्त्वे दिवीव
स्वे महिम्नि चक्षुः प्रकाशमात्रं आततं व्यापकं भवति ॥ २७ ॥ यस्मादेवं
तस्मात् विष्णुपदासिहेतोः अष्टादशाक्षरमन्त्रं नित्यमभ्यसेत् । आवृत्तिः
चतुर्थोपनिषत्समाप्त्यर्था ॥ २८ ॥

पञ्चमोपनिषत्

मन्त्रगतपञ्चपदेभ्यो जगत्सृष्टिः

तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भू द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेज-
श्चतुर्थपदाद्वायुश्चरमपदाद्योमेति वैष्णवं पञ्चव्याहृतिमयं मन्त्रं कृष्णा-
वभासकं कैवल्यस्य 'सृष्ट्यै सततमावर्तयेत् सततमावर्तयेदिति ॥ २९ ॥

तदत्र गाथाः—

यस्य प्रथमपादाद्भूः द्वितीयात् सलिलोद्भवः ।

तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्ब्रह्मवाहनः ॥ ३० ॥

पञ्चमाद्गम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत् ।

चन्द्रध्वजोऽगामद्विष्णोः परमं पदमव्ययम् ॥ ३१ ॥

ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।

यत्तत्पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥ ३२ ॥

अथ मन्त्रान्तरेण पञ्चपदेभ्यो जगत्सृष्टिं निरूपयति—तदाहुरिति । तत् तत्र अष्टादशाक्षरेषु एके मुनय आहुः । यस्य पञ्चपदात्मकमनोः पञ्चपदात् पञ्चभूतसृष्टिः स्यात् तं वैष्णवं पञ्चव्याहृत्यात्मकपञ्चपादमयं कृष्णावभासकं मन्त्रं कैवल्यस्य सृष्ट्यै सततमावर्तयेत् अभ्यसेत् । आवृत्तिः पञ्चमोपनिषत्समाप्त्यर्था ॥ २९ ॥ पूर्वोपनिषदुक्तसृष्टौ गाथाः श्लोकाः भवन्तीत्याह— तदत्र गाथा इति । इत्येते गाथा भवन्तीत्यर्थः ॥ ३०—३१ ॥ पञ्चपदस्य जगद्धेतुत्वान्मुक्तिदायकत्वात् वस्तुतो निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रपर्यवसन्नत्वाच्च पञ्चपदात्मकोऽयं मनुः वासुदेव एवेत्याह—तत् इति । यत्तत्पदत्वेन चिन्मात्रमिति प्रसिद्धं तदेव पञ्चपदं स हि तदर्थरूपो वासुदेवः परमात्मा तदतिरिक्तं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पञ्चपदात्मकगोविन्दस्तुतिः

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं बृन्दावनसुरभूरुहत-
लासीनं सततं समरुद्रणोऽहं परमया स्तुत्या स्तोष्यामि ॥ ३३ ॥

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे ।

विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३४ ॥

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे ।

कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३५ ॥

नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने ।
 नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥ ३६ ॥
 बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
 रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ३७ ॥
 कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने ।
 वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥ ३८ ॥
 वेणुनादविनोदाय गोपालायाहिमर्दिने ।
 कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥ ३९ ॥
 बल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने ।
 नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ ४० ॥
 नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च ।
 पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे ॥ ४१ ॥
 निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।
 अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ ४२ ॥
 प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर ।
 आधिव्याधिमुज्ज्वेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥ ४३ ॥
 श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ।
 संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥ ४४ ॥
 केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन ।
 गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥ ४५ ॥

अतः पञ्चपदात्मकं वासुदेवं स्तौमीत्याह—तमिति ॥ ३३ ॥ कथं
स्तोष्यसीत्यत आह—ओमिति ॥ ३४-४५ ॥

षष्ठोपनिषत्

गोपालकृष्णध्यानजपभजनविधिः

अथैवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः
श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यगर्भः ॥ ४६ ॥

अमुं पञ्चपदं मनुमावर्तयेद्यः

स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत् ॥ ४७ ॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो

नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षदिति ॥ ४८ ॥

तस्मात् कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं यजेत्
तं भजेत् ॐ तत्सदित्युपनिषत् ॥ ४९ ॥

एवं हिरण्यगर्भजो ब्रह्मा मुनीन् प्रति उवाचेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ अमुं पञ्च-
पदं वासुदेवात्मकं मन्त्रं आवर्तयेत् यः पुमान् सोऽयं अनायासतः केवलं
वासुदेवाख्यं पदं याति ॥ ४७ ॥ यद्वासुदेवपदमुक्तं तदेव मन्त्रोऽप्यनुवदति—
अनेजदिति । अनेजत् व्योमवदचलं सर्वत्र एकं मनसोऽपि जवीयो वेगवत्तरं
तदेतत् पदं देवाः चक्षुरादीन्द्रियाणि नाप्नुवन् चक्षुरादिव्यापारस्य मनोव्यापार-
पूर्वकत्वात् । चक्षुराद्यपेक्षया मनो जविष्ठं, मनसोऽप्येतत्पदं जववत्तरं, इत्यत्र
हेतुः—पूर्वमर्षत् इति, वासुदेवपदस्य बाह्यान्तःकरणवृत्तिसहस्रभावाभाव-
प्रकाशकतया तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्तत्वात् । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥ ४८ ॥
यस्मात् एतत्पदं निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रपर्यवसन्नं भवति तस्मात् तत्पदाख्यः

कृष्ण एव परमो देवः प्रकाशमात्रत्वात् । तत्स्वरूपं ध्यायेत् सदा तन्मन्त्रं
रसयेत् जपेत्, तमेव भजेत् प्रेमपूर्वकमाराधयेत् । किं तत्पदं इत्यत्र ॐ तत्
सत् इति शब्दत्रयप्रतिपाद्यमित्यर्थः । इतिशब्दः षष्ठोपनिषत्समाप्त्यर्थः ।
उपनिषच्छब्दः पूर्वतापिनीसमाप्त्यर्थः ॥ ४९ ॥

गोपालोत्तरतापिनी

दुर्वाससो व्रजस्त्रीभैक्षार्हत्वम्

एकदा हि व्रजस्त्रियः सकामाः शर्वरीमुषित्वा सर्वेश्वरं गोपालं
कृष्णमूचिरे । उवाच ताः कृष्णः । अमुकस्मै ब्राह्मणाय भैक्षं
दातव्यमिति । ^१दुर्वासस इति ॥ १ ॥

पूर्वतापिनीप्रकटितमन्तराजपञ्चपदध्यानरसनविशुद्धान्तरस्य निर्विशेषब्रह्मा-
सिर्भवेदिति प्रकटयितुं उत्तरतापिनीमवतारयति । गोपीगणमौन्याद्याख्यायिका तु
विद्यास्तुल्यार्था । आख्यायिकामवतारयति—एकदा हीति । ताभिः एवमुक्तो
भगवानाह—उवाच ताः कृष्ण इति । सामान्यत आख्यायिका सूचिता ।
विशेषतस्तामेव विशदयन् आदौ स्त्रीणां वचनमाह—अमुकस्मा इति । कस्मा
इत्यत्र—दुर्वासस इति छान्दसः दूर्वाससे दूर्वाशिन इत्यर्थः ॥ १ ॥

कृष्णस्य अस्खलितब्रह्मचारित्वस्मरणेन तासां यमुनातरणम्

कथं यास्यामो जलं तीर्त्वा यमुनायाः यतः श्रेयो भवति ।
कृष्णेति ब्रह्मचारीत्युक्त्वा मार्गं वो दास्यति यं मां स्मृत्वाऽगाधा

^१ 'ता उवाच श्रीकृष्णः' इति अधिकः (अ) कोशे.

गाधा भवति यं मां स्मृत्वाऽपूतः पूतो भवति यं मां स्मृत्वाऽव्रती
व्रती भवति यं मां स्मृत्वा सकामो निष्कामो भवति यं मां स्मृत्वा-
ऽश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति यं मां स्मृत्वाऽगाधतलस्पर्श^१रहिता
अपि सर्वा सरिद्गाधा^२ भवन्ति ॥ २ ॥

श्रुत्वा तद्वाक्यं हि वै रौद्रं स्मृत्वा तद्वाक्येन तीर्त्वा तत्सौर्या
हि वै गत्वाऽऽश्रमं पुण्यतमं हि वै नत्वा मुनिं श्रेष्ठतमं हि वै रौद्रं
चेति दत्त्वाऽऽत्मै ब्राह्मणाय क्षीरमयं घृतमयमिष्टतमं हि वै मृष्टतमं
हि तुष्टः स्नात्वा भुक्त्वा हित्वाऽऽशिषं^३ प्रयुज्यानुज्ञां त्वदात् ॥ ३ ॥

पुनः स्त्रीणां वाक्यं कथमिति । कथं वयं यमुनाजलं अगाधं तीर्त्वा
मुनिं यास्याम इति । तासां वाक्यमाकर्ण्य भगवानाह—कृष्णेति ।
श्रीकृष्णोऽस्वलितब्रह्मचारीति सकृत् उक्त्वा व्रजत, युष्माकं यमुना मार्गं
दास्यति । कृष्णेति छान्दसः । कृष्णेत्युक्तिः कथं यमुना मार्गं दास्यति,
कथमनेकाङ्गनामदनलीलाशाली ब्रह्मचारी भवितुमर्हतीति शङ्कामुन्मूलयन्नाह—
यं मामिति । सर्वा सरित् सर्वाः सरितः ॥ २ ॥ यं मां स्मृत्वा अपूतः पूतो
भवतीति श्रुत्वा तद्वाक्यम् । हि निश्चितं वै स्मर्यते । तास्तु गोप्यः श्रीकृष्णवाक्यं
श्रुत्वा सामर्थ्यप्रकटनवाक्येन भीताः सत्यः रौद्रं रुद्रांशजं दूर्वाससं स्मृत्वा
कृष्णोऽस्वलितब्रह्मचारीति स्मरणमात्रेण अगाधामपि गाधीभूतां सूर्यजत्वात्
सौर्यां यमुनां तीर्त्वा पुण्यतमं तदाश्रमं गत्वा श्रेष्ठतमं दूर्वाससं रौद्रं नत्वा ।
इतिशब्दो भोजनपूर्वचरणपरिसमाप्त्यर्थः । अस्मै ब्राह्मणाय क्षीरमयमित्यादि-
विशेषणविशिष्टमन्नं दत्त्वा आराधयामासुः इत्यर्थः । सोऽयं मुनिः आभिः दत्तमन्नं

^१ रहितापि—अ, अ १.

^२ भवति—अ, अ २, क.

^३ “ प्रयुज्यान्नं ज्ञात्वादात् ” इति पाठः आकरेषु सर्वेषु दृष्टोपि व्याख्यानुसारेणैवं
व्यत्यस्तः ।

भुक्त्वा स्वभुक्तावशेषमुच्छिष्टभागभ्यो दत्त्वा तासां आशिषं कृत्वाऽथ गमनानु-
ज्ञामदात् दत्तवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

दूर्वाससो निराहारत्वस्मरणेन तासां यमुनातरणम् .

ता ऊचुः—कथं यास्यामो वयं सौर्यां तीर्त्वा । स
होवाच मुनिः—दूर्वा^१शिनं मां स्मृत्वा वो दास्यतीति मार्गम् ॥ ४ ॥

तेनैवमाज्ञप्ताः तं प्रति ता ऊचुः । किमिति? कथमिति । तासां वाचमाकर्ण्य
स होवाच मुनिः । किमिति? दूर्वाशिनमिति । मां दूर्वाशिनं निराहारं वा स्मरत,
ततो युष्माकं यमुना मार्गं दास्यति ॥ ४ ॥

कृष्णदूर्वाससोर्विषये गान्धर्वीशङ्का

तासां मध्ये हि श्रेष्ठा गान्धर्वी ह्युवाच तं हि वै ताभिरेवं
कथं कृष्णो ब्रह्मचारी कथं दूर्वाशनो मुनिः । तां हि मुख्यां विधाय
पूर्वमनुकृत्वा तूष्णीमासुः ॥ ५ ॥

तासां मध्ये हि श्रेष्ठा गान्धर्वी कदाचित् तं हि वै मुनिं एवं उवाच ।
अन्याः स्त्रियस्तु तूष्णीमासुः । एवं विचार्य । कथमिति—भूतभौतिकान्त-
र्याम्यात्मनो विक्रियत्वात् कृष्णो ब्रह्मचारीत्यादि कथं युज्यते ॥ ५ ॥

ब्रह्मज्ञानिनः अभोकृत्वम्

शब्दवानाकाशः । शब्दाकाशाभ्यां भिन्नः । तस्मिन्नाकाश-
स्तिष्ठति । आकाशे ^२तिष्ठति । स ह्याकाशस्तं न वेद । स ह्यात्माऽहं
कथं भोक्ता भवामि ॥ ६ ॥

^१ सिनं—अ, अ १, क.

^२ तिष्ठत्याका—उ.

स्पर्शवान् वायुः । स्पर्शवायुभ्यां भिन्नः । तस्मिन्वायुस्तिष्ठति ।
वायौ तिष्ठति । वायुस्तं न वेद । स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता
भवामि ॥ ७ ॥

रूपवदिदं तेजः । रूपाग्निभ्यां भिन्नः । तस्मिन्नाग्निस्तिष्ठति ।
अग्नौ तिष्ठति । अग्निस्तं न वेद । स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता
भवामि ॥ ८ ॥

रसवत्य आपः । रसाद्द्रव्यो भिन्नः । तस्मिन्नापस्तिष्ठन्ति ।
अप्सु तिष्ठति । आपस्तं न विदुः । स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता
भवामि ॥ ९ ॥

गन्धवतीयं भूमिः । गन्धभूमिभ्यां भिन्नः । तस्मिन्
भूमिस्तिष्ठति । भूमौ तिष्ठति । भूमिस्तं न वेद । स ह्यात्माऽहं कथं
भोक्ता भवामि ॥ १० ॥

इदं हि मन एवेदं मनुते । तानीदं हि गृह्णाति । यत्र
सर्वमात्मैवाभूत्तत्र वा कुत्र मनुते ^१क वा गच्छतीति । स ह्यात्माऽहं
कथं भोक्ता भवामि ॥ ११ ॥

एवमाशङ्कां परिहरन् मुनिराह—शब्दवानिति । शब्दगुणयुक्तोऽयमाकाशो
वर्तते । तद्गुणभिनो विलक्षणः प्रत्यगात्मा । तस्मिन् प्रतीचि सर्वारोपापवादाधारे
आकाशस्तिष्ठति । अन्तर्याम्यात्मना अयं प्रत्यक् आकाशे तिष्ठति । स हीति
शब्दवान् आकाशः स्वाधारं प्रत्यञ्चं स्वान्तर्यामिणं वा जात्वपि न वेद । मया
प्रतीचा साकं परमात्मैव तिष्ठति । स हि प्रत्यगभिन्नपरमात्माऽहं कथं भोक्ता

*
१ कथं वा—अ, अ १, क.

भवामि ॥ ६ ॥ एवं वाय्वादयो व्याख्येयाः ॥ ७ ॥ किं भोक्ताऽहमिति मनुत इत्यत आह—इदमिति । आकाशादिपञ्चभूतभौतिकेषु वर्तमानं इदं मन एव हि भोक्ताऽहमिति मनुते । मनसो जडत्वेऽपि चैतनसंनिधानात् मननादिशक्तिः, यस्मात् यदिदं मन एव तत्तदिन्द्रियाविष्टं सत् पूर्वं शब्दादीनि गृह्णाति । तव अन्तःकरणावच्छिन्नतया भोक्ताऽहमित्यध्यासः स्यादित्यत आह—यत्रेति । यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि कार्यकारणकलनासंभवात् एवंविदुषः सर्वमात्मैवाभूत् तत्र निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रे तज्ज्ञानदशायां वा यत्र कुत्र वा धर्मिणि केन करणेन धर्मिणं मन्तारं मनुते । क्व वा अपि केन कारणेन को वा गच्छति । एवं वागादिपर्याया अप्यूह्याः । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावगतेः अध्यारोपापवादा-पह्वपूर्वकत्वात् ज्ञानिनो भोक्तृत्वाध्यासः कुत इति भावः ॥ ११ ॥

कृष्णस्य अमोक्तृत्वम्

अयं हि कृष्णो यो वो हि प्रेष्ठः शरीर^१द्वयकारणं भवति ॥ १२ ॥

द्वा सुपर्णौ भवतो ब्रह्मणोऽहं संभूतस्तथेतरो भोक्ता भवति । अन्यो हि साक्षी भवतीति । ^२वृक्षधर्मे तौ तिष्ठतः । अतो भोक्तृ-भोक्तारौ । पूर्वो हि भोक्ता भवति । तथेतरोऽभोक्ता कृष्णो भवतीति ॥ १३ ॥

यत्र विद्याऽविद्ये न विदामो विद्याऽविद्याभ्यां भिन्नो विद्यामयो हि ^३यः स कथं ^४विषयो भवति ॥ १४ ॥

यो ह वै कामेन कामान् कामयते स कामी भवति । यो ह वै त्वकामेन कामान् कामयते सोऽकामी भवति । जन्मजराभ्यां

^१ त्रय—अ.

^२ यस्य—अ १, अ २, क, उ.

^३ वृक्षधर्मेण ति—अ, अ १.

^४ विषयी—उ.

भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयम् । योऽसौ सूर्ये तिष्ठति योऽसौ गोषु
तिष्ठति योऽसौ गोपान् पालयति योऽसौ सर्वेषु ^१देवेषु तिष्ठति योऽसौ
सर्वैर्^२देवैर्गीयते योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वविश्य भूतानि विदधाति स वो
हि स्वामी भवति ॥ १९ ॥

अस्तु तब ब्रह्मज्ञानित्वात् अभोक्तृत्वं, किं कृष्णोऽपि तथेत्यतः आह—
अयं हीति । कृष्णस्य सर्वप्रेमास्पदत्वेन व्यष्टिसमष्टिशरीरद्वयकारणतया चेश्वर-
त्वात् अयमपि न भोक्तृत्यर्थः ॥ १२ ॥ कृष्णस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन अभोक्तृत्वमुक्तं,
इदानीमन्तर्यामितयाऽप्यभोक्तृत्वं स्यादित्याह—द्वेति । ब्रह्मणः त्रिन्मात्रात् द्वौ
सुपर्णाविव सहचरौ जीवेश्वरौ भवतः । तन्मध्ये इतरः अहंसंभूतो जीवो भोक्ता
भवति । अन्यस्तु ईश्वरः साक्षी अभोक्ता भवति । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ।
तयोः सुपर्णत्वं^३ कुत इत्यत्र ब्रह्मवात्मको हि वृक्षधर्मः तत्र संसारे तौ तिष्ठतः ।
तयोः अनीश्वरेश्वरत्वात् भोक्तृत्वाभोक्तृत्वे स्याताम् । तत्र पूर्वस्य भोक्तृत्वं अपरस्य
अभोक्तृत्वं इति सिद्धम् ॥ १३ ॥ तयोः भोक्तृत्वाभोक्तृत्वहेतुमाह—यत्रेति ।
यत्र ईश्वरे विद्याऽविद्याभ्यां भिन्ने विद्याऽविद्ये न विदामः । तत्र हेतुः विद्यामय
इति । विद्या नाम “ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति ब्रह्ममात्रवृत्तिः,
तत्प्रकाशकत्वात् न हि तद्विषयो भवति । न हि घटाद्यवभासकः सविता घटो
भवति, तथेत्यर्थः ॥ १४ ॥ एवं विद्याऽविद्यारहितत्वात् अभोक्तृत्वं उक्तं,
अकामत्वादप्यभोक्तृत्वमाह—यो हेति । यः काम्यकामिजीवेश्वरविलक्षणतया
स्वातिरिक्तषड्भावविकारास्पदशरीरोपलक्षिताविद्यापदतत्कार्यजातासंभवनिष्प्रतियो-
गिकब्रह्ममात्रतया चावशिष्यते स वो युष्माकं सर्वेषामपि स्वामी आत्मा
भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

गोपालकृष्णजन्मादीन्यधिकृत्य गान्धर्वीप्रश्नाः

सा होवाच गान्धर्वी—कथं वा स्वस्मासु जातो गोपालः ।

कथं ^१वा ज्ञातोऽसौ त्वया मुने कृष्णः । को वाऽस्य मन्त्रः । किं

^१ भूतेषु—उ. वेदेषु—अ, अ १.

^२ वैदैः—उ.

^३ विज्ञा—अ, अ १.

स्थानम् । कथं वा देवक्यां जातः । को वाऽस्य जायाग्रामो भवति ।
कीदृशी पूजाऽस्य गोपालस्य भवति । साक्षात्प्रकृतिपरोऽयमात्मा
गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्याम् । सा गान्धर्वी हि वै मुनिमुवाच ॥ १६ ॥

एवं मुनिमुखात् विदितभगवद्दृत्तान्ता गान्धर्वी पृच्छतीत्याह—सा हेति ।
एवमादिप्रश्नान् पृच्छति—सेति ॥ १६ ॥

नारायणं प्रति अवतारविषये ब्रह्मप्रश्नः

स होवाच तां हि वै—पूर्वं नारायणो यस्मिंल्लोका ओताश्च
प्रोताश्च तस्य हृत्पद्माज्जातोऽब्जयोनिस्तपस्तप्त्वा तस्मै ह वरं ददौ ।
सा कामप्रश्नमेव वव्रे । तं हास्मै ददौ ॥ १७ ॥

स होवाचाब्जयोनिः—यो वाऽवताराणां मध्ये श्रेष्ठोऽवतारः
को भवति येन लोकास्तुष्टा भवन्ति यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात्
संसाराद्भवन्ति कथं वाऽस्यावतारस्य ब्रह्मता भवति ॥ १८ ॥

एवं गान्धर्वीप्रश्नानुरोधेन भगवान् मुनिराह—स हेति ॥ १७ ॥ एवं
भगवता दत्तवरः स होवाचेति । किमिति ? यो वेत्ति ॥ १८ ॥

भूचक्रस्थसप्तपुरीमध्ये मधुरा नाम गोपालपुरी

स होवाच तं हि वै नारायणो देवः—सकाम्या मेरोः शृङ्गे
यथा सप्तपुर्यो भवन्ति तथा निष्काम्याः सकाम्या भूगोळचक्रे
सप्तपुर्यो भवन्ति । तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्म गोपालपुरी
भवति ॥ १९ ॥

सकाम्या निष्काम्या देवानां सर्वेषां भूतानां भवति । अथास्य भजनं भवति । यथा हि वै सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां तिष्ठति चक्रेण रक्षिता मथुरा तस्माद्गोपालपुरी भवति ॥ २० ॥

एवं ब्रह्मणा पृष्ठः स होवाच । यथा मेरोः शृङ्गे कामफलेन सहिताः सकाम्याः स्वर्गादयः सप्तपुर्यो भवन्ति—यमनिर्ऋत्यधिष्ठित-लोकावेकीकृत्येत्यर्थः—तथा अधिकारितारतम्येन निष्काम्याः सकाम्याश्च भूगोलचक्रे—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।

पुरी द्वारावृती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ॥

इति सप्तपुर्यो भवन्ति । तन्मध्ये गोपालपुरी साक्षाद्ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ किञ्च—सकाम्येति ॥ २० ॥

मथुरावरणवनेषु देवादीनां वासः

^१बृहद्बृहद्वनं मधोर्मधुवनं तालस्तालवनं काम्यं काम्यवनं बहुला बहुलवनं ^२कुमुदः कुमुदवनं खदिरः खदिरवनं भद्रो भद्रवनं भाण्डीर इति भाण्डीरवनं श्रीवनं लोहवनं वृन्दावनमेतैरावृता पुरी भवति ॥ २१ ॥

तत्र तेष्वेव गगनेष्वेवं देवा मनुष्या गन्धर्वा नागाः किंनरा गायन्ति नृत्यन्तीति ॥ २२ ॥

तत्र द्वादशादित्या एकादश रुद्रा अष्टौ वसवः सप्त मुनयो ब्रह्मा नारदश्च पञ्च विनायका ^३विश्वेश्वरो रुद्रेश्वरोऽम्बिकेश्वरो ^४गणेश्वरो

^१ ब्रह्मन् बृ—अ २, क.

^२ कुमुदं—अ २, क.

^३ वीरेश्वरो—उ, अ, अ १, अ २, क.

^४ 'गणेश्वरः' इति न (अ, अ १, अ २, क) कोशेषु.

नीलकण्ठेश्वरो ^१वीरेश्वरो गोपालेश्वरो भद्रेश्वर इत्यष्टावन्यानि लिङ्गानि
चतुर्विंशतिर्भवन्ति ॥ २३ ॥

द्वे वने स्तः कृष्णवनं भद्रवनम् । तयोरन्तर्द्वादश वनानि
पुण्यानि पुण्यतमानि । तेष्वेव देवास्तिष्ठन्ति सिद्धाः सिद्धिं
प्राप्ताः ॥ २४ ॥

सेयं मथुरा द्वादशवनैरावृता भवतीत्याह—बृहदिति । बृहत् महद्भूतलं
बृहद्वनं प्रथमम्, मधोः दैत्यस्याश्रयं मधुवनं द्वितीयम्, यत्र ताळो वर्तते तत्
ताळवनं तृतीयम्, यत्र काम्यं कामदो देवो वर्तते इति काम्यवनं
चतुर्थम्, बहुला वर्तते इति बहुलवनं पञ्चमम्, कुमुदो वर्तते इति कुमुदवनं
षष्ठम्, खदिरो वर्तते इति खदिरवनं सप्तमम्, भद्रो वृक्षविशेषो वर्तते इति
भद्रवनं अष्टमम्, भाण्डीरवटो वर्तते इति भाण्डीरवनं नवमम्, यत्र तप्यतः
श्रीः प्रसीदति तत् श्रीवनं दशमम्, यत्र लोहनामकोऽसुरः तपस्सिद्धिं गतः तत्
लोहवनं एकादशम्, वृन्दाया वनं वृन्दावनं द्वादशम्, एतैरावृता इयं पुरी
भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ किंच तेषु वनेषु देवादयो वर्तन्ते इत्याह—तत्रेति । तत्र
बृहद्वनादिद्वादशवनेषु ॥ २२ ॥ उक्तद्वादशवनेषु वरुणादिद्वादशादित्या वसन्ति ।
वरुणः सूर्यो यमो वेदाङ्गो भानुः इन्द्रो रविः गभस्तिः हिरण्यरेताः दिवाकरो
मित्रो विष्णुः इति द्वादशादित्यनामानि भवन्ति ।

वीरभद्रश्च शम्भुश्च गिरीशश्च तृतीयकः ।

अजैकपादहिर्बुध्नयः पिनाकी च तथाऽपरः ॥

भुवनाधीश्वरश्चैव कपाली च दिशां पतिः ।

स्थाणुर्भु[र्भ]व इति प्रोक्ता रुद्रा एकादश स्मृताः ॥

इति एकादश रुद्राः ।

^१ 'वीरेश्वरो' इति न (अ, १, अ २, क) कोशेषु.

ध्रुवो धरश्च सोमश्च आपश्चैवानलोऽनिलः ।

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टावितीरिताः ॥

इति अष्ट वसवः ।

कश्यपोऽत्रिभेद्राजो विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।

जामदग्न्यो [जमदग्निः] वसिष्ठश्च सप्तैते मुनयः स्मृताः ॥

इति सप्त मुनयः ।

मोदः प्रमोद आमोदः सुमुखो दुर्मुखस्तथा ।

इति पञ्च विनायकाः ।

विश्वेश्वरादिभेद्वेश्वरान्तं अष्टौ लिङ्गानि तथा अन्यानि च चतुर्विंशति-
लिङ्गानि भवन्ति ॥ २३ ॥ कृष्णादिवनान्तराले द्वादश वनानि सन्ति । तत्र
कानि चित् पुण्यानि कानि चित् पुण्यतमानि । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २४ ॥

ऋदिपूज्याः मथुरास्थाः कृष्णमूर्तयः

तत्र हि रामस्य राममूर्तिः प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नमूर्तिरनिरुद्ध-
स्यानिरुद्धमूर्तिः कृष्णस्य कृष्णमूर्तिः ॥ २५ ॥

वनेष्वेवं मथुरास्वेवं द्वादश मूर्तयो भवन्ति । एकां हि रुद्रा
यजन्ति द्वितीयां हि ब्रह्मा यजति तृतीयां ब्रह्मजा यजन्ति चतुर्थीं
मरुतो यजन्ति पञ्चमीं विनायका यजन्ति षष्ठीं च वसवो यजन्ति
सप्तमीमृषयो यजन्ति अष्टमीं गन्धर्वा यजन्ति नवमीमप्सरसो यजन्ति
दशमी वै ह्यन्तर्धाने तिष्ठति एकादशमिति स्वपदानुगा द्वादशमिति
भूम्यां तिष्ठति । तां हि ये यजन्ति ते मृत्युं तरन्ति मुक्तिं लभन्ते
गर्भजन्मजरामरणतापत्रयात्मकदुःखं तरन्ति ॥ २६ ॥

तदप्येते श्लोका भवन्ति—

संप्राप्य मथुरां रम्यां ^१ब्रह्मरुद्रादिवन्दिताम् ।

शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुसलादिभिः ॥ २७ ॥

यत्रासौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्या समाहितः ।

^२रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ॥ २८ ॥

चतुःशब्दो भवेदेको ह्यो^३कारस्य उदाहृतः ॥ २९ ॥

सिद्धादिसिद्धिप्रदत्वे हेतुमाह—तत्र हीति । रामादेः रामाद्याख्या मूर्तिरस्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ कास्ताः द्वादश मूर्तयः इत्यत्र—रौद्री ब्राह्मी दैवी मानवी विघ्नविनाशिनी काम्या आर्षा गान्धर्वी गौरन्तर्धानस्था स्वल्पदं गता भूमिष्ठा औदका चेति द्वादशमूर्तीनां नामानि भवन्ति । तासां प्रत्येकमुपासनमाह—एकां हीति । ब्रह्मजाः सनकादयः । मरुतो मरुद्गणाः । अन्तर्धाने गुप्ता तिष्ठति एकादशमिति स्वपदानुगा विष्णुपदं गतेत्यर्थः निर्विशेषत्वात् । द्वादशधामेति या प्रसिद्धा सा भूम्यां तिष्ठति । तत्पूजकानां परमफलमाह—तां हीति । दुःखहेतुस्वाज्ञानस्य निवृत्तत्वात् ॥ २६ ॥ ब्राह्मणोक्तेश्च मन्त्राः भवन्तीत्याह—तदप्येते श्लोका भवन्तीति । मथुरापुरीं प्राप्य देवमनुष्यादयः तिष्ठन्ति श्रीकृष्णबलदेवायुधैः गुप्तां यत्र बलरामादिभिः रुक्मिण्यादिस्वशक्तिभिश्च कृष्णो विजयते तामधिष्ठाय देवाः तिष्ठन्तीति संबन्धः । कृष्णावतारो ह्यवताराणां श्रेष्ठः, मधुरायामस्य स्थानमित्युक्तं भवति ॥ २७—२८ ॥ प्रणवार्थत्वादस्य ब्रह्मत्वं निरङ्कुशमित्याह—चतुरिति । रामादिभेदेन चतुश्शब्दः चतुर्व्यूहः एक ईश्वरो भवेत् भवति । तत्र हेतुमाह—ओङ्कारस्येति । अकारादिमात्राचतुष्टयं ओङ्कारार्थः । तन्मात्राचतुष्टयवाच्या रामादिचतुर्व्यूहा इति समुदायार्थः ॥ २९ ॥

^१ सदा ब्रह्मादि—क, अ, अ १, अ २.

^२ रामानिरुद्धः प्रद्युम्नो रु—अ, अ १, क, उ.

^३ कारश्च—अ, अ १, उ. †

मुमुक्षुभिः गोपालात्मत्वं स्मरणीयम्

तस्मादेव परो रजसेति सोऽहमित्यवधार्यात्मानं गोपालोऽहमिति भावयेत् । स मोक्षमश्नुते । स ब्रह्मत्वमधिगच्छति । स ब्रह्मविद्भवति । स गोमान् जीवानात्मत्वेन सृष्टिपर्यन्तमालाति । स गोपालो भवति ह्यो तत् सत् सोऽहम् । परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानन्दैकस्वरूपः सोऽहम् । ओं तत् सद्रूपालोऽहमेव । परं सत्यमबाधितं सोऽहमित्यात्मानमादाय मनसैक्यं कुर्यात् । आत्मानं गोपालोऽहमिति भावयेत् । स एवाव्यक्तोऽनन्तो नित्यो गोपालः ॥ ३० ॥

“यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात् संसारात्” इत्यस्योत्तरमाह—तस्मादिति । तस्मात् प्रणवाभिधेयत्वात् रजस इत्युपलक्षितगुणत्रयात् यः परः सोऽहमित्यवधार्य गोपालोऽहमिति भावयेत् । रजसेति छान्दसः । विशिष्टोपास्तेः फलं दर्शयति—स मोक्षमिति । आह्वति आदत्ते स्वीकरोतीत्यर्थः । ॐ तत् सत् सोऽहं इत्यत्र ओं तच्छब्दाभ्यां यद्वाच्यं सत् परं ब्रह्म सोऽहमिति भावयेत् । ओं तत्सत्पदवाच्यं लक्ष्यं वा परं सत्यं अबाधितं ब्रह्म स एव गोपाल इत्यर्थः ॥ ३० ॥

मथुरावासिगोपालकृष्णभवनमहिमा

मथुरायां स्थितिर्ब्रह्मन् सर्वदा मे भविष्यति ।

शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाधरस्य वै ॥ ३१ ॥

विश्वरूपं परं ज्योतिः स्वरूपं रूपवर्जितम् ।

मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपस्थितोऽपि वा ।

योऽर्चयेत् प्रतिमां मां च स मे प्रियतरो भुवि ॥ ३२ ॥

१ “चतुर्भिश्च यथा देवैरेको देवः प्रकीर्तितः” इत्यधिकः (अ) कोशे.

तस्यामधिष्ठितः कृष्णरूपी पूज्यस्त्वया सदा ।
 चतुर्धा चास्यावता^१रा भेदत्वेन यजन्ति माम् ॥ ३३ ॥
 युगानुवर्तिनो लोका यजन्तीह सुमेधसः ।
 गोपालं सानुजं कृष्णं रुक्मिण्या सह तत्परम् ॥ ३४ ॥
 गोपालोऽहमजो नित्यः प्रद्युम्नोऽहं सनातनः ।
 रामोऽहमनिरुद्धोऽहमात्मानं ह्यर्चयेद्बुधः ॥ ३५ ॥
 मयोक्तेन स धर्मेण निष्कामेन विभागशः ।
 तैरहं पूजनीयो वै भद्रकृष्णनिवासिभिः ॥ ३६ ॥
 तद्धर्मगतिहीना ये तस्यां मयि परायणाः ।
 कलिना ग्रसिता ये वै तेषां तस्यामवस्थितिः ॥ ३७ ॥
 यथा त्वं सह पुत्रैस्तु यथा रुद्रो गणैः सह ।
 यथा श्रियाऽभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः ॥ ३८ ॥

या पुरी गोपालाधिष्ठिता भवेत् तस्यां मथुरायां स्थितिः ॥ ३१-३३ ॥
 इदमेव विवृणोति—युगानुवर्तिन इति ॥ ३४-३५ ॥ भद्रकृष्णनिवासिभिः
 भद्रकृष्णवनयोः निवासिभिः ॥ ३६ ॥ स्वाश्रमाचारहीना अपि भद्रक्ताश्चेत्
 मत्पुर्यामवस्थितिः युज्यते न त्वभक्तानामित्याह—तद्धर्मेति ॥ ३७ ॥ पुत्रैस्तु
 सनकादिभिः ॥ ३८-३९ ॥

एकस्य भगवतः चतुर्विधत्वोपपादनम्

स होवाचाञ्जयोनिश्चतुर्भिर्देवैः कथमेको देवः स्यात् ।

एकमक्षरं यद्विश्रुतमनेकाक्षरं कथं संभूतम् ॥ ३९ ॥

स होवाच तं हि—पूर्वमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् । तस्माद-
व्यक्तमेकाक्षरम् । तस्मादक्षरान्महत् । महतोऽहंकारः । तस्माद-
हंकारात् पञ्च तन्मात्राणि । तेभ्यो भूतानि । तैरावृतमक्षरम् ।
अक्षरोऽहमोकारोऽहमन्बरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्माभयं हि वै । स
मुक्तोऽहमस्मि । अक्षरोऽहमस्मि ॥ ४० ॥

सत्तामात्रं चित्स्वरूपं प्रकाशं व्यापकं तथा ।

एकमेवाद्वयं ब्रह्म मायया च चतुष्टयम् ॥ ४१ ॥

रोहिणीतनयो विश्व अकाराक्षरसंभवः ।

तैजसात्मकः प्रद्युम्न उकाराक्षरसंभवः ॥ ४२ ॥

प्राज्ञात्मकोऽनिरुद्धोऽसौ मकाराक्षरसंभवः ।

अर्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ४३ ॥

कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृति रुक्मिणी ॥

ब्रजस्त्रीजन^१संभूतश्रुतिभ्यो^२ ब्रह्मसंगतः ।

प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ४४ ॥

तस्मादोकारसंभूतो गोपालो विश्वसंस्थितः ।

क्लीमोकार^३स्य चैकत्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।

मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुते ॥ ४५ ॥

ब्रह्मणा पृष्ठः स होवाच । स्वाज्ञदृष्ट्या तस्मादव्यक्तमेकाक्षरम् । तेभ्यः
पञ्चीकृतभूतानि तैः आवृतमक्षरं घटशरावाद्यावृतमृत्पिण्डवदित्यर्थः ॥४०—४१॥

^१ संभूतः श्रु—उ, मु.

^२ ज्ञानसं—अ, अ १, मु.

^३ स्यैकत्वं—अ, अ २, क. स्यैकतत्वं—मु.

कथं एकस्य चातुर्विध्यमित्यत्र—रोहिणीतनय इति । कृष्णस्य अवस्थात्रयतद-
 ध्यक्षातीतत्वेन तुर्यरूपत्वात् कृष्णो ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ४२-४३ ॥ बिन्दुप्रतिपाद्य-
 रुक्मिणीस्वरूपमाह—कृष्णेति । शक्तिशक्तिमतोरभेदात् कृष्णात्मिका रुक्मिणी
 जगत्कर्त्री मूलप्रकृतिः सैव ब्रजस्त्री राधारूपिणी प्रकृतिः । ब्रजस्त्रीजनेषु
 संभूताः श्रुतयः ताभ्यो ब्रह्मसङ्गतः प्रणवत्वं तस्या ब्रह्मवादिनः प्रकृतित्वं
 वदन्ति ॥ ४४ ॥ यस्मादेवं तस्मात् अस्य ब्रह्मरूपत्वात् ओङ्कारसंभूतः
 ओङ्कारार्थतया तत्प्रतिपाद्यत्वान्, विश्वाधारान्तर्यामितया स्थितत्वात् विश्व-
 संस्थितः, किं वक्तव्यं चतुर्धा संस्थितः इति । ह्रीमोङ्कारयोरेकत्वं ब्रह्मवादिनो
 वदन्ति बीजद्वयस्यैकार्थपर्यवसायित्वात् । मथुरायां मद्भजनं शीघ्रफलदमित्याह—
 मथुरायामिति ॥ ४५ ॥

हृदि ध्येयभगवद्रूपवर्णनम्

अष्टपत्रं विकसितं हृत्पद्मं तत्र संस्थितम् ।

दिव्यध्वजातपत्रैस्तु चिह्नितं चरणद्वयम् ॥ ४६ ॥

श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं^१ कौस्तुभप्रभया युतम् ।

चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदाऽन्वितम् ॥ ४७ ॥

सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठमालासुशोभितम् ।

द्युमतिकरीटमभयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥ ४८ ॥

हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम् ।

ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा ॥ ४९ ॥

मध्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा ।

मत्सारभूतं यद्यत्स्यान्मथुरा सा निगद्यते ॥ ५० ॥

^१ कौस्तुभं प्र—अ २, क.

अष्टदिक्पा^१लभिर्भूमिपद्मं विकसितं जगत् ।
 संसारार्णवसंजातं सेवितं मम मानसे ॥ ९१ ॥
 चन्द्रसूर्यत्विषो दिव्या ध्वजा मेरुर्हिरण्यः ।
 आतपत्रं ब्रह्मलोकमथोर्ध्वं^२ चरणं स्मृतम् ॥ ९२ ॥
^३श्रीवत्सं च स्वरूपं च वर्तते लाञ्छनैः सह ।
 श्रीवत्सलक्षणं तस्मात् कथ्यते ब्रह्मवादिभिः ॥ ९३ ॥
 येन सूर्याग्निवाक्चन्द्रतेजसा स्वस्वरूपिणा ।
 वर्तते कौस्तु^४भाख्यं मणिं वदन्तीशमानिनः ॥ ९४ ॥
 सत्त्वं रजस्तम इति अहंकारश्चतुर्भुजः ।
 पञ्चभूतात्मकं शङ्खं करे रजसि संस्थितम् ॥ ९५ ॥
 बालस्वरूप^५मित्यन्तं मनश्चक्रं निगद्यते ।
 आद्या माया भवेच्छाङ्गी पद्मं^६ विश्वकरे स्थितम् ॥ ९६ ॥
 आद्या विद्या गदा वेद्या सर्वदा मे करे स्थिता ।
 धर्मार्थकामकेयूरैर्दिव्यैर्दिव्य^७मयीरितैः ॥ ९७ ॥
 कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यते आद्ययाऽजया ।
 माला निगद्यते ब्रह्मंस्तव पुत्रैस्तु मानसैः ॥ ९८ ॥
 कूटस्थं^८ सत्त्वरूपं च किरीटं प्रवदन्ति माम् ।
 क्षीरोत्तरं प्रस्फुरन्तं कुण्डलं युगलं स्मृतम् ॥ ९९ ॥

^१ लकै—मु. ^२ चार्णवं—अ, अ १.

^३ श्रीवत्सस्य स्वरूपं तु—मु.

^४ भाख्यं तं वदन्ति शममानिनः—अ.

^५ मत्यंतं—अ.

^६ दिशं क—मु. ^७ मयेरि—मु. मयैरि—अ, अ १.

^८ सस्य—अ.

ध्यायेन्मम प्रियं नित्यं स मोक्षमधिगच्छति ।

स मुक्तो भवति तस्मै स्वात्मानं तु ददामि वै ॥ ६० ॥

एतत्सर्वं ^१भविष्यद्वै मया प्रोक्तं विधे तव ।

स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणात्मकम् ॥ ६१ ॥

हृत्स्थं श्रीवत्सलाच्छनं मां ध्यायेदित्यर्थः ॥ ४६-४९ ॥ मथुरा-
शब्दार्थमाह—मथ्यत इति । अनेनेदं सर्वं जगत् मथ्यत इति मथनं ब्रह्मज्ञानं
मत्स्वरूपं वा अधिष्ठानस्यारोपभ्रमनिरासकत्वात् । मत्सारभूतं स्वरूपं यस्यां
निषण्णं सा मथुरापुरीत्यर्थः ॥ ५०-५१ ॥ चन्द्रसूर्यत्विष एव दिव्यध्वजाः
छत्रदण्डो मेरुः ब्रह्मलोकः आतपत्रम् ॥ ५२-५३ ॥ कौस्तुभशब्दार्थमाह—
येनेत्रि । सूर्यादयः परतन्त्रतया येन स्वरूपिणा तेजसा प्रवर्तन्ते ते तद्वित्स्वरूप-
महेशमानिनः ईश्वराराधकाः कौस्तुभाख्यं मणिं प्रवदन्ति ॥ ५४ ॥
चतुर्गुणितभुजं विवृणोति—सत्त्वमिति । सत्त्वादित्रिगुणेन अहङ्कारश्चेति चतुर्भुजः ।
रजोगुणविशिष्टं शङ्खं करे स्थितं बुधाः विदुः इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ विशुद्धं मन
एव सत्त्वाख्यं करे स्थितं चक्रं निगद्यते ॥ ५६ ॥ अहं ब्रह्मास्मीति वृत्तिरेव
आद्या विद्या सैव मत्करगतगदेति वेद्या भवति ॥ ५७-६१ ॥

देवादिभिः भजनीयाः मूर्तयः

स होवाचाब्जयोनिः—व्यक्तीनां मूर्तीनां प्रोक्तानां कथं
त्वाभरणानि भवन्ति कथं वा देवा यजन्ति रुद्रा यजन्ति ब्रह्मा
यजति ब्रह्मजा यजन्ति विनायका यजन्ति द्वादशादित्या यजन्ति
वसवो यजन्ति गन्धर्वा यजन्ति ^२सपदानुगा अन्तर्धाने तिष्ठन्ति कां
मनुष्या यजन्ति ॥ ६२ ॥

^१ भविष्यन्वे—उ, क, अ ३, अ १.

^२ स्वपदा—उ.

स होवाच तं हि वै नारायणो देवः—आद्या व्यक्ता द्वादश
मूर्तयः सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु ^१देवेषु सर्वेषु मनुष्येषु ^२तिष्ठति रुद्रेषु
रौद्री ब्रह्मणीयेषु ब्राह्मी देवेषु दैवी मनुष्येषु मानवी विनायकेषु
विघ्नविनाशिनी आदित्येषु ज्योतिर्गन्धर्वेषु ^३गान्धर्वी अप्सरःस्वेवं
गौर्वसुष्वेवं काम्या अन्तर्धानेष्वप्रकाशिनी आविर्भावतिरोभावा स्वपदे
तिष्ठति तामसी राजसी सात्विकी मानुषी विज्ञानघन आनन्द^४घनः
सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति ॥ ६३ ॥

ॐ प्राणात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै प्राणात्मने
नमो नमः । ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय ॐ
तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ अपानात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः
सुवस्तस्मै वा अपानात्मने नमो नमः । ॐ श्रीकृष्णायानिरुद्धाय ॐ
तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ व्यानात्मने ॐ
तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै व्यानात्मने नमो नमः । ॐ श्रीकृष्णाय
रामाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ उदानात्मने
ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वा उदानात्मने नमो नमः । ॐ
श्रीकृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ।
ॐ समानात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै समानात्मने नमो
नमः । ॐ श्रीगोपालाय निजस्वरूपाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै
वै नमो नमः । ॐ योऽसौ प्रधानात्मा गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः

^१ देवेषु—अ १, अ २, क.

^२ तिष्ठन्तीति—अ, अ १, मु.

^३ गन्ध—अ, अ १, अ २, क.

^४ घनस—अ, अ १, अ २, उ.

सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसाविन्द्रियात्मा गोपाल ॐ त-
त्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसौ भूतात्मा गोपाल
ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसाबुत्तमपुरुषो
गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसौ
ब्रह्मापरं वै ब्रह्म ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ
योऽसौ सर्वभूतात्मा गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ।
ॐ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीतोऽन्तर्यामी गोपाल ॐ तत्सद्-
भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ६४ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ६५ ॥

रुद्राय नमः । आदित्याय नमः । विनायकाय नमः । सूर्याय
नमः । विद्यायै नमः । इन्द्राय नमः । अग्नये नमः । यमाय नमः ।
निर्ऋतये नमः । वरुणाय नमः । वायवे नमः । कुबेराय नमः ।
ईशानाय नमः । सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ ६६ ॥

एवं भगवत्सूक्तिमाकर्ष्य स होवाच । किमिति ? व्यक्तीनामिति ॥ ६२ ॥
कथं मनुष्याः यजन्तीति ब्रह्मणा पृष्टः स होवाच । आविर्भावतिरोभावास्मिका
मूर्तिः स्वपदे कैलाससत्यलोकेकुण्डाल्ये तिष्ठतीत्यर्थः । तस्यास्त्रैविध्यमाह—
तामसीत्यादि । मानुषी कुत्र तिष्ठतीत्यस्योत्तरमाह—मानुषीति । विज्ञानघना-
नन्दघनान्नी मानुषी मनुष्यप्रसिद्धा मूर्तिः सच्चिदानन्दैकरसो यो भक्तियोगः
तत्र तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥ कथं ब्रह्मा ब्रह्मजा यजन्ति इति प्रश्नोत्तरमन्त्रानाह—
ओमिति ॥ ६४ ॥ एकस्यैवं कथमनेकत्वं स्यात् इत्यादाङ्ग्य तस्यैव स्वाज्ञदृष्ट्या
सर्वत्र प्रविष्टवत् भानादित्याह—एक इति । अयं मन्त्रः श्वेताश्वतरोपनिषदि

पदशो व्याख्यातः ॥ ६५ ॥ कथं रुद्रा यजन्ति इत्यस्योत्तरमाह—रुद्रायेति ।
कृष्णाख्यं ब्रह्म स्वाङ्गदृष्ट्या स्वाविद्यापदतत्कार्यतत्प्रविभक्तद्वादशमूर्त्यात्मना स्थितं
स्वङ्गदृष्ट्या तत्सर्वापवादाधिकरणतया भातं परमार्थदृष्ट्या तु ज्ञानादिदृष्टिमोहे
सत्यसति निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्यते इति फलितोऽर्थः ॥ ६६ ॥

विद्यासंप्रदायः

दत्त्वा स्तुतिं पुण्यतमां ब्रह्मणे स्वस्वरूपिणे ।

कर्तृत्वं सर्वभूतानामन्तर्धाने बभूव सः ॥ ६७ ॥

ब्रह्मणो ब्रह्मपुत्रेभ्यो नारदात्तु श्रुतं^१मुनेः ।

तथा प्रोक्तं तु^२गान्धर्विं गच्छध्वं स्वालयान्तिकम् ॥ इति ॥ ६८ ॥

मुनिः गान्धर्वीप्रश्नोत्तरमवतारयति—दत्त्वेति । सोऽयं भगवान् नारायणो
ब्रह्मणे स्वपुत्राय प्रागुक्तां पुण्यतमां स्तुतिं सर्वलोकसृष्टिकर्तृत्वं च दत्त्वा
अन्तर्धाने अदृश्यो बभूव ॥ ६७ ॥ मया चेदं तत्संप्रदायतो यथा श्रुतं तथा
युष्मान् प्रति प्रोक्तमित्याह—ब्रह्मणे इति । हे गान्धर्वि इदं शास्त्रं आदौ
नारायणेन स्वपुत्राय ब्रह्मणे उक्तम् । ब्रह्मणा तु स्वपुत्रेभ्यः सनकादिभ्यो नारदा-
दिभ्यश्च प्रतिपादितम् । मया एतत् सनकादिभ्यो नारदाच्च श्रुतं तथा मया इदं
युष्मान् प्रति प्रोक्तम् । हे गान्धर्वीप्रमुखाः सर्वाः यूयं स्वालयान्तिकं स्वाश्रयप्रदेशं
प्रति गच्छध्वम् । इतिशब्दः गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ६८ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

गोपालतापिनीव्याख्या लिखिता कृष्णगोचरा ।

गोपालतापिनीव्याख्या द्वाविंशाधिशतत्रयम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे पञ्चनवतिसङ्ख्यापूरकं
गोपालपूर्वोत्तरतापिन्युपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

^१ यथा—उ, मु.

^२ गान्धर्वीं गच्छ त्वं—अ, अ १, अ २, क.

तारसारोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

अविमुक्तोपासनोपदेशः

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । ¹अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ॥ १ ॥

तस्माद्यत्र कचन गच्छेत्तदेव मन्येतेतीदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतो भूत्वा मोक्षी भवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेत् ॥ २ ॥

एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥ ३ ॥

यन्नारायणतारार्थसत्यज्ञानसुखाकृति ।

त्रिपान्नारायणाकारं तद्ब्रह्मैवास्मि केवलम् ॥

इह खलु शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्त्यं तारसारोपनिषत् स्थूलसूक्ष्माविमुक्त-
नारायणाष्टाक्षराष्टतनुमन्त्रप्रकटनव्यग्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः

¹ 'अविमुक्तं' इत्यादि 'तस्मात्' इत्यतः प्राक्तनं वाक्यं व्याख्याऽनुसारेणात्र संयोजितम् । आकरेषु तु "अत्र किं" इत्यतः प्राक् संयोजितमस्ति.

स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । बृहस्पतिभारद्वाजयाज्ञवल्क्यप्रश्नप्रतिवचन-
रूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—बृहस्पतिरिति ।
अयं खण्डो जाबालोपनिषदि पदशो व्याख्यातः ॥ १-३ ॥ -

[सा च व्याख्या झटिति प्रबोधनार्थं अत्र संयोज्यते—

मिथिलोपवनप्रान्ते वादेन ब्राह्मणान् जित्वा स्वात्तपरब्रह्मविद्यया जनकं
बोधयित्वा स्वशिष्यगणेन सह याज्ञवल्क्यः पुनः मिथिलोपवने कंचित्काल-
मासांचक्रे । यः सर्वज्ञकल्पः तं याज्ञवल्क्यं अविमुक्तयत्तां जिज्ञासुः
बृहस्पतिरुवाच । सर्वक्षेत्रादपि यदनु प्रसिद्धं कुत्सितं पापकर्म रौतीति कुरुः
तस्य क्षेपणपूर्वकं स्वगतजनत्राणनात् कुरुक्षेत्रम् । यद्वा—कुः पृथिवी तस्यां
रौति शब्दं करोतीति कुरुः प्राणः तदावासहेतुशरीरं कुरुक्षेत्रं तत्रत्यदेवानां
इन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिमित्तदेवस्य प्रत्यक्चिद्गतोः यजनं पूजाकरणम् । अत्र
हीन्द्रियाणि स्वोचितविषयोपहारैरात्मानं यजन्ति । सर्वेषां भूतानां इन्द्रिया-
धिष्ठातृणां वा ब्रह्मसदनं ब्रह्माप्तिस्थानम् ॥ १ ॥ यथा देवयजनसाधनं कुरुक्षेत्रं
तथा विशेषणद्वयविशिष्टमान्तरं कुरुक्षेत्रमिति बृहस्पतिप्रश्नानुरोधं मुनिराह—
अविमुक्तमिति । यत्स्वरूपं स्वाविद्याकामकर्मविमुक्तं तत् अविमुक्तं ब्रह्म
यत्रोपलभ्यते भ्रूमध्यगताज्ञाचक्रं कुरुक्षेत्रं देवानामित्याद्युक्तार्थम् । यस्मादेवं
तस्मात् यत्र क्वचन गङ्गाप्रयागादिस्थले तद्विपरीते वा गच्छति तदेव
अविमुक्तमिति मन्येत जानीयात् इति अनेन प्रकारेण इदं वै मया प्राप्तमेव ब्रह्म
कुरुक्षेत्रमित्याद्युक्तार्थम् । क्षेत्रसामान्यस्य क्षेत्रज्ञविकल्पितत्वात् तदतिरेकेण न
किंचिदस्तीत्यर्थः । अत्र अविमुक्तरूपे कुरुक्षेत्रे ब्रह्मेति विज्ञाते तद्विज्ञानानुरोधेन
जन्तोः प्राणिमात्रस्य प्राणेषूत्क्रममाणेषु स्वाज्ञानरुजं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः
परमेश्वरः संसारतारकं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं व्याचष्टे कथयति येन
“तत्त्वमसि” “अहं ब्रह्माऽस्मि” इत्युपदेशेन असौ जीवः अमृतो भूत्वा
स्वातिरिक्तभ्रमतः मोक्षी भवति स्वातिरिक्तापह्वसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया
अवशिष्यते । यस्मादेवं तस्मात् ब्रह्ममात्रज्ञानोत्पत्तेः प्राक् अविमुक्तं भ्रूमध्यगत-

तारसारोपनिषत्

ज्योतिर्लिङ्गमेव निषेवेत ज्योतिर्लिङ्गमस्मीत्यनुसंधानं कुर्यात्, “ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत् सदा यतिः” इति श्रुतेः । यावद्ब्रह्ममात्रज्ञानं नोदेति तावत् अविमुक्तं प्रत्यञ्चमात्मानमीश्वरं वा न विमुञ्चेत् ॥ २ ॥ याज्ञवल्क्येनैवमुक्तो बृहस्पतिः तदुक्तमङ्गीचकारेत्याह—एवमेवेति ॥ ३ ॥]

नारायणस्थूलाष्टाक्षरतारकम्

अथ हैनं भारद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं किं तारकं किं तारयतीति ॥ ४ ॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः—ॐ नमो नारायणायेति तारकं चिदात्मकमित्युपासितव्यम् । ओमित्येकाक्षरमात्मस्वरूपम् । नम इति द्व्यक्षरं प्रकृतिस्वरूपम् । नारायणायेति पञ्चाक्षरं ^१परब्रह्मस्वरूपम् । इति य एवं वेद सोऽमृतो भवति । ओमिति ब्रह्मा भवति नकारो विष्णुर्भवति मकारो रुद्रो भवति नकार ईश्वरो भवति रकारोऽण्डविराड् भवति यकारः पुरुषो भवति णकारो भगवान् भवति यंकारः परमात्मा ^२भवति । एतद्वै नारायणस्याष्टाक्षरं परमपुरुषो भवति ॥ ५ ॥

अयमृगवेदः प्रथमः ॥ ६ ॥

श्रीमन्नारायणतारकबुभुत्सया भारद्वाजो याज्ञवल्क्यं पृच्छतीत्याह—अथेति ॥ ४ ॥ भारद्वाजप्रश्नोत्तरं स होवाच । किं तत् ? इत्यत्र— ॐ नमो नारायणायेति । ॐ नमो नारायणायेत्यत्र नमःशब्दवाच्यजीवताप्रासप्रत्यक्षचैतन्यं त्वंपदलक्ष्यमुच्यते, नारायणशब्दवाच्येश्वरताप्रासपरचैतन्यं तत्पदलक्ष्यमुच्यते, अयेति चतुर्थी लक्ष्यद्वयस्यैकत्वख्यापनार्थेत्यत्र—

^१ ‘पर’ इति (अ, क) कोशयोः नास्ति. परं—अ १, अ २, मु. ^२ भवतीति—अ.

नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ।
असीत्यर्थे चतुर्थी स्यादेवं मन्त्रेषु योजयेत् ॥

इति श्रुतेः । पराक्सापेक्षप्रत्यगभिन्नब्रह्मगतसविशेषापहवसिद्धं निष्प्रतियोगिक-
ब्रह्ममात्रं ओमित्युक्तं तुरीयोङ्काराग्रविद्योततुरीयतुरीयस्य व्यष्टिसमष्टयात्मकजाग्र
जाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तभेदगतविशेषापहवसिद्धत्वात् । ओमित्येकाक्षरमेव
स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमसन्तारणात् तारकं चिदात्मकं निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रमिति
उपासितव्यं चिन्त्यमित्यर्थः । उक्तार्थं तद्वेदनफलं चाह—ओमिति ।
ओमित्येकाक्षरमात्मस्वरूपं तस्यानात्मापहवसिद्धत्वात् “जीवभूतां महाबाहो
ययेदं धार्यते जगत्” इति स्मृत्यनुरोधेन । नम इति द्व्यक्षरं प्रकृतिस्वरूपं ;
जीवप्रकृतिगतहेयांशापवादाधिष्ठानं प्रत्यक्चैतन्यमित्यर्थः । अष्टाक्षरप्रतिपाद्यं
ब्रह्माहमस्मीति वेदनसमकालं सोऽमृतो विदेहमुक्तो भवति इत्यर्थः । प्रातिस्विकेन
अष्टाक्षराक्षरार्थमाह—ओमितीति । अष्टाक्षरदेवताभेदगतहेयांशासंभवप्रबोध-
सिद्धस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया परमपुरुषत्वात् अष्टाक्षरविशिष्टार्थस्तु ब्रह्मै-
वेत्यर्थः ॥ ९ ॥ अयं ऋग्वेदः प्रथमः, अस्य खण्डस्य ऋग्वेदमस्तकसारत्वात् ॥ ६ ॥

इति प्रथमः खण्डः

नारायणसूक्ष्माष्टाक्षरतारकम्

ॐ इत्येतदक्षरं परं ब्रह्म । तदेवोपासितव्यम् । एतदेव
सूक्ष्माष्टाक्षरं भवति । तदेतदष्टात्मकोऽष्टधा भवति । अकारः
प्रथमाक्षरो भवति । उकारो द्वितीयाक्षरो भवति । मकारस्तृतीयाक्षरो
भवति । बिन्दुस्तुरीयाक्षरो भवति । नादः पञ्चमाक्षरो भवति । कला
षष्ठाक्षरो भवति । कलातीता सप्तमाक्षरो भवति । तत्परश्चाष्टमाक्षरो
भवति । तारकत्वात्तारको भवति । तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि ।
तदेवोपासितव्यम् ॥ १ ॥

एवं स्थूलाष्टाक्षरमुक्त्वा सूक्ष्माष्टाक्षरमाह—ओमिति ॥ १ ॥

प्रणवावयवदेवताः

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

अकारादभवद्ब्रह्मा जाम्बवानिति संज्ञकः ।

उकाराक्षरसंभूत उपेन्द्रो हरिनायकः ॥ २ ॥

मकाराक्षरसंभूतः शिवस्तु हनुमान् स्मृतः ।

बिन्दुरीश्वरसंज्ञस्तु शत्रुघ्न^१श्चकराट् स्वयम् ॥ ३ ॥

नादो महाप्रमुञ्ज्यो भरतः शङ्खनामकः ।

कलायाः पुरुषः साक्षाल्लक्ष्मणो धरणीधरः ॥ ४ ॥

कलाऽतीता भगवती स्वयं सीतेति संज्ञिता ।

तत्परः परमात्मा च श्रीरामः पुरुषोत्तमः ॥ ५ ॥

एवं अकारादिप्रणवावयवदेवताप्रतिपादकाः मन्त्राः भवन्तीत्याह—
अत्रैति । जाम्बवतो ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मत्वं, अंशांशिनोरभेदात् । तथा
सर्वत्रैवमूह्यम् ॥ २-४ ॥ कैवल्यश्रीस्वरूपेण सर्वत्र राजते स्वे महिम्नि महीयते
इति श्रीरामः, तस्य परमात्मतया पुरुषोत्तमत्वात् ॥ ५ ॥

श्रीरामस्य सर्वात्मकत्वम्

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानां भूतं भव्यं
भविष्यद्यच्चान्यत् तत्त्वमन्त्रवर्णदेवताछन्दो^२ऋक्कलाशक्तिसृष्ट्यात्मक-
मिति । य एवं वेद ॥ ६ ॥

यजुर्वेदो द्वितीयः ॥ ७ ॥

^१ शत्रुघ्न—क.

^२ ऋषिकला—उ १.

तस्योद्धारार्थत्वेन स एव सर्वं, तदतिरिक्तं नास्ति, इत्याह—ओमिति । कालत्रयपरिच्छेद्यं यद्यद्वस्त्वस्ति तत्सर्वं ओद्धारार्थः श्रीराम एव, रामादतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति इत्यत्र—

इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ।

रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात् किञ्चिन्न विद्यते ॥

इति स्मृतेः । किञ्च—यच्चेति । यच्चान्यत् कालत्रयापरिच्छेद्यं अव्यक्तादिकं श्रोत्रादीश्वरा^१त्मकं षण्णवतितत्त्वजातं च नादप्रभवसप्तकोटिमहामन्त्रजातं च अकारादिवर्णजातं च ब्रह्मादिदेवताजातं च गायत्र्यादिछन्दोजातं च ऋगादिवेद-जातं च प्राणादिकलाजातं च तत्तत्पदार्थगतकाठिन्यादिशक्तिजातं च क्रियाऽऽदि-शक्तित्रयं वा सृष्ट्यात्मकमिति सृष्ट्यादिपञ्चकृत्योपलक्षणार्थं एतत्सर्वं श्रीराम एव । रामादतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति इति यो वेद स एवंपराम एव भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ यजुर्वेदो द्वितीयः, द्वितीयखण्डस्य यजुर्वेदमस्तकसारार्थत्वात् ॥ ७ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

जाम्बवदाद्यष्टतनुमन्ताः

अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाच—अथ कैर्मन्त्रैः परमात्मा प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति ^२तन्नो ब्रूहि भगव इति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—

ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवानकारवाच्यो ^३जाम्बवान् भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २ ॥ ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवानुकारवाच्य उपेन्द्रस्वरूपो हरि-

^१ रान्तं—उ। १.

^२ तन्नो—अ, सु.

^३ ब्रह्मस्वरूपो जा—अ.

नायको भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३ ॥ ॐ यो ह वै
 परमात्मा नारायणः स भगवान् मकारवाच्यः शिवस्वरूपो हनुमान्
 भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४ ॥ ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा
 नारायणः स भगवान् बिन्दुस्वरूपः शत्रुघ्नो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै
 नमो नमः ॥ ५ ॥ ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स
 भगवान् नादस्वरूपो भरतो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ६ ॥
 ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवान् कलास्वरूपो लक्ष्मणो
 भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ७ ॥ ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा
 नारायणः स भगवान् कलाऽतीता भगवती सीता चित्स्वरूपा भूर्भुवः
 सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ८ ॥ ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा
 नारायणः स भगवान् तत्परः परमपुरुषः पुराणपुरुषोत्तमो नित्यशुद्ध-
 बुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दानन्ताद्वयपरिपूर्णः परमात्मा ब्रह्मैवाहं रामोऽस्मि
 भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९ ॥

जाम्बवदादितनुमन्त्रबुभुत्सया भारद्वाजो याज्ञवल्क्यं पृच्छतीत्याह—
 अथेति । किमिति ? अथेति ॥ १ ॥ यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा
 सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ । यो ह वै कैवल्यश्रीस्वरूपेण परमात्माऽवशिष्यते स भगवान्
 अकारादिवाच्यो जाम्बवदादिरूपी भवति भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ।
 वस्तुतः श्रीरामरूपेण यो निर्विशेषात्मा तस्मै वै नमो नमः स एवाहमस्मीति
 भावयेत्यर्थः ॥ २-८ ॥ यदकारादिमात्रातद्वाच्यभेदभिन्नं तत्परः तस्मात् परः
 क्षराक्षरकलनावैरळ्यात् परमपुरुषः चिरन्तनत्वात् पुराणपुरुषोत्तमः परमात्म-
 रूपत्वात् अनित्याशुद्धाज्ञानबन्धवैरळ्यात् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तः सत्तामात्रत्वात्
 सत्यः आनन्दघनत्वात् परमानन्दः परिच्छिन्नद्वैताभावात् अनन्ताद्वयपरिपूर्णः
 परमात्मा ब्रह्मैवाहं रामोऽस्मीत्यर्थः ॥ ९ ॥

विद्यापठनमन्त्रार्थज्ञानयोः फलम्

'एतदष्टविधमन्त्रं योऽधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स स्थाणुपूतो भवति स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति श्रीमन्नारायणाष्टाक्षरानुस्मरणेन गायत्र्याः शतसहस्रं जप्तं भवति प्रणवानामयुतं जप्तं भवति दशपूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति । नारायणपदमवाप्नोति य एवं वेद ॥ १० ॥

विद्यापठनफलमुक्त्वा मन्त्रार्थज्ञानफलमाह— नारायणपदमिति ॥ १० ॥

ज्ञानिप्राप्यपरमपदम्

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥ ११ ॥ तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ १२ ॥ इत्युपनिषत् सामवेदस्तृतीयः पादः ॥ १३ ॥

तद्विष्णोरिति मन्त्रस्तु आरुणिकोपनिषदि व्याख्यातः ॥ ११-१२ ॥ उपनिषच्छब्दः तारसारोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः । सामवेदः तृतीयः, तृतीयखण्डस्य सामवेदमस्तकसारत्वात् ॥ १३ ॥

इति तृतीयः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
तारसारोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं स्फुटम् ।
तारसारोपनिषदो व्याख्या पञ्चाशदीरिता ॥

इति श्रीमदीश.द्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकनवतिसङ्ख्यापूरकं
तारसारोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

त्रिपाद्विभूति- महानारायणोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

प्रथमोऽध्यायः

परमेष्ठिनः परमरहस्यजिज्ञासा

अथ परमतत्त्वरहस्यं जिज्ञासुः परमेष्ठी देवमानेन सहस्र-
संवत्सरं तपश्चचार । सहस्रवर्षेऽतीतेऽत्युग्रतीव्रतपसा प्रसन्नं भगवन्तं
महाविष्णुं ब्रह्मा परिपृच्छति भगवन् परमतत्त्वरहस्यं मे ब्रूहीति ।
परमतत्त्वरहस्यवक्ता त्वमेव नान्यः कश्चिदस्ति । तत् कथमिति ।
तदेवोच्यते । त्वमेव सर्वज्ञः । त्वमेव सर्वशक्तिः । त्वमेव सर्वाधारः ।
त्वमेव सर्वस्वरूपः । त्वमेव सर्वेश्वरः । त्वमेव सर्वप्रवर्तकः । त्वमेव
सर्वपालकः । त्वमेव सर्वनिवर्तकः । त्वमेव सर्वनिर्वर्तकः । त्वमेव
सदसदात्मकः । त्वमेव सदसद्विलक्षणः । त्वमेवान्तर्बहिर्व्यापकः ।
त्वमेवातिसूक्ष्मतरः । त्वमेवातिमहतो महीयान् । त्वमेव महामूला-

विद्या^१विरहः । त्वमेव महामूलाविद्याविवर्तकः । त्वमेव सर्वमूला-
विद्यानिवर्तकः । त्वमेवाविद्याविहारः । त्वमेवाविद्याधारकः । त्वमेव
विद्यावेद्यः । त्वमेव विद्यास्वरूपः । त्वमेव विद्याऽतीतः । त्वमेव
सर्वकारणहेतुः । त्वमेव सर्वकारणसमष्टिः । त्वमेव सर्वकारणव्यष्टिः ।
त्वमेवाखण्डानन्दः । त्वमेव परिपूर्णानन्दः । त्वमेव निरतिशयानन्दः ।
त्वमेव तुरीयतुरीयः । त्वमेव तुरीयातीतः । त्वमेवानन्तोपनिषद्विमृग्यः ।
त्वमेवाखिलशास्त्रैर्विमृग्यः । त्वमेव ब्रह्मेशानपुरन्दरपुरोगमैरखिलाभरैर-
खिलागमैर्विमृग्यः । त्वमेव सर्वमुमुक्षुभिर्विमृग्यः । त्वमेवामृतमयैर्वि-
मृग्यः । त्वमेवामृतमयस्त्वमेवामृतमयस्त्वमेवामृतमयः । त्वमेव सर्वं
त्वमेव सर्वं त्वमेव सर्वम् । त्वमेव मोक्षस्त्वमेव मोक्षदस्त्वमेवाखिलमोक्ष-
साधनम् । न किञ्चिदस्ति त्वद्व्यतिरिक्तम् । त्वद्व्यतिरिक्तं यत्
किञ्चित् प्रतीयते तत् सर्वं बाधितमिति निश्चितम् । तस्मात्त्वमेव वक्ता
त्वमेव गुरुस्त्वमेव पिता त्वमेव सर्वनियन्ता त्वमेव सर्वं त्वमेव सदा
ध्येय इति सुनिश्चितः ॥ १ ॥

यत्रापह्वतां याति स्वाविद्यापदविभ्रमः ।

त्रिपान्नारायणाख्यं तत् स्वमात्रमवशिष्यते ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तदेवदर्शिशाखामस्तकरूपेयं त्रिपाद्विभूतिमहा-
नारायणोपनिषत् पूर्वोत्तरकाण्डाभ्यामलंकृता स्वाविद्यापादप्रविभक्तस्वाविद्यापादा-
दिपादचतुष्टयप्रकाशिका साकारनिराकारेयतां प्रकटयन्ती मूलाविद्यासंभूतिप्रच्छय-
प्रकाशनव्यग्रा सम्यङ्निरूपितपरमरहस्यां संसारतरणोपायपूर्वकमोक्षमार्गदर्शिनी

^१ विहारः—उ, उ १.

त्रिपाद्विभूतिपरमवैकुण्ठमहानारायणचक्रस्वरूपप्रकटनपूर्वकं सर्वापह्वसिद्धनिष्प्रति-
योगिकत्रैपदब्रह्ममात्रप्रकटनपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः स्वल्पप्रन्थतो विवरण-
मारभ्यते । परमेष्ठिनारायणप्रश्नप्रतिवचनपुरातनगुरुशिष्यसंवादरूपाख्यायिका
वक्ष्यमाणविद्यास्तुत्यर्था, यदर्थं परमेष्ठयपि देवमानतः सहस्रसंवत्सरं तपश्चरित्वा
परमतत्त्वरहस्यं नारायणमुखतो विज्ञातवानिति । प्रकृताख्यायिकामवतारयति—
अथेति । तपश्चचार खलु । ततः सहस्रवर्षे अतीतेऽत्युग्रतीव्रतपसा केवलकुम्भकेन
तत्तपःफलं दातव्यमिति प्रसन्नं भगवन्तम् । परिपृच्छति—किमिति ?
भगवन्निति । परमतत्त्वरहस्यज्ञा विराडादयः सन्ति तन्निकटे ज्ञातुमर्हसीति यदि
वदसि तदा परमेति । तव समस्तवेदान्तसिद्धान्तपरिशिष्टपरमतत्त्वरूपत्वात्
न हि त्वदतिरेकेण परमतत्त्वज्ञः कोऽप्यस्ति । तत्राक्षिपति—तत् कथमिति ।
त्वदतिरेकेण न कोऽप्यस्तीति यन्मयोक्तं प्रमाणतः तदेवोच्यते । किं तत् इत्यत्र
युगपच्चतुर्मुखतः ऊर्ध्वबाहुः एवमुपन्यस्यति, तत्प्रकारमाचष्टे—त्वमेव सर्वज्ञ
इत्यादि । त्वमेव सर्वप्रवर्तकः, हृषीकेशतया कारणग्रामप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । त्वमेव
सर्वकारणहेतुः, स्वस्वकार्यापेक्षया कारणभावमापन्नानामपि हेतुत्वात् । त्वमेव
तुरीयतुरीयः, तुरीयोङ्काराप्रविद्योतमानत्वात् । त्वमेव अमृतमयैः नित्यमुक्तैः
सनकादिभिरपि स्वात्मतया विमृग्यः ॥ १ ॥

सर्वरहस्यबोधको गुरुशिष्यसंवादः

परमतत्त्वज्ञस्तमुवाच महाविष्णुरतिप्रसन्नो भूत्वा साधुसाध्विति
साधुप्रशसापूर्वकं—सर्वं परमतत्त्वरहस्यं ते कथयामि । सावधानेन शृणु ।
ब्रह्मन् देवदर्शीत्याख्याथर्वणशाखायां परमतत्त्वरहस्याख्याथर्वणमहा-
नारायणोपनिषदि गुरुशिष्यसंवादः पुरातनः प्रसिद्धतया जागर्ति ।
पुरा तत्स्वरूपज्ञानेन महान्तः सर्वे ब्रह्मभावं गताः यस्य श्रवणेन
सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति यस्य ज्ञानेन सर्वरहस्यं विदितं भवति ॥ २ ॥

परमेष्ठिना एवं सर्वरूपेण सर्वप्रासचिन्मात्ररूपेण च संस्तुतोऽयं नारायणः
परमतत्त्वज्ञः तमुवाच । यत् त्वयोक्तं तत् साधु साध्विति साधुश्रंसापूर्वकं
परमेष्ठिकृतस्तुतिमङ्गीकृत्य सर्वमिति । तं स्वाभिमुखीकृत्य पुरा स्वनि-
श्वासवदप्रयत्नतः स्वाविर्भूतऋगादिचतुर्वेदप्रविभक्तदेवदर्शीति । इत्युक्त्वा
तत्संवादनिर्वृत्तार्थं स्तौति—पुरेति ॥ २ ॥

शिष्यप्रश्नः

तत्स्वरूपं कथमिति ॥ ३ ॥

शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो
ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत् प्रणम्य प्राञ्जलिभूत्वा
विनयेनोपसङ्गम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य
वक्तव्यमिति ॥ ४ ॥

इति भगवन्मुखादवगम्य तद्बुभुत्सया तदियत्तां पृच्छति—तत्स्वरूपं
कथमिति ॥ ३ ॥ वक्ष्यमाणाख्यायिकामवतार्य गुरुशिष्यलक्षणप्रकटनपूर्वकं
तत्प्रश्नप्रतिवचनसर्वस्वमुपन्यस्यति—शान्त इत्यादिना ॥ ४ ॥

गुरुणा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनम्

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं ^१बहूकृत्य गुरुर्वदति—परम-
तत्त्वरहस्योपनिषत्क्रमः कथ्यते । सावधानेन श्रूयताम् । कथं ब्रह्म ।
कालत्रयाबाधितं ब्रह्म । सर्वकालाबाधितं ब्रह्म । सगुणनिर्गुणस्वरूपं
ब्रह्म । आदिमध्यान्तशून्यं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । मायाऽतीत-
गुणातीतं ब्रह्म । अनन्तमप्रमेयाखण्डपरिपूर्णं ब्रह्म । अद्वितीयपरमा-

^१ बहु—क, अ २.

नन्दशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वरूपव्यापकाभिन्नापरिच्छिन्नं ब्रह्म । सच्चिदानन्दस्वप्रकाशं ब्रह्म । मनोवाचामगोचरं ब्रह्म । अखिलप्रमाणागोचरं ब्रह्म । अमितवेदान्तवेद्यं ब्रह्म । देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म । सर्वपरिपूर्णं ब्रह्म । तुरीयं निराकारमेकं ब्रह्म । अद्वैतमनिर्वाच्यं ब्रह्म । प्रणवात्मकं ब्रह्म । प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म । प्रणवाद्यखिलमन्त्रात्मकं ब्रह्म । पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म ॥ ९ ॥

गुरुर्वदति—किं तत्? इत्यत्र परमेति । कथ्यमानं वस्तु कीदृशं? इत्यत्र—कथमिति । सर्वकालाबाधितं ब्रह्म कालस्यापि कारणत्वात् । स्वाज्ञस्वज्ञदृष्ट्या सगुणेति । आदिमध्यान्तशून्यं आदिमध्यान्तवद्विधापवादसिद्धत्वात् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म स्वातिरिक्तसर्वाभावात् । मायाऽतीतगुणातीतं मायातत्कार्यवैरव्यात् । अनन्तमप्रमेयाखण्डपरिपूर्णं—यस्यान्तो न विद्यते तदबन्तं, यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणामेयं तदप्रमेयं, अत एव सर्वत्र अखण्डतया परिपूर्णम् । अद्वितीयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वरूपव्यापकाभिन्नापरिच्छिन्नं—द्वैतदुःखाभावात् अद्वितीयानन्दत्वं, अशुद्धाज्ञानबन्धवैरव्यात् शुद्धबुद्धमुक्तत्वं, असत्यव्याप्याभावात् सत्यस्वरूपतया व्यापकं, सर्वाभिन्नत्वात् अभिन्नं, तस्मात् अपरिच्छिन्नम् । प्रमाणाविषयत्वे तत्सिद्धिप्रमाणाभावात् इत्यत्र अमितवेदान्तवेद्यं ब्रह्म । वेद्यतया परिच्छिन्नत्वशङ्कायां देशत इति । ब्रह्मवाक्यानां महावाक्यरत्नावलीप्रविभक्तब्रह्मस्वरूपमहावाक्यरत्नावलीप्रभालोचने प्रायशो व्याख्यातत्वात् [अत्रत्यवाक्यानां न व्याख्यापेक्षा] ॥ ९ ॥

पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म

किं तत् पादचतुष्टयं भवति ॥ ६ ॥

अविद्यापादः सुविद्यापादश्चानन्दपादस्तुरीयपादश्चेति । तुरीयपादस्तुरीयतुरीयं तुरीयात्मीतं च ॥ ७ ॥

स्तु तुरी—अ १, अ २.

ब्रह्मणः पादचतुष्टयात्मकत्वं कथमित्याक्षिपति—किं तत् पादचतुष्टयं भवतीति ॥ ६ ॥ स्वाज्ञादिदृष्टिविकल्पितब्रह्मातिरिक्तयोः स्वं ब्रह्म त्रिपात् स्वातिरिक्तापह्ववसिद्धनिष्प्रतियोगिकपरमात्मा स्वातिरिक्ताविद्यापद्मोद्दे सत्यसति स्वमात्रमवशिष्यते । व्यष्टिसमष्टिचतुरंशकलनाकलितस्वातिरिक्तोऽयं अविद्यापादः । तत्प्रविभक्तस्थूलादिचतुरंशानामविद्याविद्याऽऽनन्दतुर्यभेदेन नाम निर्दिशति—अविद्येति । अविद्यापादस्थूलादिक्रमेण अविद्यापाद इत्यादि । तत्र—तुर्यपादस्तुर्यतुरीयं तुरीयातीतं च भवति । तुर्यपादप्रविभक्तचतुरंशेषु स्वात्मावरणभेदप्रतीत्यवास्तवत्वकलनाकलितस्थूलादिभागत्रयापह्ववसिद्धं तुर्यतुरीयपदं पराभूमिसंज्ञितं तुर्यतुरीयं त्रैपदं ब्रह्ममात्रं यदवशिष्यते तदेव तुर्यातीतं च भवति । तुर्यतुर्यपादस्य निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषब्रह्ममात्रतया तुर्यतुर्यत्वं सिद्धमेव, तुरीयोङ्काराग्रविद्योतत्वात्, “तुरीयोङ्काराग्रविद्योतं तुर्यतुर्यं” इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

पादचतुष्टयभेदः

कथं पादचतुष्टयस्य भेदः ॥ ८ ॥

अविद्यापादः प्रथमः पादो विद्यापादो द्वितीयः आनन्दपाद-

स्तृतीयस्तुरीयपादस्तुरीय इति । मूलाविद्या प्रथमपादे नान्यत्र ।

विद्याऽऽनन्दतुरीयांशाः सर्वेषु पादेषु व्याप्य तिष्ठन्ति ॥ ९ ॥

प्रकृते तु—कथमिति ॥ ८ ॥ तदेव विवृणोति—अविद्यापाद इति । स्वाविद्यापदस्थूलांशः अविद्यापादः प्रथमः पादः स्थूलांशस्य प्रार्थंस्यात् । विद्यापादो द्वितीयः, द्वितीयादिपादानां प्रथमपादापेक्षया सूक्ष्मत्वेन विद्यात्वं, बीजत्वेन आनन्दत्वं, चतुर्थांशत्वेन तुर्यत्वं चोपपद्यते । प्राथमिकपाद एव अविद्यापादः विद्याऽऽनन्दादिपादत्रयं त्रिपादिति चेत्—न, त्रिपाच्चैतन्न्यस्य निर्विशेषतया विद्याऽऽनन्दादिविभागकलनासंभवात् । त्रिपादिति सङ्ख्यावाचित्वेन निर्विभागता कुत इति चेत्—न, अन्वर्थस्य युक्तत्वात् । कथमन्यार्थो कुञ्ज्यत

इयत्र त्रय्यन्ते स्वावशेषतया पद्यते ज्ञायते इति व्युत्पत्तियोगात् त्रिपाच्छब्देन निर्विशेषं ब्रह्म उच्यते । तथाच स्मृतिः—

त्रय्यन्ते स्वावशेषेण पद्यते ज्ञायते च यत् ।

तदेव हि त्रिपाद्ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यते ॥ इति ॥

व्यावहारिकी मूलाविद्या प्रथमपादे स्वाविद्यापदप्रविभक्तस्थूलांशे, तस्य पञ्चीकृत-पञ्चमहाभूतविकारत्वेन व्यवहारक्षमत्वात् । अत्रैव व्यावहारिकी मूलाविद्या युज्यते नान्यत्र द्वितीयादिपादेषु, तेषां अपञ्चीकृतपञ्चभूतमहदव्यक्तविकृतितया स्फुटं व्यवहर्तुमशक्यत्वात् । स्वाविद्यापदसूक्ष्मबीजादिकलनाकलितविद्याऽऽनन्द-तुरीयांशाः सर्वेषु पादेषु स्थूलादिषु व्याप्य तिष्ठन्ति । तत्र प्रकृताविद्यापादे तत्सूक्ष्मांशविद्यापादो व्याप्य वर्तते नानन्दादिपादयोः । आनन्दपादस्तु विद्याऽविद्यापादयोः व्याप्य वर्तते न तुर्यपादे । तुर्यपादस्तु स्वार्वाकपादत्रयं व्याप्य वर्तते तत्तत्कारणस्य स्वस्वकार्यव्यापकत्वप्रसिद्धेः ॥ ९ ॥

विद्याऽऽनन्दतुरीयाणां भेदः

एवं तर्हि विद्याऽऽदीनां भेदः कथमिति ॥ १० ॥

तत्तत्प्राधान्येन तत्तद्व्यपदेशः । वस्तुतस्त्वभेद एव । तत्राधस्तनमेकं पादमविद्याशबलं भवति । उपरितनपादत्रयं शुद्ध-बोधानन्दलक्षणममृतं भवति । तच्चालौकिकपरमानन्दलक्षणखण्डामित-तेजोराशिर्ज्वलति । तच्चानिर्वाच्यमनिर्देश्यमखण्डानन्दैकरसात्मकं भवति । तत्र मध्यमपादमध्यप्रदेशेऽमिततेजःप्रवाहाकारतया नित्यवैकुण्ठं विभाति । तच्च निरतिशयानन्दाखण्डब्रह्मानन्दनिज-मूर्त्याकारेण ज्वलति । अपरिच्छिन्नमण्डलानि यथा दृश्यन्ते तद्द-खण्डानन्दामितवैष्णवद्विव्यतेजोराश्यन्तर्गतविलसन्महाविष्णोः परम-

पदं विराजते । दुरधोदधिमध्य^१स्थितामृतामृतकलशवद्वैष्णवं धाम
 परमं संदृश्यते । सुदर्शनदिव्यतेजोऽन्तर्गतः सुदर्शनपुरुषो यथा
 सूर्यमण्डलान्तर्गतः सूर्यनारायणोऽमितापरिच्छिन्नद्वैतपरमानन्दलक्षण-
 तेजोराश्यन्तर्गत आदिनारायणस्तथा संदृश्यते । स एव तुरीयं ब्रह्म
 स एव तुरीयातीतः स एव विष्णुः स एव समस्तब्रह्मवाचकवाच्यः स
 एव परं ज्योतिः स एव मायाऽतीतः स एव गुणातीतः स एव
 कालातीतः स एवाखिलकर्मातीतः स एव सत्योपाधिरहितः स एव
 परमेश्वरः स एव चिरंतनः पुरुषः प्रणवाद्यखिलमन्त्रवाचकवाच्य
 आद्यन्तशून्य आदिदेशकालवस्तुतुरीयसंज्ञानित्यपरिपूर्णः पूर्णः सत्य-
 संकल्प आत्मारामः कालत्रयाबाधितनिजस्वरूपः स्वयंज्योतिः
 स्वयंप्रकाशमयः स्वसमानाधिकरणशून्यः स्वसमानाधिकशून्यो
 नदिवारात्रिविभागो नसंवत्सरादिकालविभागः स्वानन्दमयानन्ता-
 चिन्त्यविभव आत्माऽन्तरात्मा परमात्मा ज्ञानात्मा तुरीयात्मेत्यादि-
 वाचकवाच्योऽद्वैतपरमानन्दो विभुर्नित्यो निष्कलङ्को निर्विकल्पो
 निरञ्जनो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति
 कश्चिदिति ॥ ११ ॥

तथा सति विद्याऽऽदीनां भेदः कथमित्याक्षिप्य तत्तत्प्राधान्येन
 तत्तद्व्यपदेशः । वस्तुतस्तु स्वाविद्यातदधिष्ठानचैतन्यव्याप्तेः समत्वेन अभेद एव
 युज्यते । पूर्वोक्तपादचतुष्टयेषु स्वाविद्यातदधिष्ठानस्फूर्तिः कुत्रेत्यत आह—

तत्रेति । प्राथमिकपादस्याविद्याप्रविभक्ताविद्यांशत्वेन अविद्याशबलत्वम् । तत्राविद्यायाः प्राधान्यम् । अधिष्ठानचैतन्यं प्रधानमप्युपसर्जनवत् भासते । उपरितनपादत्रये तु चैतन्यमेव प्रधानं, स्वाविद्या तूपसर्जनम् । अत्र स्वाविद्यांश-
तानवतः चैतन्यांशस्फूर्तिबाहुल्यसिद्धिः स्यात् इत्यत एवोच्यते—उपरितनेति । स्वाविद्यातदधिष्ठानप्राधान्योपसर्जनकलना माऽस्तु, आद्यं पदं आविद्यकं
विद्याऽऽदिपादत्रयं निर्विशेषत्रिपाद्ब्रह्मेति चेत्—न, सर्वापह्ववसिद्धत्रिपाद्ब्रह्ममात्रस्य
निष्प्रतियोगिकतया विद्याऽऽनन्देत्यादिव्यपदेशासंभवात् । न हि निर्विशेषत्रैपदे
विश्वक्सेनादिवैकुण्ठकल्पना उपपद्यते, नापि गत्यागतिरपि संभवति । श्रूयते
ह्यग्रे अविद्यापादमुल्लुङ्घय विद्याऽविद्ययोः सन्धौ विश्वक्सेनवैकुण्ठपुरमाभाति,
विद्यानन्दमयोः सन्धिः, तत्र आनन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहेषु स्नात्वेत्यादि ।
यस्मादेवं तस्मात् अविद्यातत्कार्यारोपप्रधानोऽयमविद्यापादप्रविभक्ताविद्यापादः,
अविद्यापादप्रविभक्तविद्याऽऽनन्दादिपादत्रयं तु अविद्यातत्कार्यारोपवादप्रधानं स्वाधि-
करणचैतन्यदीप्तं सत् तद्भावापन्नतया चकास्तीत्याह—तच्चालौकिकेति । यत्
पादचतुष्टयारोपापवादाधिकरणं तच्च अनिर्वाच्यम् । तत्र पादचतुष्टये
विद्याऽऽनन्दाख्यौ मध्यमपादौ तयोः विद्याऽऽनन्दपादयोः मध्यप्रदेशे उक्त-
विशेषणविशिष्टं नित्यवैकुण्ठं विभाति । यत् नित्यवैकुण्ठमित्युक्तं वस्तुतः
तच्च निरतिशयेति । तत्रत्यविशेषांशापाये तदेव निर्विशेषत्रैपदं ब्रह्म स्वाज्ञादि-
दृश्यनुरोधेन नानाव्यपदेशार्हवत् [हं सत्] वस्तुतः स्वेन रूपेण भातीत्याह—
स एवेत्यादिना ॥ ११ ॥

एतद्वेदनफलम्

य एवं वेद स पुरुषस्तदीयोपासनया तस्य सायुज्यमेत्य-
संशयमित्युपनिषत् ॥ १२ ॥

“एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्” इति वेदनसमकालं
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावस्थानलूक्षणविकलेबरकैवल्यमेति । तदीयं शबलं ब्रह्म

तदुपासनातारतम्यानुरोधेन सालोक्यादिसायुज्यान्तमुक्तिमेतीयत्र—“सालो-
क्यादिचतुर्मुक्तिः मदुपासनया भवेत्” इति श्रुतेः । इत्युपनिषच्छब्दः
प्रथमाध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १२ ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि पादचतुष्टयस्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

साकारनारायणस्य नित्यत्वविरोधशङ्का

अथेति होवाच छात्रो गुरुं भगवन्तम्—भगवन् वैकुण्ठस्य
नारायणस्य च नित्यत्वमुक्तम् । स एव तुरीयमित्युक्तमेव । वैकुण्ठः
साकारो नारायणः साकारश्च । तुरीयं तु निराकारम् । साकारः
सावयवो निरवयवं निराकारम् । तस्मात् साकारमनित्यं नित्यं निराकार-
मिति श्रुतेः । यद्यत् सावयवं तत्तदनित्यमित्यनुमानाच्चेति प्रत्यक्षेण
दृष्टत्वाच्च । अतस्तयोरनित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति । कथमुक्तं
नित्यत्वमिति । तुरीयमक्षरमिति श्रुतेः तुरीयस्य नित्यत्वं प्रसिद्धम् ।
नित्यत्वानित्यत्वे परस्परविरुद्धधर्मौ । तयोरेकस्मिन् ब्रह्मण्यत्यन्तविरुद्धं
भवति । तस्माद्वैकुण्ठस्य च नारायणस्य चानित्यत्वमेव वक्तुमुचितं
भवति ॥ १ ॥

“आदिनारायण एव तुरीयं ब्रह्म” इत्युक्तम् ; तस्य साकारनिराकार-
ताऽसंभवं मन्यमानः पृच्छति—अथेति । नित्यत्वमुक्तं नित्यवैकुण्ठं
विभातीति ॥ १ ॥

साकारस्य सोपाधिकनिरुपाधिकभेदः

सत्यमेव भवतीति देशिकः परिहरति । साकारस्तु द्विविधः
सोपाधिको निरुपाधिकश्च ॥ २ ॥

यत् त्वयोक्तं तत् सत्यमेव । अर्धाङ्गीकारे सत्यमित्युक्तिः । परिहारक्रम-
माह—साकारस्त्विति । “ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति”, “एको नारायणो
न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्”, “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्”,

चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं रसम् ।

सर्ववर्जितचिन्मात्रं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥

इत्यादिश्रुतिसिद्धनिष्प्रतियोगिकसदसद्रूपब्रह्मातिरिक्तयोः मध्ये ब्रह्म तावत् त्रैपदं
स्वाज्ञादिदृष्टिविकल्पितस्वातिरिक्ताविद्यापदमोहे सत्यसति अव्यवहार्यतया स्वमात्र-
मवशिष्यत इत्यत्र ईशाद्यष्टोत्तरशतवेदान्ताः प्रमाणम् । न हि तत्र विवादोऽस्ति ।
स्वाज्ञादृष्टिविकल्पितस्वातिरिक्तस्तु व्यष्टिसमष्ट्यात्मकचतुश्चतुरंशविशिष्टस्वाविद्या-
पादाकारेण तत्तदंशारोपापवादाधिकरणाकारेण साकं वर्तत इति साकार
इत्युच्यते । सोऽयं साकारस्तु द्विविधः । द्वैविध्यं कथं ? इत्यत्र सोपाधिक-
निरुपाधिकभेदात् द्वैविध्यमिष्यते । साकाराविद्यापदस्थूलादिभागत्रयस्य स्वरो-
पाधिकरणविश्वविराडोत्रादिप्राज्ञबीजानुज्ञैकरसान्तचैतन्योपाधित्वात् उपाधित्वम् ।
साकाराविद्यापदतुर्यांशभागत्रयस्य तु पूर्वोक्तभागत्रयापवादाधिकरणद्वितुर्याविकल्प-
चैतन्योपाधित्वेऽपि विश्वविराडाद्यधिष्ठितभागत्रयवत् बन्धकाभावात् निरुपाधिक-
त्वमुपचर्यते ॥ २ ॥

सोपाधिकसाकारनिरूपणम्

तत्र सोपाधिकसाकारः कथमिति ॥ ३ ॥

आविद्यकमखिलकार्यकारणजालमविद्यापाद एव नान्यत्र ।

तस्मात् समस्ताविद्योपाधिः साकारः सावयव एव । सावयवत्वादवश्यम-
नित्यं भवत्येव ॥ ४ ॥

तत्र सोपाधिकः साकारः कथं? इति पृष्ठ आह—आविद्यकमिति ।
स्वाविद्याद्वयतत्कार्यकारणजालं आविद्यकं बाहुल्येन अविद्यापादप्रविभक्त-
स्थूलादिभागत्रय एवोपलभ्यते नान्यत्र । न हि तत्तुर्यभाग एवमुपलभ्यते ।
यस्मादेवं तस्मात् अस्य भागत्रयस्य सोपाधिकसाकारत्वेन सावयवत्वं ततोऽनित्य-
त्वं च स्यादिति ॥ ३-४ ॥

निरुपाधिकसाकारनिरूपणम्

सोपाधिकसाकारो वर्णितः । तर्हि निरुपाधिकसाकारः
कथमिति ॥ ५ ॥

निरुपाधिकसाकारत्रिविधः ब्रह्मविद्यासाकारश्चानन्दसाकार
उभयात्मकसाकारश्चेति । त्रिविधसाकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति
नित्यसाकारो मुक्तसाकारश्चेति । नित्यसाकारस्त्वाद्यन्तशून्यः शाश्वतः ।
उपासनया ये मुक्तिं गतास्तेषां साकारो मुक्तसाकारः । तस्याखण्ड-
ज्ञानेनाविर्भावो भवति । सोऽपि शाश्वतः ॥ ६ ॥

सोपाधिकसाकारः उक्तः, तिष्ठतु एवं, तर्हि निरुपाधिकसाकारः कथं?
इत्यत्र साकारः स्वाविद्यापदतुर्यांशो हि निरुपाधिकसाकारः । विद्याऽऽनन्दादि-
भेदेन स त्रिविधः । तत्र तत्तुर्यांशप्रविभक्तस्थूलभागोऽयं ब्रह्मविद्यासाकारः,
तत्सूक्ष्मांशस्तु आनन्दसाकारः, तद्वीजांशस्तु उभयात्मकसाकारश्चेति तुर्यपादस्य

त्रैविध्यमुक्तम् । व्यष्टिसमष्टिविभागतः त्रिविधसाकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति । तत्र समष्टिस्तु नित्यसाकारः, व्यष्टिस्तु मुक्तसाकारश्चेति । तत्र कीदृशोऽयं नित्यसाकार इत्यत्र आद्यन्तशून्यः शाश्वतः । तुर्यविराट्सूत्रबीजचैतन्यस्य निरावृतब्रह्ममात्रदृष्टित्वेन संभूतिप्रळयाभावात् आद्यन्तशून्यत्वं, तुर्यतुर्यदृष्टया शाश्वतत्वं च सिद्धमेव । व्यष्ट्यात्मकमुक्तसाकारस्वरूपं वर्णयति—उपासनयेति । इह लोके श्रवणादिनैरपेक्षयेण केवलभगवदुपासनया ये सालोक्यादिमुक्तिं भजन्ते तेषां साकारो मुक्तसाकारः । तस्य मुक्तसाकारस्य भगवदुपदिष्टवेदान्त-श्रवणजनिताखण्डज्ञानेन ब्रह्मभावाविर्भावो भवति । ब्रह्मभावापत्तितः सोऽपि शाश्वत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

मुक्तसाकारस्य शाश्वतत्वनिरूपणम्

मुक्तसाकारस्त्वैच्छिक इति अन्ये वदन्ति । शाश्वतत्वं कथमिति ॥ ७ ॥

अद्वैताखण्डपरिपूर्णनिरतिशयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्तसत्यात्मक-ब्रह्मचैतन्यसाकारत्वात् निरुपाधिकसाकारस्य नित्यत्वं सिद्धमेव । तस्मा-देव निरुपाधिकसाकारस्य निरवयवत्वात् स्वाधिकमपि दूरतो निरस्त-मेव । निरवयवं ब्रह्मचैतन्यमिति सर्वोपनिषत्सु सर्वशास्त्रसिद्धान्तेषु श्रूयते ॥

कथं पुनः मुक्तसाकारस्य शाश्वतत्वं? इत्याक्षिप्य परिहरति—मुक्तेति ॥ ७ ॥ भगवदुपदिष्टज्ञानमहिम्ना अद्वैतेति । ब्रह्माकाराकारितत्वात् सोपाधिकसाकारापेक्षया निरुपाधिकसाकारस्येति । यस्मादेवं तस्मात् । सप्रतियोगिकमपि निरवयवम् ॥ ८-१० ॥

विद्याऽऽनन्दतुरीयासाकाराणां भेदः

अथ च विद्याऽऽनन्दतुरीयाणामभेद एव श्रूयते सर्वत्र ।

विद्याऽऽदिसाकारभेदः कथमिति ॥ ९ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

सत्यमेवोक्तमिति देशिकः परिहरति । विद्याप्राधान्येन विद्यासाकारः । आनन्दप्राधान्येनानन्दसाकारः । उभयप्राधान्येनोभयात्मक^१साकारो भवति । प्राधान्येनात्र भेद एव भेदो वस्तुतस्त्व-भेद एव ॥ १० ॥

परब्रह्मणः साकारनिराकारभेदविरोधपरिहारः

भगवन्नखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरंब्रह्मणः साकारनिराकारौ विरुद्धधर्मौ । विरुद्धोभयात्मकत्वं कथमिति ॥ ११ ॥

सत्यमेवेति गुरुः परिहरति । यथा सर्वगतस्य निराकारस्य महावायोश्च * तदात्मकस्य त्वकूपतित्वेन प्रसिद्धस्य साकारस्य महावायुदेवस्य चाभेद एव श्रूयते सर्वत्र यथा पृथिव्यादीनां व्यापक^२शरीराणां ^३देवेशेषाणां च तद्विलक्षणतदभिन्नव्यापकापरिच्छिन्न-निजमूर्त्याकारदेवताः श्रूयन्ते सर्वत्र तद्वत् परब्रह्मणः सार्वार्त्मिकस्य साकारनिराकारभेदविरोधो नास्त्येव । विविधविचित्रानन्तशक्तेः परब्रह्मणः स्वरूपज्ञानेन विरोधो न विद्यते । तदभावे सत्यनन्तविरोधो विभाति ॥ १२ ॥

अथ च रामकृष्णाद्यवतारेष्वप्यद्वैतपरमानन्दलक्षणपरंब्रह्मणः परमतत्त्वपरमविभवानुसंधानं स्वीयत्वेन श्रूयते सर्वत्र । सर्वपरिपूर्ण-स्याद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तु किं वक्तव्यम् । अन्यथा सर्वपरि-पूर्णस्य परंब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलनिराकारत्वं यद्यभिमतं

^१ साकारश्चेति—मु.

^२ शरीरिणां—अ २.

^३ देवविशे—मु.

तर्हि केवलनिराकारस्य गगनस्येव परंब्रह्मणोऽपि जडत्वमा^१पाद्यते ।

तस्मात् परंब्रह्मणः परमार्थतः साकारनिराकारौ स्वभावसिद्धौ ॥ १३ ॥

साकारत्रयभेदस्य तत्प्रविभक्तस्थूलाद्यंशनिमित्तत्वात् ब्रह्मणो विश्वविश्वाद्य-
विकल्पानुज्ञैकरसान्तभेदेन साकारनिराकारत्वप्रसक्तौ विरोधं मूत्वा पृच्छति—
भगवन्निति ॥ ११ ॥ तत्र विरोधाभावे दृष्टान्तद्वयमाचष्टे—यथेति । विश्वविश्वाद्य-
विकल्पानुज्ञैकरसान्तरूपेण सार्वार्थिकस्येति । स्वरोपितविविधविकित्रा-
नन्तशक्तेः परंब्रह्मणः साकारसापेक्षनिराकारगतविशेषांशापहवसिद्धनिष्प्रति-
योगिकब्रह्ममात्रस्वरूपज्ञानेन साकारनिराकारविरोधो न विद्यते ब्रह्ममात्रस्य
निष्प्रतियोगिकनिराकारत्वेन विरोधस्फूर्त्यनवकाशात् ॥ १२ ॥

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्भूतं मम ॥ इति ॥

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनञ्जय ॥

इत्यादिपरमतत्त्वविभवानुसन्धानं रामकृष्णाद्यवतारेष्वपि श्रूयते । निष्प्रति-
योगिकपूर्णभावमापन्नब्रह्ममात्रस्य किं वक्तव्यं यद्वावापत्तितोऽप्यंशावतारा अपि
निर्विशेषब्रह्मभावनया अंशांशिभावविकला बभूवुः । साक्षाद्ब्रह्ममात्रस्य निष्प्रति-
योगिकत्वेन साकारः तत्सापेक्षनिराकारो वा कथं सेद्धुं पारयति । एवं सर्ववेदान्त-
सिद्धान्तार्थे केचन स्वाज्ञाः रामकृष्णादीनां साकारतया परमतत्त्वविभवानुसंधानं
श्रूयते अंशस्य साकृत्तत्वेन अंशिब्रह्मणोऽपि साकृत्तत्वेन अद्वैतपरमानन्दलक्षण-
ब्रह्मत्वमस्तीति किं चित्रमिति मेनिरे । तदानुकूल्येन युक्त्याभासमपि दर्शयन्ति ।
तथा च स्मृतिः—

यस्य यस्य गृ[ग्र]हि यस्मिन् दृढावेशो भवेत्तराम् ।

तत्तद्भ्रान्त्यनुरोधेन शास्त्रं भवति नान्यथा ॥ इति ॥

^१ पद्यते—अ १, क.

साकृतित्वेन ब्रह्मणो ब्रह्मत्वं, अन्यथा सर्वपरिपूर्णब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलनिराकारत्वं यद्यभिमतं तदा केवलनिराकारगगनवत् परं ब्रह्मापि जडतामियात् । न हि ब्रह्म जडभावं स्पृशति । शिरःप्राण्यादियोगतः साकृतित्वं सच्चिदानन्दानुवृत्त्या निराकृतित्वं च युज्यतं इति केचित् । यस्मादेवं तस्मात् परब्रह्मणः परमार्थतः साकारनिराकारौ स्वभाव-सिद्धाविति मेनिरे ॥ १३ ॥

आदिनारायणादविद्योदयः

तथाविधस्याद्वैतपरमानन्दलक्षणस्यादिनारायणस्योन्मेषनिमे-
षाभ्यां मूलाविद्योदयस्थितिलया जायन्ते । कदाचिदात्मारामस्याखिल-
परिपूर्णस्यादिनारायणस्य स्वेच्छानुसारेणोन्मेषो जायते । तस्मात्
परंब्रह्मणोऽधस्तनपादे सर्वकारणे मूलकारणाव्यक्ताविर्भावो भवति ।
अव्यक्तान्मूलाऽऽविर्भावो मूलाविद्याऽऽविर्भावश्च । तस्मादेव सच्छब्द
वाच्यं ब्रह्माविद्याशब्दं भवति । ततो महत् । महतोऽहंकारः ।
अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि ।
पञ्चमहाभूतेभ्यो ब्रह्मैकपादं व्याप्तमेकमविद्याऽण्डं जायते ॥ १४ ॥

तथा च आकृतिद्वयविशिष्टब्रह्मणः सकाशादेव अव्यक्तादिस्थावरान्तसृष्टिः
स्यादित्याह—तथाविधस्येति । तथाविधस्य साकृतेः । तत्रोन्मेषतः सृष्टिमाचष्टे
कदाचिदिति । मूलाशब्देन माया । मूलाविद्याशब्देन तत्कार्यमित्यर्थः ।
यन्मायातत्कार्याविर्भावहेतुः अक्षराख्यं कूटस्थं वा तस्मादेव ॥ १४ ॥

अविद्याऽण्डस्थनारायणमहिमा

तत्र तत्त्वतो गुणातीतशुद्धसत्त्वमयो लीलागृहीतनिरतिशया-
नन्दलक्षणो मायोपाधिको नारायण आसीत् । स एव नित्यपरिपूर्णः

पादविभूतिवैकुण्ठनारायणः । स चानन्तकोटिब्रह्माण्डानामुदयस्थि-
 तिलयाद्यखिलकार्यकारणजालपरमकारणभूतो महामायाऽतीतस्तुरीयः
 परमेश्वरो जयति । तस्मात् स्थूलविराट्स्वरूपो जायते । स सर्वकारणमूल
 विराट्स्वरूपो भवति । स चानन्तशीर्षा पुरुष अनन्ताक्षिपाणिपादो
 भवति । अनन्तश्रवणः सर्वमावृत्य तिष्ठति । सर्वव्यापको भवति ।
 सगुणनिर्गुणस्वरूपो भवति । ज्ञानबलैश्वर्यशक्तितेजःस्वरूपो भवति ।
 विविधविचित्रानन्तजगदाकारो भवति । निरतिशयानन्दमयानन्तपरम-
 विभूतिसमष्ट्या ^१विभ्वाकारो भवति । निरतिशयनिरङ्कुशसर्वज्ञसर्व-
 शक्तिसर्वनियन्तृत्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकारो भवति । वात्रामगोचरा-
 नन्तदिव्यतेजोराश्याकारो भवति । समस्ताविद्याऽण्डव्यापको भवति ।
 स चानन्तमहामायाविलासानामधिष्ठा^२नविशेषनिरतिशयद्वैतपरमा-
 नन्दलक्षणपरंब्रह्मविलासविग्रहो भवति ॥ १५ ॥

अस्यैकैकरोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ^३स्वावरणानि
 च जायन्ते । तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैकनारायणावतारो जायते ।
 नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते । नारायणादण्डविराट्स्वरूपो जायते ।
 नारायणादखिललोकस्रष्टृप्रजापतयो जायन्ते । नारायणादेकादशरुद्राश्च
 जायन्ते । नारायणादखिललोकाश्च जायन्ते । नारायणादिन्द्रो
 जायते । नारायणात् सर्वे देवाश्च जायन्ते । नारायणाद्वादशादित्याः
 सर्वे वसवः सर्वे ऋषयः सर्वाणि भूतानि सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव

^१ विभवाका—अ २, क. विश्वाका—उ, मु. ^२ नावि—अ२. ^३ स्वावराणि—उ, मु.

समुत्पद्यन्ते । नारायणात् प्रवर्तन्ते । नारायणे प्रलीयन्ते । अथ
 नित्योऽक्षरः परमः स्वराट् । ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च नारायणः ।
 शक्रश्च नारायणः । दिशश्च नारायणः । विदिशश्च नारायणः ।
 कालश्च नारायणः । कर्माखिलं च नारायणः । मूर्तामूर्ते च नारायणः ।
 कारणात्मकं सर्वं कार्यात्मकं सकलं नारायणः । तदुभयविलक्षणो
 नारायणः । परंज्योतिः स्वप्रकाशमयो ब्रह्मानन्दमयो नित्यो
 निर्विकल्पो निरञ्जनो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न
 द्वितीयोऽस्ति कश्चित् न समोनाधिक इत्यसंशयम् ॥ १६ ॥

स्वोपाधिसत्त्वासत्त्वाभ्यां सर्गुणनिर्गुणस्वरूपो भवति । नारायणस्य
 स्वाज्ञविकल्पितोपाधियोगायोगतः सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिसर्वनियन्तृत्वाद्यनन्तकल्याण-
 गुणवत्त्वं निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणलक्षितत्वं वस्तुतो निष्प्रतियोगिक-
 ब्रह्ममात्रत्वं च युज्यत इत्यस्यामुपनिषदि सर्वत्र एवं द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥ य
 एवंविधो नारायणः अस्येत्यादि । स्वेन रूपेण नित्यः । न हि नारायणाधिकः समो
 न्यूनो वाऽस्ति, वस्तुतो नारायणस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रत्वात् ॥ १६ ॥

एतद्वेदनफलम्

परमार्थतो य एवं वेद सकलबन्धांश्छित्त्वा मृत्युं तीर्त्वा स
 मुक्तो भवति स मुक्तो भवति । य एवं विदित्वा सदा तमुपास्ते
 पुरुषः स नारायणो भवति स नारायणो भवतीत्युपनिषत् ॥ १७ ॥

वेदनफलमाह—य इति । आवृत्तिः आदरार्था । इत्युपनिषच्छब्दः
 द्वितीयाध्यायसमाप्त्यर्थः ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि परंब्रह्मणः साकारनिराकारस्वरूपनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

अविद्याप्रपञ्चो महामायाविलासः

अथ छात्रस्तथेतिहोवाच—भगवन् देशिक परमतत्त्वज्ञ सविलासमहामूलाविद्योदयक्रमः कथितः । तद्गु प्रपञ्चोत्पत्तिक्रमः कीदृशो भवति विशेषेण कथनीयः । तस्य तत्त्वं वेदितुमिच्छामि ॥ १ ॥

तथेत्युक्त्वा गुरुरित्युवाच—तथाऽनादिसर्वप्रपञ्चो दृश्यते । नित्योऽनित्यो वेति ^१संशयते । प्रपञ्चोऽपि द्विविधः विद्याप्रपञ्चश्चाविद्याप्रपञ्चश्चेति । विद्याप्रपञ्चस्य नित्यत्वं सिद्धमेव नित्यानन्दचिद्विलासात्मकत्वात् अथ च शुद्धबुद्धमुक्तसत्यानन्दस्व^२रूपत्वाच्च । अविद्याप्रपञ्चस्य ^३नित्यत्वमनित्यत्वं वा कथमिति । ^४प्रवाहतानित्यत्वं वदन्ति केचन । प्रलयादिकं [कस्य] श्रूयमाणत्वादनित्यत्वं वदन्त्यन्ये । उभयं न भवति । पुनः कथमिति । संकोचविकासात्मकमहामाया^५विलासात्मक एव सर्वोऽप्यविद्याप्रपञ्चः । परमार्थतो न किञ्चिदस्ति क्षणशून्यानादिमूलाविद्याविलासत्वात् । तत् कथमिति । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । नेह नानाऽस्ति किञ्चन । तस्माद्ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं बाधितमेव । सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ॥ २ ॥

शिष्यो गुरुमुखतो मूलाविद्योत्पत्तिक्रमं बुद्ध्वा तत्कार्यप्रपञ्चोत्पत्तिक्रमबुभुत्सया पृच्छतीत्याह—अथेति । किमिति? तथेति ॥ १ ॥ स्वाज्ञानकालमारभ्य

^१ संशय्यते—मु.

^२ रूपाच्च—अ २. रूपत्वात्—उ.

^३ नित्यत्वं वा अनित्यत्वं वा—क.

^४ प्रवाहतो—मु. ^५ विलास एव—अ २, क.

स्वज्ञानावधिकत्वमनादित्वम् । सोऽयमनादिप्रपञ्चः । “विद्यया देवलोकः” इति श्रुत्यनुरोधेन विद्यया प्रकर्षेण योऽञ्चते प्रकाशते सोऽयं वैकुण्ठाद्विद्याप्रपञ्चः विष्णवादेः यावदुपाधिस्थायित्वात् स्वाविद्याविजृम्भितमार्त्यप्रपञ्चम्प्रेक्षया विद्या-प्रपञ्चस्य नित्यत्वं सिद्धमेव विष्णोः नित्यानन्दचिद्विलासात्मकत्वात् लीलाऽर्थं विष्णुना निर्मितत्वात् अथ च परमार्थदृष्ट्या शुद्धरूपत्वाच्च । अविद्याप्रपञ्चे-यत्तामाह—अविद्येति । चित्रपटवत् संकोचेल्यादि । ब्रह्मातिरेकेण परमार्थत इति । यस्मादेवं तस्मात् । यत्तदपवादाधिष्ठानं तत् सत्यमेव ॥ २ ॥

ब्रह्मणः अण्डपरिपालकमहाविष्णौ लयः

ततः सविलासमूलाविद्योपसंहारक्रमः कथमिति ॥ ३ ॥

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण ^१देशिक उपदिशति—चतुर्युग-सहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति । तावता कालेन पुनस्तस्य रात्रिर्भवति । द्वे अहोरात्रे एकं दिनं भवति । तस्मिन्नेकस्मिन् दिने आसत्य^२लोकानामुदयस्थितिलया जायन्ते । पञ्चदशदिनानि पक्षो भवति । पक्षद्वयं मासो भवति । मासद्वयमृतुर्भवति । ऋतुत्रयमयनं भवति । अयनद्वयं वत्सरो भवति । वत्सरशतं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः परमायुःप्रमाणम् । तावत्कालस्तस्य स्थितिरुच्यते । स्थित्यन्तेऽण्डविराट्पुरुषः स्वांशं हिरण्यगर्भमभ्येति । हिरण्यगर्भः स्वकारणं परमात्मानमण्डपरिपालक-नारायणमभ्येति । पुनर्वत्सरशतं तस्य प्रलयो भवति । ^३तथा जीवाः सर्वे प्रकृतौ प्रलीयन्ते । प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥ ४ ॥

^१ देशिकोप—अ १, अ २, क.

^२ लोकान्त—मु.

^३ तदा—मु.

मूलाविद्योपसंहारक्रमबुभुत्सया पृच्छति—तत इति ॥ ३ ॥ पृष्ठो गुरुः
अत्यादरपूर्वकम् . . . उपदिशति—किं तत्? चतुर्युगेति । पुनर्वत्सरशतं तस्य
चतुर्मुखस्य प्रलयो भवति ॥ ४ ॥

महाविष्णोः आदिविराट्पुरुषे लयः

तस्य ब्रह्मणः स्थितिप्रलयावादिनारायणस्यांशेनावतीर्णस्याण्ड-
परिपालकस्य महाविष्णोरहोरात्रिसंज्ञिकौ । ते अहोरात्रे एकं दिनं
भवति । एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटि-
वत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते । स्थित्यन्ते स्वांशं ^१महाविराट्पुरुष-
मभ्येति । ततः सावरणं ब्रह्माण्डं विनाशमेति । ब्रह्माण्डावरणं
विनश्यति ^२तद्धि विष्णोः स्वरूपम् । तस्य तावत्प्रलयो भवति ।
प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥ ५ ॥

शतकोटिवत्सरकालः—शतकोटिवत्सरपरिमितः कालः, शतसंवत्सरः
कालो यस्य कोटाविति वेत्यर्थः ॥ ५-६ ॥

आदिविराट्पुरुषस्य आदिनारायणे लयः

अण्डपरिपालकमहाविष्णोः स्थितिप्रलयावादिविराट्पुरुष-
स्याहोरात्रि^३संज्ञिकौ । ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति । एवं
दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य
स्थितिरुच्यते । स्थित्यन्ते आदिविराट्पुरुषः स्वांशं मायोपाधिक-

^१ 'महा' इति (क) कोशे नास्ति.

^२ तस्य—उ.

^३ संज्ञितौ—उ, उ १. *

नारायणमभ्येति । तस्य विराट्पुरुषस्य यावत्स्थितिकालस्तावत्प्रलयो
भवति । प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥ ६ ॥

मायाविलये जीवेशयोः स्वरूपभजनम्

विराट्स्थितिप्रलयौ मूलाविद्याऽण्डपरिपालकस्यादिनारायण-
स्याहोरात्रिसंज्ञिकौ । ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति । एवं दिन-
पक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य
स्थितिरुच्यते । स्थित्यन्ते त्रिपाद्विभूतिनारायणस्येच्छावशान्निमेषो
जायते । तस्मान्मूलाविद्याऽण्डस्य सावरणस्य विलयो भवति । ततः
सविलासा मूलाविद्या सर्वकार्योपाधिसमन्विता सदसद्विलक्षणाऽनिर्वाच्या
लक्षणशून्यमऽऽविर्भावतिरोधानात्मिकाऽनाद्यखिलकारणकारणाऽनन्त-
महामायाविशेषणविशेषिता परमसूक्ष्ममूलकारणमव्यक्तं विशति ।
अव्यक्तं विशेद्ब्रह्मणि निरिन्धनो वैश्वानरो यथा । तस्मान्मायोपाधिक
आदिनारायणस्तथा स्वस्वरूपं भजति । सर्वे जीवाश्च स्वस्वरूपं भजन्ते ।
यथा जपाकुसुमसान्निध्याद्रक्तस्फटिकप्रतीतिस्तदभावे शुद्धस्फटिक-
प्रतीतिः ब्रह्मणोऽपि मायोपाधिवशात् सगुणपरिच्छिन्नादिप्रतीतिरुपाधि-
विलयान्निर्गुणनिरषयवादिप्रतीतिरित्युपनिषत् ॥ ७ ॥

यस्मादेवं तस्मात् मायोपाधिक इत्यादि । त्रय्यन्तैः यत्स्वमात्रमिति
पद्यते तत् त्रिपादिति यदुक्तं न संगच्छते, तस्य स्वेच्छावशात् निमेषो
जायते इतीच्छानिमेषा[दि] विकारकलनाविशिष्टत्वात् सविशेषं त्रिपादिति चेत्—
न, तदिच्छानिमेषादेः तदाप्तावुपायत्वात् । यथा आनन्दवल्लीनां भूमानन्दावताराय

सोपानरीत्या सार्वभौमाद्यानन्दतारतम्यं श्रूयते तथा अत्रापि सोपानरीत्या चतुर्मुखाद्यादिनारायणान्तचेतनविशिष्टप्रपञ्चापवादाधिकरणत्वमवगम्यते । वस्तुतः शशविषाणकल्पप्रपञ्चस्य निष्प्रतियोगिकाभावरूपतया आधेयत्वासंभवात् आधेयत्वाभावतः तन्निरूपिताधारत्वासंभवात् त्रिपात् निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति सदा अवशिष्यत इति सिद्धम् । इत्युपनिषच्छब्दः तृतीयाध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि मूलाविद्याप्रव्ययस्वरूपनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

त्रैपदचैतन्यस्वरूपम्

ॐ ततस्तस्मान्निर्विशेषमतिनिर्मलं भवति । अविद्या^१पादमति-
शुद्धं भवति । शुद्धबोधानन्दलक्षणकैवल्यं भवति । ब्रह्मणः पादचतुष्टयं
निर्विशेषं भवति । अखण्डलक्षणाखण्डपरिपूर्णसच्चिदानन्दस्वप्रकाशं
भवति । अद्वितीयमनीश्वरं भवति । अखिलकार्यकारणस्वरूपमखण्ड-
चिद्धनानन्दस्वरूपमतिदिव्यमङ्गलाकारं निरतिशयानन्दतेजोराशिविशेषं
सर्वपरिपूर्णान्तचिन्मयस्तम्भाकारं शुद्धबोधानन्दविशेषाकारमनन्त-
चिद्विलासविभूतिसमष्ट्याकारमद्भुतानन्दाश्चर्यविभूतिविशेषाकारमनन्त-
परिपूर्णानन्ददिव्यसौदामिनीनिचयाकारम् । एवमाकारमद्वितीया-
खण्डानन्दब्रह्मस्वरूपं निरूपितम् ॥ १ ॥

^१ पार—अ १, अ २. १

स्वातिरिक्तसर्वप्रपञ्चापवादाधारतया वस्तुतो निराधारतया च यत्रैपदचै-
तन्यमवशिष्यते तत्स्वरूपं विशदयति ओमिति । ॐ ओङ्काराप्रविद्योतं तुर्यतुर्यात्मकं
त्रैपदं ततः तस्मात् स्वाविद्यापादप्रविभक्तस्वाविद्यापादादिपादचतुष्टयापह्वात्
निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषं तथा अतिनिर्मलं तदा भवतीव भवति । स्वाज्ञविकल्पि-
तस्वाविद्यापदविभ्रमे सत्यसति निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषतया स्वयमवशिष्यत
इत्यर्थः । बोधार्थं तदेव विशेषणान्तरेण प्रपञ्चयति—अविद्येत्यादिना । यत्र
सद्वितीयेश्वरादिकलना न विद्यते तन्निष्प्रतियोगिकाद्वितीयमित्यर्थः । यत्
स्वाज्ञदशायां अखिलकार्यकारणस्वरूपं अनुभूतं तदेव स्वज्ञदशायां अखण्डेति ।
स्तम्भाकारं स्तम्भवदचलमित्यर्थः । एवं . . . निरूपितं, नातः परं वक्तव्यमव-
शिष्यते ॥ १ ॥

पादभेदादिकथनं ब्रह्मस्वरूपकथनमेव

अथ छात्रो वदति—भगवन् पादभेदादिकं कथं कथमद्वैत-
स्वरूपमिति निरूपितम् ॥ २ ॥

देशिकः परिहरति—विरोधो न विद्यते । ब्रह्माद्वैतमेव सत्यम् ।
तथैवोक्तं च । ब्रह्मभेदो न कथितो ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति ।
पादभेदादिकथनं तु ब्रह्मस्वरूपकथनमेव । तदेवोच्यते । पादचतुष्ट-
यात्मकं ^१ब्रह्म तत्रैकमविद्यापादं पादत्रयममृतं भवति । शाखाऽन्तरो-
पनिषत्स्वरूपमेव निरूपितमेव ॥ ३ ॥

एवं स्थितेऽपि ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वासंभवमाशंक्य शिष्यः पृच्छति—
अथेति ॥ २ ॥ शिष्यकृताशङ्कां देशिकः परिहरति । तत्रैकमविद्यापादं,
तदपेक्षया तत्तुर्यभागप्रविभक्तपादत्रयममृतं भवति । यत्त्वयोक्तं तच्छाखान्तरे
नास्तीत्यत्राह—शाखान्तरेति ॥ ३ ॥

^१ ब्रह्मेति त—उ.

उक्तार्थे शाखाऽन्तरसंवादः

तमसस्तु परं ज्योतिः परमानन्दलक्षणम् ।

पादत्रयात्मकं ब्रह्म कैवल्यं परमं शाश्वतमिति ॥ ४ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ५ ॥

सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं परंज्योतिस्तमस उपरि

विभाति ॥ ६ ॥

यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।

तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव सत्यं तदेव ब्रह्म परमं विशुद्धम् ॥ ७ ॥

कथ्यते तमश्शब्देनाविद्या ॥ ८ ॥

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।

त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः ।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ९ ॥

विद्याऽऽनन्दतुरीयाख्यपादत्रयममृतं भवति ।

¹अवशिष्टमविद्याश्रयमिति ॥ १० ॥

तत् कथमित्यत्र—तमसस्त्विति । तमसः चतुश्चतुरंशाख्यस्वाविद्या पदतत्कार्यात् यत् परं ज्योतिः तदेव परमानन्दलक्षणं पादत्रयात्मकं तुर्यपादग-पादत्रयगतहेयांशापहवसिद्धं त्रैपदं ब्रह्म ॥ ४ ॥ तद्वेदनोपायं वेदनफलं चाह—

¹ अविधि—उ.

वेदाहर्मिति ॥ ५ ॥ तमसः परस्तात् इत्यंशं विवृणोति—सर्वेषामिति । सूर्यादीनां—विश्वविराडोत्रादीनां वा सर्वेषां—ज्योतिषां परं ज्योतिः । स्वातिरिक्ताविद्यापद-
तत्कार्यस्य तमसः । स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्य सर्वस्य धातारं आधारभूतं पोषयितारं
वा आधारपोषयितृत्वेनापि अचिन्त्यरूपं आदित्यवर्णवत् परं ज्योतिः तमसः
उपरि विभातीति विद्यात् ॥ ६ ॥ यत् तमसः परं तदेव ब्रह्मेत्याह—यदिति ।
ऋतशब्देन काम्यकर्मफलस्वर्गादिरुच्यते । प्राथमिकसत्यशब्देन समुच्चयानुष्ठान-
फलमपरं ब्रह्मोच्यते । द्वितीयसत्यशब्देन निर्विशेषज्ञानफलं परं ब्रह्मोच्यते ॥ ७ ॥
तमःशब्दार्थमाह—कथ्यत इति ॥ ८ ॥ पादचतुष्टयसिद्धौ श्रुत्यन्तरसम्प्रतिमाचष्टे
—पाद इति । अस्य निर्विशेषब्रह्मणः चतुरंशात्मकविश्वा भूतानि आद्यः पादः
स्वाविद्यापाद इत्यर्थः । विश्वशब्देन स्थावरप्रपञ्च उच्यते । भूतशब्देन तदारो-
पाद्यधिष्ठानविश्वविश्वविद्याविकल्पानुज्ञैकरसान्तजङ्गमप्रपञ्च उच्यते । अस्य निर्विशेष-
ब्रह्मणः दिवि द्योतनात्मके स्वे महिम्नि यत् त्रिपात् चैतन्यं स्वमात्रमवशिष्यते तत्
अमृतं सन्मात्रमित्यर्थः । त्रय्यन्तैः स्वमात्रतया पद्यमानत्वात् अस्यामृतत्वं युज्यते ।
सोऽयं त्रिपात्पुरुषः सर्वस्मात् ऊर्ध्वं उदैत् उदेति, “अथ तत ऊर्ध्वं उदेत्”
इति श्रुतेः । पुनः अस्य ब्रह्मणः इह विद्यमानाविद्यापादं स्वाप्त्युपायतया
अभवात् अभवत् । स्वाप्त्युपायत्वेन यत्पदं कल्पितं ततः तस्मात् अभि अभितः
अशनेन सह प्राणान् धारयतीति साशनं जीवजातं च तद्विपरीतं अनशनं
ईश्वरचैतन्यं च साशनानशने “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो
अभिचाकशीति” इति श्रुत्यनुरोधेन जीवेश्वरौ भूत्वा स्वाविद्यापदस्य विश्वकृति-
र्यक्पराकूप्रत्यग्रूपेण व्यक्रामत् विशेषेण आक्रान्तवत् । तत्र साशनो जीवो
निरशनेश्वरप्रसादतो जीवेशादिकलनां विहाय सर्वाविभासकप्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति
श्रुत्याचार्यप्रसादतो ज्ञात्वा तज्ज्ञानसमकालं पराक्सापेक्षप्रत्यक्परभेदैक्यकलना-
संभवप्रबोधसिद्धं निष्प्रतियोगिकत्रैपदं ब्रह्म स्वावशेषधिया प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।
यस्मादेवं तस्मात् स्वाविद्यापदकल्पना त्रैपदब्रह्माप्त्युपायभूतेति भावः ॥ ९ ॥
कथं पुनः स्वाविद्यापादः स्वाप्त्युपायपदं भजतीत्याशङ्क्य स्वाविद्यापादप्रविभक्तस्वा-

ब्रह्मादीनामगोचरा । एतां महामायां तरन्त्येव ये विष्णुमेव भजन्ति ।
नान्ये तरन्ति कदाचन विविधोपायैरपि ॥ १३ ॥

तत्तरणोपायवैरळ्यात् संसारोऽनन्तो भवेदित्यत्र—एतामिति । ये
विष्णुमेव सोऽहमिति भजन्ति । तथा च स्मृतिः—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

इति ॥ १३ ॥

जीवस्य कार्योंपाधित्वम्

अविद्याकार्याण्यन्तःकरणान्यतीत्य कालान्यनन्तानि जायन्ते ।
ब्रह्मचैतन्यं तेषु प्रतिबिम्बितं भवति । प्रतिबिम्बा एव जीवा इति
कथ्यन्ते । अन्तःकरणोपाधिकाः सर्वे जीवा इत्येवं वदन्ति ।
महाभूतोत्थसूक्ष्माङ्गोपाधिकाः सर्वे जीवा इत्येके वदन्ति ।
बुद्धिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीवा इत्यपरे मन्यन्ते । एतेषामुपा^१धीनाम-
त्यन्तभेदो न विद्यते । सर्वपरिपूर्णो नारायणस्त्वनया निजया क्रीडति
स्वेच्छया सदा । तद्बदविद्यमानफलगुविषयसुराशयाः सर्वे जीवाः
प्रधावन्त्यसारसंसारचक्रे । एवमनादिपरम्परा वर्ततेऽनादिसंसारविपरीत-
भ्रमादित्युपनिषत् ॥ १४ ॥

जीवस्य कार्योंपाधित्वं कथमित्यत्र—अविद्येति । अविद्याकार्याणि
अनन्तकोटिवृत्तिविशिष्टतूलान्तःकरणानि अतीत्य अधिकृत्य स्वातिरिक्तकलनां

^१ धिनात्यन्त—क, अ २,

कलयन्तीति कलाः वासनाः ताः एव कालाः विविधवासनाः भवन्ति । काला इत्यत्र कालानीति लिङ्गव्यत्ययः । अत्यन्तभेदो न विद्यते—कथं ? सर्वपरिपूर्ण इति । विविधविषयतृष्णाऽतृष्णे जीवजातबन्धमोक्षहेतू भवतः । यथा नारायणः स्वेच्छया क्रीडति, नारायणेच्छाया अजडात्मगोचरत्वात्, न हि सा तं पराम्भावे योजयितुं पारयति, तद्वत् जीवोऽपि इच्छयैव संसरति । तदिच्छाया जडविषयगोचरत्वान् तथाऽऽवृत आभूतसंप्लवं संसरतीत्यर्थः । इति शब्दश्चतुर्थ्याध्याय-समाप्त्यर्थः । उपनिषच्छब्दः पूर्वकाण्डसमाप्त्यर्थश्च ॥ १४ ॥

इति अथर्वणमहानारायणमहोपनिषदि महामायाऽतीताखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमतत्त्वस्वरूपनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः

पूर्वकाण्डः समाप्तः

पञ्चमोऽध्यायः

नष्टाविद्यायाः पुनरुदयः

अथ शिष्यो वदति गुरुं भगवन्तं नमस्कृत्य—भगवन् सर्वात्मना नष्टाया अविद्यायाः पुनरुदयः कथम् ॥ १ ॥

सत्यमेवेति गुरुरिति होवाच । प्रावृट्कालप्रारम्भे यथा मण्डूकादीनां प्रादुर्भावः तद्वत् सर्वात्मना नष्टाया अविद्याया उन्मेषकाले पुनरुदयो भवति ॥ २ ॥

नष्टाविद्यायाः पुनरुदयः कथमिति देशिकं शिष्यः पृच्छतीत्याह-अथेति ॥ १-२ ॥

संसारमोक्षोपायजिज्ञासा

भगवन् कथं जीवानामनादिसंसारभ्रमः । तन्निवृत्तिर्वा
कथमिति । कथं मोक्षमार्गस्वरूपं च । मोक्षसाधनं कथमिति । को
वा मोक्षोपायः । कीदृशं मोक्षस्वरूपम् । का वा सायुज्यमुक्तिः ।
एतत् सर्वं तत्त्वतः कथनीयमिति ॥ ३ ॥

पुनः शिष्यो गुरुं जीवानां संसारतन्मोक्षौ कथं? इत्याशङ्क्य
पृच्छतीत्याह—भगवन्निति ॥ ३ ॥

संसारस्वरूपतत्कारणनिरूपणम्

अत्प्रादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति—श्रूयतां
सावधानेन । कुत्सितानन्तजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टविविधविचित्रा-
नन्तदुष्कर्मवासनाजालविशेषैर्देहात्मविवेको न जायते । तस्मादेव
दृढतरदेहात्मभ्रमो भवति । अहमज्ञः किञ्चिज्ज्ञोऽहमहं जीवोऽ-
हमत्यन्त^१दुःखाकरोऽहमनादिसंसारीति भ्रमवासनाबलात् संसार एव
प्रवृत्तिः । तन्निवृत्त्युपायः कदाऽपि न विद्यते । मिथ्याभूतान्
स्वप्नतुल्यान् विषयभोगाननुभूय विविधानसंख्यानतिदुर्लभान् मनो-
रथाननवरतमाशास्यमान अतृप्तः सदा परिधावति । विविधविचित्र-
स्थूलसूक्ष्मोत्कृष्टनिकृष्टानन्तदेहान् परिगृह्य तत्तद्देहविहितविविध-
विचित्रानेकशुभाशुभप्रारब्धकर्मण्यनुभूय तत्तत्कर्मफलवासनाजालवा-
सितान्तःकरणानां पुनःपुनस्तत्तत्कर्मफलविषयप्रवृत्तिरेव जायते ।

^१ दुःखाकरो—क, मु.

संसारनिवृत्तिमार्गं प्रवृत्तिरपि न जायते । तस्मादनिष्टमेवेष्टमिव भाति । इष्टमेवानिष्टमिव भात्यनादिसंसारविपरीतभ्रमात् । तस्मात् सर्वेषां जीवानामिष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिर्दुःखबुद्धिर्भवति । परमार्थतस्त्व-
बाधितब्रह्मसुखविषये प्रवृत्तिरेव न जायते तत्स्वरूपज्ञानाभावात् । तत्किमिति न विद्यते । कथं बन्धः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च । तत्कथमिति । अज्ञानप्राबल्यात् । कस्मादज्ञानप्राबल्यमिति । भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाऽभावाच्च । तदभावः कथमिति । अत्यन्तान्तः-
करणं^१मालिन्यविशेषात् ॥ ४ ॥

शिष्यं स्वाभिमुखीकृत्य वक्तुमुपक्रमते । किं तत् ? कुत्सितेति । असह्यौ-
किकवत् देहात्मेति । इष्टमेवानिष्टमिव भाति कुतः ? अनादीतिं । ब्रह्मसुखविषये
प्रवृत्तिरेव न जायते—कुतः ? तत्स्वरूपेति । भगवदनन्यभक्तीति ॥ ४ ॥

सत्सङ्गादन्तःकरणशुद्धिः

अतः संसारतरणोपायः कथमिति ॥ ५ ॥

देशिकस्तमेव कथयति । सकलवेदशास्त्रसिद्धान्तरहस्यजन्म-
जन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते ।
तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति । ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते ।
सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति । तस्मादन्तःकरणमतिविमलं
भवति ॥ ६ ॥

यत एवं अतः ॥ ५ ॥ देशिकस्तमेव कथयति—किं तत् ?
सकलेति ॥ ६-१ ? ॥

^१ प्रवृत्तिः कदाऽपि—अ० १, सु.

^२ मलिनवि—सु, क, अ १, अ २.

सद्गुरुकटाक्षात् तत्त्वज्ञानलाभः

ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षति । तस्मात् सद्गुरुकटाक्ष-
लेशविशेषेण सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति । सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति ।
श्रेयोविघ्नाः सर्वे प्रलयं यान्ति । सर्वाणि श्रेयांसि स्वयमेवायान्ति ।
यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरुरूपदेशेन विना
कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते । तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषेणा-
चिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥ ७ ॥

भगवत्कथाश्रवणध्यानादिभिः हृदये परमात्माविर्भावः

यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ
श्रद्धा जायते । तस्माद्बृहदयस्थितानादिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति ।
ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति । तस्माद्बृहदयपुण्डरीक-
कर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति ॥ ८ ॥

भक्तिवैराग्याभ्यां ज्ञानपरिपाकः

ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते । ततो वैराग्यमुदेति ।
वैराग्याद्बुद्धिविज्ञानाविर्भावो भवति । अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण
परिपक्व भवति ॥ ९ ॥

जीवन्मुक्तदशा

पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति । ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि
सवासनानि नश्यन्ति । ततो दृढतरशुद्धसात्त्विकवासनया भक्त्यतिशयो

भवति । भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वावस्थासु प्रविभाति । सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति । नारायणव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति । इत्येतद्बुद्ध्या विहरत्युपासकः सर्वत्र ॥ १० ॥

निरन्तरसमाधिपरंपराभिर्जगदीश्वराकाराः सर्वत्र सर्वावस्थासु प्रविभान्ति । अस्य महापुरुषस्य क्वचित्क्वचिदीश्वरसाक्षात्कारो भवति ॥ ११ ॥

देहत्यागानन्तरं उपर्युपरि गमनेन परमानन्दप्राप्तिः

अस्य देहत्यागेच्छा यदा भवति तदा वैकुण्ठपार्षदाः सर्वे समायान्ति । ततो भगवद्भयानपूर्वकं हृदयकमले व्यवस्थितमात्मानं स्वमन्तरात्मानं संचिन्त्य सम्यगुपचारैरभ्यर्च्य हंसमन्त्रमुचरन् सर्वाणि द्वाराणि संयम्य सम्यङ् मनो निरुध्य चोर्ध्वगेन वायुना सह प्रणवेन प्रणवानुसंधानपूर्वकं शनैः शनैराब्रह्मरन्ध्राद्विनिर्गत्य सोऽहमिति मन्त्रेण द्वादशान्तस्थितपरमात्मानमेकीकृत्य पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य पुनः सोऽहमिति मन्त्रेण षोडशान्तस्थितज्ञानात्मानमेकीकृत्य सम्यगुपचारैरभ्यर्च्य प्राकृतपूर्वदेहं परित्यज्य ^१पुरःकल्पितमन्त्रमयशुद्ध-ब्रह्मतेजोमयनिरतिशयानन्दमयमहाविष्णुसारूप्यविग्रहं परिगृह्य सूर्य-मण्डला^२न्तर्गतानन्तदिव्यचरणारविन्दाङ्गुष्ठनिर्गतनिरतिशयानन्दमया-मरनदीप्रवाहमाकृष्य भावनयाऽत्र स्नात्वा वस्त्राभरणाद्युपचारैरात्मपूजां विधाय साक्षान्नारायणो भूत्वा ततो गुरुनमस्कारपूर्वकं प्रणवगरुडं

^१ पुनः—अ १, सु.

^२ नन्तर्ग—क, अ २.

ध्यात्वा ध्यानेनाविर्भूतमहाप्रणवगरुडं पञ्चोपचारैराराध्य गुर्वनुज्ञया
 प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकं प्रणवगरुडमारुह्य महाविष्णोः समस्तासाधारण-
 चिह्नचिह्नितो महाविष्णोः समस्तासाधारणदिव्यभूषणैर्भूषितः सुदर्शन-
 पुरुषं पुरस्कृत्य विष्वक्सेनपरिपालितो वैकुण्ठपार्षदैः परिवेष्टितो
 नभोमार्गमाविश्य पार्श्वद्वयस्थितानेकपुण्यलोकानतिक्रम्य तत्रत्यैः
 पुण्यपुरुषैरभिपूजितः सत्यलोकमाविश्य ब्रह्माणमभ्यर्च्य ब्रह्मणा च
 सत्यलोकवासिभिः सर्वैरभिपूजितः शैवमीशानकैवल्यमासाद्य शिवं
 ध्यात्वा शिवमभ्यर्च्य शिवगणैः सर्वैः शिवेन चाभिपूजितो ग्रहर्षि-
 मण्डलानतिक्रम्य सूर्यसोममण्डले भित्त्वा कीलकनारायणं ध्यात्वा
 ध्रुवमण्डलस्य दर्शनं कृत्वा भगवन्तं ध्रुवमभिपूज्य ततः शिशुमारचक्रं
 विभिद्य शिशुमारप्रजापतिमभ्यर्च्य चक्रमध्यगतं सर्वाधारं सनातनं
 महाविष्णुमाराध्य तेन पूजितस्तत उपर्युपरि गत्वा परमानन्दं
 प्राप ॥ १२ ॥

ततो वैकुण्ठवासिनः सर्वे समायान्ति । तान् सर्वान् सुसंपूज्य
 तैः सर्वैरभिपूजितश्चोपर्युपरि गत्वा विरजानदीं प्राप्य तत्र स्नात्वा भग-
 वद्भयानपूर्वकं पुनर्निमज्ज्य तत्रापञ्चीकृतभूतोत्थसूक्ष्माङ्गं भोगसाधनं
 सूक्ष्मशरीरमुत्सृज्य केवलमन्त्रमयदिव्यतेजोमयनिरतिशयानन्दमय-
 महाविष्णुसारूप्यविग्रहं परिगृह्य तत उन्मज्ज्यात्मपूजां विधाय
 प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकं ब्रह्ममयवैकुण्ठमाविश्य तत्रत्यान् विशेषेण संपूज्य
 तन्मध्ये च ब्रह्मानन्दमयानन्तप्राकारप्रासादतोरणविमानोपवनाव-

लिभिर्ज्वलच्छिवैरुपलक्षितो निरुपमनित्यनिरवद्यनिरतिशयनिरवधिक-
ब्रह्मानन्दाचलो विराजते ॥ १३ ॥

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः । तदभ्यन्तर-
संस्थाने शुद्धबोधानन्दलक्षणं विभाति । तदन्तराले चिन्मयवेदिका
आनन्दवेदिका आनन्दवनविभूषिता । तदभ्यन्तरे अमिततेजोराशिस्त-
दुपरि ज्वलति । परममङ्गलासनं विराजते । तत्पद्मकर्णिकायां
शुद्धशेषो भोगासनं विराजते । तस्योपरि समासीनमानन्दपरिपालक-
मादिनारायणं ध्यात्वा तमीश्वरं विविधोपचारैराराध्य प्रदक्षिण-
नमस्कारान् विधाय तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा पञ्चवैकुण्ठानतीत्याण्ड-
विराट्कैवल्यं प्राप्य तं समाराध्योपासकः परमानन्दं प्रापेत्यु-
पनिषत् ॥ १४ ॥

यदि स्वातिरिक्तकलनासुमुक्षुः तदा भगवद्वावापत्तिसाधनवेदान्तश्रवणमनन-
निदिध्यासनाविभूतसम्यज्ज्ञानेन स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यजातमस्ति नास्तीति
विभ्रमापह्ववसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति तन्मात्रावस्थानलक्षणविकळे-
बरकैवल्यरूपेण विद्वानवशिष्यते । यद्येवमधिकारी न भवति तदा स्वातिरेकेण
देहादिकं परिकल्प्य तदुपाधिकजीवोऽस्मीत्यात्मानं ज्ञात्वा तदनुरोधेन अस्मात्
लोकात् सर्वोर्ध्वप्रदेशे वैकुण्ठासनं ब्रह्म विजयते, स्वोपासनातारतम्येण तत्रैव
गत्वा सालोक्यादिचतुर्विधमुक्तिषु स्वाभिमतमुक्तिरेव परमपुरुषार्थः इति यो मन्यते
सोऽयं विद्वान् क्रमेण तत्पदमेत्य तत्रत्यवैकुण्ठासननारायणमुखतो निखिलवेदान्त-
श्रवणं कृत्वा मननादिप्रादुर्भूतसम्यज्ज्ञानालङ्काराद्वैती भूत्वाऽऽचतुष्पदलय-
मत्रोषित्वा अथ चतुष्पदैक्यसमयेऽस्य निर्वासनतया पुनर्भवबीजवैरच्छ्यात् निष्प्रति-
योगिकत्रैपदब्रह्ममात्रावस्थालक्षणविकळेबरकैवल्यं विद्वान् उपैतीत्याह—अस्ये-

ल्यादिना । य एवमुपासको भवति अस्येति । ईशानः केवलरूपेण यत्रास्ते तत् ईशानकैवल्यं कैलास इत्यर्थः । तत्रत्यं शिवम् ॥ १२ ॥ ब्रह्मानन्दाचलो विराजते—तत्र प्रविष्टानामचलनदीविमानादिकं सर्वं परोक्षतया निरतिशयनिरवधिकसच्चिदानन्दघनवत् भासत इति । सर्वत्र एवं वेदितव्यम् ॥ १३ ॥ यद्ब्रह्ममयवैकुण्ठं विराजत इत्युक्तं तदुपरि ज्वलति । आनन्दपरिपालकं आनन्दरूपेण सर्वपरिपालकमित्यर्थः । तत्परितोऽवस्थितान् पञ्चवैकुण्ठान् । अण्डोपाधितया विराजत इति अण्डविराट् यद्वैकुण्ठे केवलमास्ते तत् अण्डविराट्कैवल्यम् । अर्वांगतवैकुण्ठापेक्षया एतस्य परमानन्दत्वं, सातिशयमित्यर्थः, पुनर्गमनदर्शनात् । इत्युपनिषच्छन्दः पञ्चमाध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ १४ ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि संसारतरणोपायकथनद्वारा परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः

ब्रह्माण्डस्वरूपावबोधः

तत उपासकः परमानन्दं प्राप । सावरणं ब्रह्माण्डं च भित्त्वा परितः समवलोक्य ब्रह्माण्डस्वरूपं निरीक्ष्य परमार्थतस्तत्स्वरूपं ब्रह्मज्ञानेनावबुध्य समस्तवेदशास्त्रेतिहासपुराणानि ^१समस्तविद्याजालानि ब्रह्मादयः सुराः सर्वे समस्ताः परमर्षयश्चाण्डाभ्यन्तरप्रपञ्चैकदेशमेव वर्णयन्ति । अण्डस्वरूपं न जानन्ति । ब्रह्माण्डाद्बहिः प्रपञ्चज्ञानं न

^१ समस्तावि—उ.

जानन्त्येव । कुतोऽण्डान्तरान्तर्बहिःप्रपञ्चज्ञानं दूरतो मोक्षप्रपञ्च-
ज्ञानमविद्याप्रपञ्चज्ञानं चेति ॥ १ ॥

कथं ब्रह्माण्डस्वरूपमिति ॥ २ ॥

कुक्कुटाण्डाकारं महदादिसमष्ट्याकारमण्डं तपनीयमयं तप्त-
जाम्बूनदप्रभमुद्यत्कोटिदिवाकराभं चतुर्विधसष्ट्युपलक्षितं महाभूतैः
पञ्चभिरावृतं महदहंकृतितमोभिश्च मूलप्रकृत्या परिवेष्टितम् ॥ ३ ॥

अण्डभित्तिविशालं सपादकोटियोजनप्रमाणम् । एकैकावरणं
तथैव ॥ ४ ॥

अण्डप्रमाणं परितोऽयुतद्वयकोटियोजनप्रमाणं महामण्डूकाद्य-
नन्तशक्तिभिरधिष्ठितं नारायणक्रीडाकन्तुकं परमाणुवद्विष्णुलोमसु-
संलग्नमदृष्टाश्रुतविविधविचित्रानन्तविशेषैरुपलक्षितम् ॥ ५ ॥

ततः किमित्याशङ्क्य इतोऽप्यतिशयानन्दासिद्धारा वक्ष्यमाणलक्षणब्रह्माण्ड-
भेदनपूर्वकमूर्ध्वगमनं ब्रह्माण्डयाथात्म्यविवेचनं अविद्यालक्ष्मीदर्शनं विराट्पद-
प्राप्त्यादिकं भवेदित्याह—तत इति । अविद्याप्रपञ्चज्ञानं चेति—अण्डाज्ञाने
अण्डबाह्यब्रह्मज्ञानं कुत इत्यर्थः ॥ १ ॥ ब्रह्माण्डेयत्तापरिज्ञानाय पृच्छति—
कथमिति ॥ २-९ ॥

अनन्तकोटिब्रह्माण्डस्वरूपावबोधः

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि-
ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति ॥ ६ ॥

चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रा-
वधिसुखान्तैर्नारायणाङ्गैः रजोगुणप्रधानैरैकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि

विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरैकैकस्थितिसंहार-
कर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवद्भ्रमन्ति ॥ ७ ॥

क्रीडासक्तजालककरतलामलकबृन्दवन्महाविष्णोः करतले
विलसन्त्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ॥ ८ ॥

जलयन्त्रस्थघटमालिकाजालवन्महाविष्णोरैकैकरोमकूपान्तरेष्व-
नन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि भ्रमन्ति ॥ ९ ॥

महाविराट्पदप्राप्तिः

समस्तब्रह्माण्डान्तर्बहिःप्रपञ्चरहस्यं ब्रह्मज्ञानेनावबुध्य विविध-
विचित्रानन्तपरमविभूतिसमष्टिविशेषान् समवलोक्यात्याश्चर्यामृतसागरे
निमज्ज्य निरतिशयानन्दपारावारो भूत्वा समस्तब्रह्माण्डजालानि
समुल्लङ्घ्यामितापरिच्छिन्नानन्ततमःसागरमुत्तीर्य मूलाविद्यापुरं दृष्ट्वा
विविधविचित्रानन्तमहामायाविशेषैः परिवेष्टितां अनन्तमहामाया-
शक्तिसमष्ट्याकारां अनन्तदिव्यतेजोज्वालाजालैरलंकृतां अनन्तमहा-
मायाविलासानां परमाधिष्ठानविशेषाकारां शश्वदमितानन्दाचलोपरि-
विहारिणीं मूलप्रकृतिजननीं अविद्यालक्ष्मीमेवं ध्यात्वा विविधो-
पचारैराराध्य समस्तब्रह्माण्डसमष्टिजननीं वैष्णवीं महामायां नमस्कृत्य
तया चानुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा महाविराट्पदं प्राप ॥ १० ॥

“ब्रह्मातिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति ब्रह्मज्ञानेनावबुध्य ॥ १०-११ ॥

महाविराट्स्वरूपं तज्ज्ञानफलं च

महाविराट्स्वरूपं कथमिति ॥ ११ ॥

समस्ताविद्यापादको विराट् ॥ १२ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात् ।

सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्धावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥ १३ ॥

न संदशो तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्रुसो य एनं विदुरमृतास्ते

भवन्ति ॥ १४ ॥

मनोवाचामगोचरमादिविराट्स्वरूपं ध्यात्वा विविधोपचारैरा-

राध्य तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा विविधविचित्रानन्तमूलाविद्या-

विलासानवलोक्योपासकः परमकौतुकं प्राप ॥ १५ ॥

समस्तशब्देन अविद्यापादप्रविभक्ताविद्यापादादिचतुरंशो गृह्यते, स एवोपाधिः यस्य सोऽयं समस्ताविद्यापादकः तद्रूपेण विराजत इति विराट् ॥ १२ ॥ तत्स्वरूपं तज्ज्ञानफलं चाह—विश्वत इति । मन्त्रद्वयं श्वेताश्वतरोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ १३-१४ ॥ स्वाज्ञदृष्ट्या विश्वरूपं, स्वज्ञदृष्ट्या विश्वातीतत्वेन मनोवाचामगोचरम् ॥ १५ ॥

महायोगमायाविलासावलोकनम्

अखण्डपरिपूर्णपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः समस्तस्वरूपविरोध-

कारिणी अपरिच्छिन्नतिरस्करिण्याकारा वैष्णवी महायोगमाया

मूर्तिमद्भिरनन्तमहामायाजालविशेषैः परिषेविता । तस्याः पुरमति-

कौतुकमत्याश्चर्यसागरानन्दलक्षणममृतं भवति । अविद्यासागरप्रति-

बिम्बितनित्यवैकुण्ठप्रतिवैकुण्ठमिव विभाति ॥ १६ ॥

उपासकस्तत्पुरं प्राप्य योगमायालक्ष्मीं ध्यात्वा विविधोपचारै-
राराध्य तथा संपूजितश्चानुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा अनन्तयोगमाया-
विलासानवलोक्योपासकः परमकौतुकं प्राप ॥ १७ ॥

मूलाविद्या कीदृशी ? तदावासस्थानं कीदृशं ? इत्यत आह—अखण्डेति ।
स्वाज्ञानकालस्थायित्वात् अविद्यासागरेत्यादि ॥ १६—२३ ॥

पादविभूतिवैकुण्ठे नारायणाराधनम्

तत उपरि पादविभूतिवैकुण्ठपुरमाभाति । अत्याश्चर्या-
^१नन्तविभूतिसमष्ट्याकारं आनन्दरसप्रवाहैरलंकृतं अमिततरङ्गिण्याः
प्रावाहैरतिमङ्गलं ब्रह्मतेजोविशेषाकारैः अनन्तब्रह्मवनैः अभितस्ततं
अनन्तनित्यमुक्तैः अभिव्याप्तं अनन्तचिन्मयप्रसादजालसंकुलं अनादि-
पादविभूतिवैकुण्ठमेवमाभाति । तन्मध्ये च चिदानन्दाचलो विभाति ॥

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः । तदभ्यन्तरे
परमानन्दविमानं विभाति । तदभ्यन्तरसंस्थाने चिन्मयासनं विराजते ।
तत्पद्मकर्णिकायां निरतिशयदिव्यतेजोराश्यन्तरसमासीनं आदिनारायणं
ध्यात्वा विविधोपचारैस्तं समाराध्य तेनाभिपूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि
गत्वा सावरणमविद्याऽण्डं च भित्त्वाऽविद्यापादमुल्लङ्घ्य च विद्याऽ-
विद्ययोः सन्धौ विष्वक्सेनवैकुण्ठपुरमाभाति ॥ १९ ॥

विष्वक्सेनप्रसादेन विद्यामयवैकुण्ठावलोकनम्

अनन्तदिव्यतेजोज्वालाजालैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तं अनन्त-
बोधानन्दव्यूहैरभितस्ततं शुद्धबोधविमानावलिभिर्विराजितं अनन्ता-

^१ नन्द—अ १.

नन्दपर्वतैः परमकौतुकमाभाति । तन्मध्ये च कल्याणाचलोपरि
 शुद्धानन्दविमानं विभाति । तदभ्यन्तरे दिव्यमङ्गलासनं विराजते ।
 तत्पद्मकर्णिकायां ब्रह्मतेजोराश्यभ्यन्तरसमासीनं भगवदनन्तविभूति-
 विधिनिषेधपरिपालकं सर्वप्रवृत्तिसर्वहेतुनिमित्तकं निरतिशयानन्द-
 लक्षणमहाविष्णुस्वरूपं अखिलापवर्गपरिपालकं अमितविक्रमं एवंविधं
 विष्वक्सेनं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोप-
 चारेराराध्य तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा विद्याविभूतिं प्राप्य
 विद्यामयान् अनन्तवैकुण्ठान् परितोऽवस्थितान् ब्रह्मतेजोमयानव-
 लोकयोपासकः परमानन्दं प्राप ॥ २० ॥

ब्रह्मविद्यावैकुण्ठद्वारा बोधानन्दविमानप्राप्तिः

विद्यामयान् अनन्तसमुद्रान् अतिक्रम्य ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी-
 मासाद्य तत्र स्नात्वा भगवद्ब्रह्मचानपूर्वकं पुनर्निमज्ज्य मन्त्रमयशरीर-
 मुत्सृज्य विद्याऽऽनन्दमयामृतदिव्यशरीरं परिगृह्य नारायणसारूप्यं
 प्राप्य आत्मपूजां विधाय ब्रह्ममयवैकुण्ठवासिभिः सर्वैर्नित्यमुक्तैः
 सुपूजितस्ततो ब्रह्मविद्याप्रवाहैः आनन्दरसनिर्भरैः क्रीडानन्तपर्वतैरनन्तैः
 अभिव्याप्तं ब्रह्मविद्यामयैः सहस्र^१प्राकारैः आनन्दामृतमयैः दिव्य-
 गन्धस्वभावैः चिन्मयैः अनन्तब्रह्मवनैः अतिशोभितमुपासकस्त्वेवंविधं
 ब्रह्मविद्यावैकुण्ठमाविश्य तदभ्यन्तरस्थितात्यन्तोन्नतबोधानन्दप्रासादा-
 ग्रस्थितप्रणवविमानोपरिस्थितां अपारब्रह्मविद्यासाम्राज्याधिदेवतां

^१ प्रका—उ.

अमोघनिजमन्दकटाक्षेण अनादिमूलाविद्याप्रलयकरिं अद्वितीयामेकां
 अनन्तमोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीमेवं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय
 विविधोपचरैराराध्य पुष्पाञ्जलि समर्प्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैः
 तथाऽभिपूजितः तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा ब्रह्मविद्यातीरे गत्वा
 बोधानन्दमयाननन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरतिशयानन्दं प्राप्य बोधा-
 नन्दमयाननन्तसमुद्रानतिक्रम्य गत्वागत्वा ब्रह्मवनेषु परममङ्गलाचल-
 श्रेणिषु ततो बोधानन्दविमानपरंपरासु उपासकः परमानन्दं प्राप ॥ २१ ॥

तुलसीवैकुण्ठप्राप्तिः

ततः श्रीतुलसीवैकुण्ठपुरमाभाति परमकल्याणं अनन्तविभवं
 अमिततेजोराश्याकारं अनन्तब्रह्मतेजोराशिसमष्ट्याकारं चिदानन्द-
 मयानेकप्रकारविशेषैः परिवेष्टितं अमितबोधानन्दाचलोपरिस्थितं
 बोधानन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहैरतिमङ्गलं निरतिशयानन्दैः अनन्त-
 बुन्दावनैः अतिशोभितं अखिलपवित्राणां परमपवित्रं चिद्रूपैः
 अनन्तनित्यमुक्तैः अत्यभिव्याप्तं आनन्दमयानन्तविमानजालैः अलंकृतं
 अमिततेजोराश्यन्तर्गतदिव्यतेजोविशेषम् ॥ २२ ॥

शुद्धबोधानन्दवैकुण्ठप्राप्तिः

उपासकस्त्वेवमाकारं तुलसीवैकुण्ठं प्रविश्य तदन्तर्गतदिव्य-
 विमानोपरिस्थितां सर्वपरिपूर्णस्य महाविष्णोः सर्वाङ्गेषु विहारिणीं
 निरतिशयसौन्दर्यलावण्याधिदेवतां बोधानन्दमयैरनन्तनित्यपरिजनैः
 परिषेवितां श्रीसखीं तुलसीमेवं लक्ष्मीं ध्यात्वा प्रदक्षिण-

नमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैः
 तयाऽभिपूजितः तत्रत्यैश्चाभिपूजितः तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा परमा-
 नन्दतरङ्गिण्यास्तीरे गत्वा तत्र परितोऽवस्थितान् शुद्धबोधानन्दमयान्
 अनन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरतिशयानन्दं प्राप्य तत्रत्यैश्चिद्रूपैः
 पुराणपुरुषैश्चाभिपूजितः ततो गत्वागत्वा ब्रह्मवनेषु दिव्यगन्धानन्द-
 पुष्पवृष्टिभिः समन्वितेषु दिव्यमङ्गलालयेषु निरतिशयानन्दामृतसागरेषु
 अमिततेजोराश्याकारेषु कल्लोलवनसंकुलेषु ततोऽनन्तशुद्धबोधविमान-
 जालसंकुलानन्दाचलश्रेणिषु उपासकस्तत उपर्युपरि गत्वा विमान-
 परम्परास्वनन्ततेजःपर्वतराजिप्त्वेवं क्रमेण प्राप्य विद्याऽऽनन्दमययोः
 सन्धिं तत्र आनन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहेषु स्नात्वा बोधानन्दवनं प्राप्य
 शुद्धबोधपरमानन्दाकारवनं संततामृतपुष्पवृष्टिभिः परिवेष्टितं परमा-
 नन्दप्रवाहैरभिव्याप्तं मूर्तिमद्भिः परममङ्गलैः परमकौतुकं अपरिच्छिन्ना-
 नन्दसागराकारं क्रीडाऽऽनन्दपर्वतैरभिशीभितं तन्मध्ये च शुद्धबोधा-
 नन्दवैकुण्ठं—यदेव ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठं सहस्रानन्दप्राकारैः समुज्ज्व-
 लति—अनन्तानन्दविमानजालसंकुलं अनन्तबोधसौधविशेषैरभितोऽनिशं
 प्रज्वलन्तं क्रीडाऽनन्तमण्डपविशेषैर्विशेषितं बोधानन्दमयानन्तपरम-
 च्छत्रध्वजचामरवितानतोरणैरलंकृतं परमानन्दव्युहैर्नित्यमुक्तैरभितस्ततं
 अनन्तदिव्यतेजःपर्वतसमष्ट्याकारं अपरिच्छिन्नानन्तशुद्धबोधानन्द-
 मण्डलं वाचामगोचरानन्दब्रह्मतेजोराशिमण्डलं अखण्डतेजोमण्डल-
 विशेषं ^१शुद्धानन्दविशेषसमष्टिमण्डलविशेषं अखण्डचिद्नानन्दविशेषम् ॥

अखण्डबोधविमाने समस्तमोक्षसाम्राज्यपट्टाभिषेकः

एवंविधं बोधानन्दवैकुण्ठमुपासकः प्रविश्य तत्रत्यैः—सर्वैरभि-
पूजितः । परमानन्दाचलोपर्यखण्डबोधविमानं प्रज्वलति । तदभ्यन्तरे
चिन्मयासनं विराजते ॥ २४ ॥

तदुपरि विभात्यखण्डानन्दतेजोमण्डलम् । तदभ्यन्तरसमा-
सीनं आदिनारायणं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय
विविधोपचारैः सुसंपूज्य पुष्पाञ्जलिं समर्प्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैः
स्वरूपेणावस्थितमुपासकमवलोक्य तमुपासकं आदिनारायणः स्व-
सिंहासने सुसंस्थाप्य तद्वैकुण्ठवासिभिः सर्वैः समन्वितः समस्तमोक्ष-
साम्राज्यपट्टाभिषेकमुद्दिश्य मन्त्रपूतैः उपासकं आनन्दकलशैरभिषिच्य
दिव्यमङ्गलमहावाद्यपुरःसरं विविधोपचारैरभ्यर्च्य मूर्तिमाद्भिः सर्वैः
स्वचिह्नैरलंकृत्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय त्वं ब्रह्मासि अहं
ब्रह्मास्मि आवयोरन्तरं न विद्यते त्वमेवाहम् अहमेव त्वम् इत्यभिधाय
इत्युक्त्वा अदिनारायणस्तिरोदधे तदेत्युपनिषत् ॥ २५ ॥

एवंविधं आनन्दपादालङ्कारभूतं बोधानन्दवैकुण्ठम् ॥ २४ ॥
प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय—ततो दक्षिणकर्णे प्रत्यक्परचितोरैक्यबोधकं
परमार्थतत्त्वमुपदिशति । किं तत् ? त्वं ब्रह्मासीत्यादि । मनुपासनया यस्त्वं
मत्सारूप्यं गतोऽसि स “त्वं ब्रह्मासि” इति भगवदुक्तिः । “अहं
ब्रह्मास्मि” इति शिष्योक्तिः । आवयोरित्यादि भगवदुक्तिः । एवं शिष्य-
मुपदिश्य भगवान् तिरोदधे निर्विशेषतां गतवानित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः
षष्ठाध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ २५ ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः

सप्तमोऽध्यायः .

नित्यगरुडारूढस्य ब्रह्मानन्दविभूतिप्राप्तिः

अथोपासकः तदाज्ञया नित्यगरुडमारूढ्य वैकुण्ठवासिभिः सर्वैः
परिवेष्टितो महासुदर्शनं पुरस्कृत्य विष्वक्सेनपरिपालितश्चोपर्युपरि
गत्वा ब्रह्मानन्दविभूतिं प्राप्य सर्वत्रावस्थितान् ब्रह्मानन्दमयान्
अनन्तवैकुण्ठान् अवलोक्य निरतिशयानन्दसागरो भूत्वा आत्मा-
रामान् आनन्दविभूतिपुरुषान् अनन्तान् अवलोक्य तान् सर्वानुपचारैः
समभ्यर्च्य तैः सर्वैरभिपूजितश्च उपासकस्तत उपर्युपरि गत्वा
ब्रह्मानन्दविभूतिं प्राप्य अनन्तदिव्यतेजःपर्वतैरलंकृतान् परमानन्द-
लहरीवनशोभितान् असंख्याकान् आनन्दसमुद्रान् अतिक्रम्य
विविधविचित्रानन्तपरमतत्त्वविभूतिसमष्टिविशेषान् परम^१कौतुकान्
ब्रह्मानन्दविभूतिविशेषानतिक्रम्य उपासकः परमकौतुकं प्राप ॥ १ ॥

शिष्यो भगवतः परमतत्त्वोपदेशं लब्ध्वा तद्रूपसाक्षात्करणाय तुर्यपाद-
मारोहतीत्याह—अथेति ॥ १ ॥

सुदर्शनपुरवर्णनम्

ततः सुदर्शनवैकुण्ठपुरमाभाति नित्यमङ्गलं अनन्तविभवं
सहस्रानन्दप्राकारपरिवेष्टितं अयुतकुक्ष्युपलक्षितं अनन्तोत्कटज्वलदर-

^१ कौतुकात्—अ १४

मण्डलं निरतिशयदिव्यतेजोमण्डलं ^१वृन्दारकपरमानन्दं शुद्धबुद्ध-
स्वरूपं अनन्तानन्दमौदामिनीपरमविलासं निरतिशयपरमानन्दपारावारं
अनन्तरानन्दपुरुषैश्चिद्रूपैरधिष्ठितम् ॥ २ ॥

स्वाविद्यापादप्रविभक्ताविद्याविद्याऽऽनन्दपादानभिधाय तुर्यपादस्वरूपं प्रकट-
यति—तत इति । ततः पादत्रयनिरूपणानन्तरं यत्र तुर्यचैतन्यं सुष्ठु दृश्यते तत्
सुदर्शनं, तस्य पादत्रयवत् स्वाविद्यावृत्तिभिः कुण्ठनं न भवतीति विकुण्ठः,
विकुण्ठ एव वैकुण्ठः, तस्य मुक्तप्राप्यत्वात् पुरमिति व्यपदेश इत्यर्थः । तत्स्वरूपं
तु नित्यमङ्गलम् ॥ २ ॥

सुदर्शनमहाचक्रवर्णनम्

तन्मध्ये च सुदर्शनं महाचक्रम् ॥ ३ ॥

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि ।

तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरार्तिं तरेम ॥ ४ ॥

लोकस्य द्वारमर्चिमत् पवित्रं ज्योतिष्मद्भाजमानं महस्वत् ।

अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके

सुधितां दधातु ॥ ५ ॥

अयुतारज्वलन्तं अयुतारसमष्टचाकारं निरतिशयविक्रम-
विलासं अनन्तदिव्यायुधदिव्यशक्तिसमष्टिरूपं महाविष्णोः अनर्गल-
प्रवाहविग्रहं अयुतायुतक्रोटियोजनविशालं अनन्तज्वालाजालैरलंकृतं
समस्तदिव्यमङ्गलनिदानं अनन्तदिव्यतीर्थानां निजमन्दिरमेवं सुदर्शनं
महाचक्रं प्रज्वलति ॥ ६ ॥

^१ ब्रह्माकार—क. वृन्दाकार—उ.

तस्य नाभिमण्डलसंस्थाने उपलक्ष्यते निरतिशयानन्ददिव्य-
तेजोराशिः । तन्मध्ये च सहस्रारचक्रं प्रज्वलति । तदखण्डदिव्य-
तेजोमण्डलाकारं परमानन्दसौदामिनीनिचयोज्ज्वलम् ॥ ७ ॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने षट्छतारचक्रं प्रज्वलति । तच्चामित-
परमतेजःपरमविहारसंस्थानविशेषं विज्ञानघनस्वरूपम् ॥ ८ ॥

तदन्तराले त्रिशतारचक्रं विभाति । तच्च परमकल्याण-
विलासविशेषं अनन्तचिदादित्यसमष्ट्याकारम् ॥ ९ ॥

तदभ्यन्तरे शतारचक्रमाभाति । तच्च परमतेजोमण्डल-
विशेषम् ॥ १० ॥

तन्मध्ये षष्ट्यारचक्रमाभाति । तच्च ब्रह्मतेजःपरमविलास-
विशेषम् ॥ ११ ॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने षट्कोणचक्रं प्रज्वलति । तच्चापरिच्छिन्ना-
नन्तदिव्यतेजोराश्याकारम् ॥ १२ ॥

“अहं ब्रह्मास्मि”, “ब्रह्माहमस्मि”, इति यत् स्वात्मतया दर्शनीयं
तत् सुदर्शनं, तस्य चण्डाविद्याद्वयतत्कार्यासुरजातशिरःकृन्तनशक्तिमत्त्वात्
तुरीयं ब्रह्मैव सुदर्शनं महाचक्रमुच्यते । यद्वा—तुरीयोपलब्धिसाधनवक्ष्यमाण-
सुदर्शनमहानारायणम् (य ?)न्त्रं सुदर्शनचक्रमुच्यते ॥ ३ ॥ सुदर्शनाख्यं तुरीयं,
तदधिगमसाधनत्रिपाद्विभूतिमहानारायणसमष्टिव्यष्टिचक्रं चाह—चरणमित्यादिना ।
स्वातिरिक्तस्वाविद्यापदप्रविभक्तापवित्रपरिच्छिन्नस्वाज्ञानकालप्रभवाविद्याविद्याऽऽ-
नन्दपादापवादाधिकरणं तुर्यचरणं व्यष्टिसमष्टितुर्यैकरूपं अपवित्रपरिच्छिन्ना-
विद्याद्वयासंसृष्टत्वात् पवित्रं विततं, चिरन्तनत्वात् पुराणं, येन तुरीयोऽस्मीति

ज्ञानेन स्वाज्ञानाघतः पूतो मुमुक्षुः दुष्कृतानि आगाम्यादिकर्मस्रोतांसि लीलया तरति तथा तेन पवित्रेण शुद्धेन तुरीयोऽस्मीति ज्ञानविज्ञानसम्यज्ज्ञानात्मना वयं मुनयः पूताः सन्तः अतिपाप्मानं अतिपापरूपं अरातिं स्वाज्ञानतत्कार्यास्तित्व-भ्रमं तरेम ॥ ४ ॥ तत्तुर्यज्ञानं कीदृशं? इत्यत्र स्वात्मलोकस्य द्वारभूतं, “नान्यः पन्था अयनाय विद्यते” इति श्रुतेः । प्रत्यग्रूपेण अर्चिमत् पवित्रं पररूपेण ज्योतिष्मद्भाजमानं प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना महस्वत् प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति निर्विकल्पावस्थायां अमृतस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मानन्दरसस्य धारा धारां बहुधा दोहमानं एवं उक्तलक्षणलक्षितं तुर्यचरणं नो अस्माकं अस्मिन् लोके सुधितां जीवनमुक्तत्वं दधातु ददातिवत्यर्थः ॥ ५ ॥ तुर्यस्वरूपमुक्त्वा समष्टिव्यष्टिचक्र-स्वरूपमाह—अयुतेति । अयुतारज्वलन्तं अयुतारगभितं सत् ज्वलन्तं इति प्रथमार्थे द्वितीया लिङ्गव्यत्ययश्च । अपारस्वरूपानन्दानर्गळप्रवाहविग्रहम् । एवं समष्टयात्मकं सुदर्शनम् ॥ ६-१३ ॥

चक्राभ्यन्तरस्थसुदर्शनपुरुषाराधनम्

तदभ्यन्तरे महानन्दपदं विभाति । तत्कर्णिकायां सूर्येन्दु-
वह्निमण्डलानि चिन्मयानि ज्वलन्ति । तत्रोपलक्ष्यते निरतिशयदिव्य-
तेजोराशिः ॥ १३ ॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने युगपदुदितानन्तकोटिरविप्रकाशः सुदर्शन-
पुरुषो विराजते । सुदर्शनपुरुषो महाविष्णुरेव ॥ १४ ॥

महाविष्णोः समस्तासाधारणचिह्नचिह्नितः एवमुपासकः
सुदर्शनपुरुषं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य प्रदक्षिणनमस्कारान्
विधाय उपासकस्तेनाभिपूजितः तदनुज्ञातश्च उपर्युपरि गत्वां

परमानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठान् अवलोक्य उपासकः परमानन्दं
प्राप ॥ १९ ॥

कोऽयं सुदर्शनपुरुषः इत्यत्र —सुदर्शनपुरुषो महाविष्णुरेव ॥ १४—१९ ॥

क्रमेणाद्वैतसंस्थानप्राप्तिः

तत उपरि विविधविचित्रानन्तचिद्विलासविभूतिविशेषानति-
क्रम्य अनन्तपरमानन्दविभूतिसमष्टिविशेषान् अनन्तनिरतिशयानन्द-
समुद्धानतीत्य उपासकः क्रमेणाद्वैतसंस्थानं प्राप ॥ १६ ॥

कथमद्वैतसंस्थानम् । अखण्डानन्दस्वरूपं अनिर्वाच्यं
अमितबोधसागरं अमितानन्दसमुद्रं विजातीयविशेषविवर्जितं सजातीय-
विशेषविशेषितं निरवयवं निराधारं निर्विकारं निरञ्जनं अनन्तब्रह्मा-
नन्दसमष्टिकन्दं परमचिद्विलाससमष्ट्याकारं निर्मलं निरवद्यं
निराश्रयं अतिनिर्मलानन्तकोटिरविप्रकाशैकस्फुलिङ्गं अनन्तोपनिष-
दर्थस्वरूपं अखिलप्रमाणातीतं मनोवाचात्मगोचरं नित्यमुक्तस्वरूपं
अनाधारं आदिमध्यान्तशून्यं कैवल्यं परमं शान्तं सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं
महतो महत्तरं अमितानन्दविशेषं शुद्धबोधानन्दविभूतिविशेषं
अनन्तानन्दविभूतिविशेषसमष्टिरूपं अक्षरं अनिर्देश्यं कूटस्थं अचलं
ध्रुवं अदिग्देशकालं अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य परिपूर्णं परमयोगि-
भिर्विमृग्यं देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं निरन्तराभिनवं
नित्यपरिपूर्णं अखण्डानन्दामृतविशेषं शाश्वतं परमं पदं निरतिशया-
नन्दानन्ततटित्पर्वताकङ्कं अद्वितीयं स्वयंप्रकाशं अनिशं ज्वलति ॥ १७ ॥

परमानन्दलक्षणापरिच्छिन्नानन्तपरंज्योतिः शाश्वतं शश्वद्विभाति ॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने अमितानन्दचिद्रूपाचलं अखण्डपरमानन्द-
विशेषं बोधानन्दमहोज्ज्वलं नित्यमङ्गलमन्दिरं चिन्मथनाविभूत-
चित्सारं अनन्ताश्चर्यसागरं अमिततेजोराश्यन्तर्गततेजोविशेषं
अनन्तानन्दप्रवाहैरलंकृतं निरतिशयानन्दपारावाराकारं निरुपमनित्य-
निरवद्यनिरतिशयनिरवधिकतेजोराशिविशेषं निरतिशयानन्दसहस्र-
प्राकारैरलंकृतं शुद्धबोधसौधावलिविशेषैरलंकृतं चिदानन्दमयानन्त-
दिव्यारामैः सुशोभितं शश्वदमितपुष्पवृष्टिभिः समन्ततः संततम् ॥ १९ ॥

तदेव त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानम् । तदेव परमकैवल्यम् ।
तदेव अबाधितपरमतत्त्वम् । तदेव अनन्तोपनिषद्विमृग्यम् । तदेव
परमयोगिभिर्मुमुक्षुभिः सर्वैराशास्यमानम् । तदेव सद्घनम् । तदेव
चिद्धनम् । तदेवानन्दघनम् । तदेव शुद्धबोधघनविशेषं अखण्डानन्द-
ब्रह्मचैतन्याधिदेवतास्वरूपम् । सर्वाधिष्ठानं अद्वयपरंब्रह्मविहारमण्डलं
निरतिशयानन्दतेजोमण्डलं अद्वैतपरमानन्दलक्षणपरंब्रह्मणः परमा-
धिष्ठानमण्डलं निरतिशयपरमानन्दपरममूर्तिविशेषमण्डलं अनन्त-
परममूर्तिसमष्टिमण्डलं निरतिशयपरमानन्दलक्षणपरंब्रह्मणः परममूर्ति-
परमतत्त्वविलासविशेषमण्डलं बोधानन्दमयानन्तपरमविलासविभूति-
विशेषसमष्टिमण्डलं अनन्तचिद्विलासविभूतिविशेषसमष्टिमण्डलं अखण्ड-
शुद्धचैतन्यनिजमूर्तिविशेषविग्रहं वाचामगोचरानन्तशुद्धबोधविशेषविग्रहं

अनन्तानन्दसमुद्रसमष्ट्याकारं अनन्तबोधाचलैरनन्तबोधानन्दाचलैर-
धिष्ठितं निरतिशयानन्दपरममङ्गलविशेषसमष्ट्याकारं अखण्डद्वैत-
परमानन्दलक्षणपरंब्रह्मणः परममूर्तिपरमतेजःपुञ्जपिण्डविशेषं चिद्रूपा-
दित्यमण्डलं द्वात्रिंशद्व्यूहभेदैरधिष्ठितम् । व्यूहभेदाश्च केशवादि-
चतुर्विंशतिः सुदर्शनादिन्यासमन्त्राः सुदर्शनादियन्त्रोद्धारः अनन्त-
गरुडविष्वक्सेनाश्च निरतिशयानन्दश्च ॥ २० ॥

गमनागमनादिहेतुस्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमो यत्र न विद्यते तदेव अद्वैत-
संस्थानम् ॥ १६ ॥ कथं अद्वैतसंस्थानं स्वरूपमित्यर्थः । निष्प्रतियोगिका-
खण्डानन्दस्वरूपम् । अखिलप्रमाणातीतं वेदान्तेतरप्रमाणागम्यत्वात् ।
मनोवाचामगोचरं अमनस्कतया अशब्दत्वात् । नित्यमुक्तस्वरूपं मुक्तात्मतया
अवशिष्टत्वात् । अनाधारं आधेयाभावात् । आदिमध्यान्तशून्यं जन्मस्थिति-
भङ्गवैरळ्यात् । कैवल्यं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया अवस्थितत्वात् ॥ १७-१८ ॥
चिन्मथनाविर्भूतचित्सारं—विश्वविराडोत्रादिचिद्विकल्पितविशेषजातमथनात्
विशेषभावविलापनात् तदधिकरणतया यदाविर्भूतं तत् चित्सारं स्वाधेयसापेक्षा-
धारताऽपह्वसिद्धं निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रमित्यर्थः । निष्प्रतियोगिकनिरूपमेत्यादि ।
प्राकारसौधारामपुष्पवृष्ट्यादिविशेषणं मुखप्रतिपत्त्यर्थं, अन्यथा निष्प्रतियोगिक-
ब्रह्ममात्रे प्राकारादिकल्पना अस्ति नास्तीति विश्रमो वा कथं सेद्धुं पारयति
॥ १९ ॥ यत् स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति स्वयं निष्प्रतियोगिकमवाशिष्यते तदेव
त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानम् । त्रय्यन्तैः निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावशेषतया यत्
पद्यते ज्ञायते तद्वस्तु त्रिपात् तद्भावापत्तिः विभूतिः त्रिपाद्विभूतिः तस्याः
कालत्रयेऽपि अकुण्ठितस्वरूपत्वात् त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानं, यज्जाग्रजाग्रदादि-
चतुष्पञ्चदशकलनाऽपह्वसिद्धतुर्यतुर्यमिति विख्यातं यदसल्लौकिकाद्यष्टकलना-
ऽस्पृष्टसत्तासामान्यं यज्जडभूत्यादिभूतिचतुष्टयहेयांशापह्वसिद्धतुर्यातीतत्रैपदमिति
श्रुतं यत् क्षराक्षरकलनाविर्लङ्गं परमाक्षरमिति ख्यातं यत् सापेक्षद्वैताद्वैतकलना-

विरलं परमाद्वैतविभवं तदेव त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानम् । स्वाज्ञविकल्पितद्वात्रिं-
शद्वयूहभेदा वक्ष्यमाणसुदर्शनं महानारायणयन्त्रं स्वाविद्यापदप्रविभक्ताविद्याऽऽदि-
पादचतुष्टयं तद्विभातकलनासर्वस्वं च किमाश्रित्य वर्तते इत्यत्र परमार्थदृष्ट्या
तन्निष्प्रतियोगिकमपि स्वज्ञदृष्ट्या सर्वं तदाश्रित्य वर्तत इत्याह—द्वात्रिंशद्वयूहभेदै-
रधिष्ठितम् ॥ २०—२८ ॥

आनन्दव्यूहमध्यस्थं प्रणवविमानम्

आनन्दव्यूहमध्ये सहस्रकोटियोजनायतोन्नतचिन्मयप्रासादं
ब्रह्मानन्दमयविमानकोटिभिरतिमङ्गलं अनन्तोपनिषदर्थारामजालसंकुलं
सामहंसकूजितैरतिशोभितं आनन्दमयानन्तशिखरैरलंकृतं चिदानन्द-
रस^१निर्झरैरभिध्याप्तं अखण्डानन्दतेजोराश्यन्तरस्थितं अनन्तानन्दा-
श्चर्यसागरम् ॥ २१ ॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने अनन्तकोटिरविप्रकाशातिशयप्रकाशं निरति-
शयानन्दलक्षणं प्रणवाख्यं विमानं विराजते । शतकोटिशिखरैरा-
नन्दमयैः समुज्ज्वलति ॥ २२ ॥

तदन्तराले बोधानन्दाचलोपर्यष्टाक्षरीमण्डपो विभाति ॥ २३ ॥

तन्मध्ये च चिदानन्दमयवेदिका आनन्दवनविभूषिता ॥ २४ ॥

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्दतेजोराशिः ॥ २५ ॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने अष्टाक्षरीपद्मविभूषितं चिन्मयासनं
विराजते ॥ २६ ॥

प्रणवकर्णिकायां सूर्येन्दुवह्निमण्डलानि चिन्मयानि ज्वलन्ति ॥

^१ निर्झरै—क, उ.

अनन्तासनोपरिस्थं समष्टिमहायन्त्रम्

तत्राखण्डानन्दतेजोराश्यन्तर्गतं परममङ्गलाकारमनन्तासनं
विराजते ॥ २८ ॥

तस्योपरि च महायन्त्रं प्रज्वलति । निरतिशयब्रह्मानन्दपरम-
मूर्तिमहायन्त्रं समस्तब्रह्मतेजोराशिसमष्टिरूपं चित्स्वरूपं निरञ्जनं
परंब्रह्मस्वरूपं परंब्रह्मणः परमरहस्यकैवल्यं महायन्त्रमयपरमवैकुण्ठ-
नारायणयन्त्रं विजयति ॥ २९ ॥

समस्तब्रह्मतेजोराशिसमष्टिरूपं सप्तकोटिमहामन्त्रतदभिमानिदेवतासमष्टि-
रूपमित्यर्थः । सर्वमन्त्रप्रतिपाद्यदेवतागतनानात्वापाये तद्यन्त्रमेव चित्स्वरूपम् ।
विजयति विजयते उपग्रहव्यत्ययः ॥ २९ ॥

व्यष्टियन्त्रस्वरूपम्

तत्स्वरूपं कथमिति । देशिकस्तथेति होवाच—

आदौ षट्कोणचक्रम् । तन्मध्ये षड्दलपद्मम् । तत्कर्णिकायां
प्रणव ॐ इति । प्रणवमध्ये नारायणबीजमिति । तत्साध्यगर्भितं
—मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरुकुरु स्वाहेति । तत्पद्मदलेषु विष्णुनृसिंह-
षडक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो विष्णवे, ऐं ह्रीं श्रीं ह्रीं ^१क्ष्म्यौं फट् ।
तद्दलकपोलेषु रामकृष्णषडक्षरमन्त्रौ—रां रामाय नमः, ह्रीं कृष्णाय
नमः । षट्कोणेषु सुदर्शनषडक्षरमन्त्रः—सह^२स्रार हुं फडिति । षट्-
कोणकपोलेषु प्रणवयुक्तशिवपञ्चाक्षरमन्त्रः—ॐ नमः शिवायेति ॥ ३० ॥

^१ क्ष्मौं—क, अ १. ^२ क्ष्मौं—अ २, उ १. क्ष्म्यौं—उ. ^३ सारे—क.

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम् । वृत्ताद्बहिरष्टदलपद्मम् ।
तेषु दलेषु नारायणनृसिंहाष्टाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो नारायणाय,
जयजय नरसिंह । तद्दलसन्धिषु रामकृष्णश्रीकराष्टाक्षरमन्त्राः—ॐ
रामाय हुं फट् स्वाहा, क्लीं दामोदराय नमः, उत्तिष्ठ
श्रीकर स्वाहा ॥ ३१ ॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम् । वृत्ताद्बहिर्नवदलपद्मम् ।
तेषु दलेषु रामकृष्णहयग्रीवनवाक्षरमन्त्राः—ॐ रामचन्द्राय नम
ॐम्, क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीम्, ^१ह्रसौं हयग्रीवाय नमो
^१ह्रसौम् । तद्दलकपोलेषु दक्षिणामूर्तिनवाक्षरमन्त्रः—ॐ दक्षिणामूर्ति-
^२रतरोम् ॥ ३२ ॥

तद्बहिरनारायणबीजयुक्तं वृत्तम् । वृत्ताद्बहिर्दशदलपद्मम् । तेषु
दलेषु रामकृष्णदशाक्षरमन्त्रौ—हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा, गोपीजन-
वल्लभाय स्वाहा । तद्दलसन्धिषु नृसिंहमालामन्त्रः—ॐ नमो
भगवते श्रीमहानृसिंहाय करालदंष्ट्रवदनाय मम विघ्नान् पचपच
स्वाहा ॥ ३३ ॥

तद्बहिर्नृसिंहैकाक्षरयुक्तं वृत्तम्—^३क्ष्म्यौ इत्येकाक्षरम् ।
वृत्ताद्बहिर्द्वादशदलपद्मम् । तेषु दलेषु नारायणवासुदेवद्वादशाक्षरमन्त्रौ
—ॐ नमो भगवते नारायणाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।

१. ह्रौं—अ १, अ २. ल्हौं—मु.

रीश्वरोम्—मु.

^३ क्ष्म्यौ—अ १.

तद्दलकपोलेषु महाविष्णुरामकृष्णद्वादशाक्षरमन्त्राश्च—ॐ नमो भगवते महाविष्णवे, ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा, श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः ॥ ३४ ॥

तद्बहिर्जगन्मोहनबीजयुक्तं वृत्तं—क्लीमिति । वृत्ताद्बहिश्च-तुर्दशदलपद्मम् । तेषु दलेषु लक्ष्मीनारायणहयग्रीवगोपालदधिवामन-मन्त्राश्च—ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं लक्ष्मीवासुदेवाय नमः, ॐ नमः सर्वकोटिसर्वविद्याराजाय, क्लीं कृष्णाय गोपालचूडामणये स्वाहा, ॐ नमो भगवते दधिवामनाय । तद्दलसंधिष्वन्नपूर्णेश्वरीमन्त्रः—ह्रीं पद्मावत्यन्नपूर्णे^१माहेश्वरि स्वाहा ॥ ३५ ॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम् । वृत्ताद्बहिः षोडशदलपद्मम् । तेषु दलेषु श्रीकृष्णसुदर्शनषोडशाक्षरमन्त्रौ च—ॐ नमो भगवते रुक्मिणीवल्लभाय स्वाहा, ॐ नमो भगवते महासुदर्शनाय हुं फट् । तद्दलसंधिषु स्वराः सुदर्शनमालामन्त्रश्च—^२अंआंईंउंऊंअंऊंअंलंलृंएं ऐंओंऔंअंअः, सुदर्शनमहाचक्राय दीप्तरूपाय सर्वतो मां रक्षरक्ष सहस्रार हुं फट् स्वाहा ॥ ३६ ॥

तद्बहिर्वराहबीजयुक्तं वृत्तं—तद्भूमिति । वृत्ताद्बहिरष्टादशदल-पद्मम् । तेषु दलेषु श्रीकृष्णवामनाष्टादशाक्षरमन्त्रौ—क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा, ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा । तद्दलकपोलेषु गरुडपञ्चाक्षरमन्त्रो गरुडमालामन्त्रश्च

^१ माहेश्वरी—अ १, उ^१ १, क.

^२ विन्दुरहिताः (अ १, अ २, क) कोशेषु.

—क्षिप ॐ स्वाहा, ॐ नमः पक्षिराजाय सर्वविषभूतरक्षःकृत्याऽऽदि-
भेदनाय सर्वेष्टसाधकाय स्वाहा ॥ ३७ ॥

तद्बहिर्मायाबीजयुक्तं वृत्तं—हीमिति । वृत्ताद्बहिः पुनरष्ट-
दलपद्मम् । तेषु दलेषु श्रीकृष्णवामनाष्टाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो
दामोदराय, ॐ ^१वामनाय नमः ॐम् । तद्दलकपोलेषु नीलकण्ठ-
त्र्यक्षरीगरुडपञ्चाक्षरीमन्त्रौ च—^२प्रं रीं ठः, नमोऽण्डजाय ॥ ३८ ॥

तद्बहिर्मन्मथबीजयुक्तं वृत्तम् । वृत्ताद्बहिश्चतुर्विंशतिदलपद्मम् ।
तेषु दलेषु शरणागतनारायणमन्त्रौ नारायणहयग्रीवगायत्रीमन्त्रौ च
—श्रीमन्नाारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते नारायणाय नमः,
नारायणाय, विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्,
वागीश्वराय विद्महे हयग्रीवाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात् ।
तद्दलकपोलेषु नृसिंहसुदर्शनब्रह्मगायत्रीमन्त्राश्च—वज्रनखाय विद्महे
तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि ^३तन्नः सिंहः प्रचोदयात्, सुदर्शनाय विद्महे
हेतिराजाय धीमहि तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३९ ॥

तद्बहिर्हयग्रीवैकाक्षरयुक्तं वृत्तं—ह्रसौमिति । वृत्ताद्बहिर्द्वा-
त्रिंशद्दलपद्मम् । तेषु दलेषु नृसिंहहयग्रीवानुष्टुभमन्त्रौ—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् ।

नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ॥

^१ वां वा—अ १, उ. ^२ प्रं—अ २, उ. ^३ तन्नो नारसिं—अ २. तन्नो नृसिं—मु.

ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे ।

प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः ॥

तद्दलकपोलेषु रामकृष्णानुष्टुभमन्त्रौ—

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।

भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ¹ते ॥

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते ।

देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥ ४० ॥

तद्ब्रह्मिः प्रणवसंप्रुटिताग्निबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ रं ॐ
इति । वृत्ताद्ब्रह्मिः षट्त्रिंशद्दलपद्मम् । तेषु दलेषु हयग्रीवषट्त्रिंशदक्षर-
मन्त्रः पुनरष्टत्रिंशदक्षरमन्त्रश्च—

हंसः—विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय त्रिन्मयानन्दरूपिणे ।

तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे—सोहम् ॥

ह्रस्रौं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय सर्ववागीश्वरेश्वराय
सर्ववेदमयाय सर्वविद्यां मे देहि स्वाहा । तद्दलकपोलेषु प्रणवादि-
नमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः केशवादिचतुर्विंशतिमन्त्राश्च । अवशिष्टद्वादश-
स्थानेषु रामकृष्णगायत्रीद्वयवर्णचतुष्टयमेकैकस्थले—ॐ केशवाय
नमः ॐ नारायणाय नमः ॐ माधवाय नमः ॐ गोविन्दाय
नमः ॐ विष्णवे नमः ॐ मधुसूदनाय नमः ॐ त्रिविक्रमाय नमः

ॐ वामनाय नमः ॐ श्रीधराय नमः ॐ हृषीकेशाय नमः ॐ
 पद्मनाभाय नमः ॐ दामोदराय नमः ॐ संकर्षणाय नमः ॐ
 वासुदेवाय नमः ॐ प्रद्युम्नाय नमः ॐ अनिरुद्धाय नमः ॐ
 पुरुषोत्तमाय नमः ॐ अधोक्षजाय नमः ॐ नरसिंहाय नमः ॐ
 अच्युताय नमः ॐ जनार्दनाय नमः ॐ उपेन्द्राय नमः ॐ
 हरये नमः ॐ श्रीकृष्णाय नमः, दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय
 धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्, दामोदराय विद्महे वासुदेवाय
 धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ॥ ४१ ॥

तद्ब्रुहिः प्रणवसंपुटिताङ्कुशबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ क्रौं ॐ
 इति । तद्ब्रुहिः पुनर्वृत्तम् । तन्मध्ये द्वादशकुक्षिस्थानानि सान्तरालानि ।
 तेषु कौस्तुभवनमालाश्रीवत्ससुदर्शनगरुडपद्मध्वजानन्तशार्ङ्गगदाशङ्ख-
 नन्दकमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण—ॐ कौस्तुभाय
 नमः ॐ वनमालायै नमः ॐ श्रीवत्साय नमः ॐ सुदर्शनाय नमः
 ॐ गरुडाय नमः ॐ पद्माय नमः ॐ ध्वजाय नमः ॐ अनन्ताय
 नमः ॐ शार्ङ्गाय नमः ॐ गदायै नमः ॐ शङ्खाय नमः ॐ
 नन्दकाय नमः । तदन्तरालेषु—ॐ विष्वक्सेनाय नमः ॐ
 आचक्राय स्वाहा ॐ विचक्राय स्वाहा ॐ सुचक्राय स्वाहा ॐ
 धीचक्राय स्वाहा ॐ ^१संचक्राय स्वाहा ॐ ज्वालाचक्राय स्वाहा ॐ
 कुद्धोल्काय स्वाहा ॐ महोल्काय स्वाहा ॐ वीर्योल्काय स्वाहा

ॐ ^१विद्योल्काय स्वाहा ॐ सहस्रोल्काय स्वाहा इति
प्रणवादिमन्त्राः ॥ ४२ ॥

तद्ब्रह्मिः प्रणवसंपुटितगरुडपञ्चाक्षरयुक्तं वृत्तम्—ॐ क्षिप
ॐ स्वाहा ॐम् । तच्च द्वादशवज्रैः सान्तरालैरलंकृतम् । तेषु वज्रेषु
—ॐ पद्मनिधये नमः ॐ महापद्मनिधये नमः ॐ गरुडनिधये
नमः ॐ शङ्खनिधये नमः ॐ मकरनिधये नमः ॐ कच्छपनिधये
नमः ॐ विद्यानिधये नमः ॐ परमानन्दनिधये नमः ॐ मोक्षनिधये
नमः ॐ लक्ष्मीनिधये नमः ॐ ब्रह्मनिधये नमः ॐ श्रीमुकुन्दनिधये
नमः । तत्संधिस्थानेषु—ॐ विद्याकल्पकतरवे नमः ॐ आनन्द-
कल्पकतरवे नमः ॐ ब्रह्मकल्पकतरवे नमः ॐ मुक्तिकल्पकतरवे
नमः ॐ मृतकल्पकतरवे नमः ॐ बोधकल्पकतरवे नमः ॐ
विभूतिकल्पकतरवे नमः ॐ वैकुण्ठकल्पकतरवे नमः ॐ वेदकल्प-
कतरवे नमः ॐ योगकल्पकतरवे नमः ॐ यज्ञकल्पकतरवे नमः ॐ
पद्मकल्पकतरवे नमः । तच्च शिवगायत्रीपरब्रह्ममन्त्राणां वर्णवृत्ताकारेण
संवेष्ट्य—तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्,

श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।

नारायणपरं ब्रह्म नारायण नमोऽस्तु ते ॥ ४३ ॥

तद्ब्रह्मिः प्रणवसंपुटितश्रीबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ श्रीमोमिति ।
वृत्ताद्ब्रह्मिश्चत्वारिंशदल्पद्मम् । तेषु दलेषु व्याहृतिशिरस्संपुटितवेद-

^१ विद्युल्का—अ १, अ २१ युल्का—मु.

गायत्रीपादचतुष्टयसूर्याष्टाक्षरीमन्त्रौ—ॐ भूः ॐ भुवः ॐ सुवः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम् ॐ भर्गो देवस्य धीमहि ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ परोरजसे सावादोम् ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्, ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः । तद्दलसंधिषु प्रणवश्रीबीजसंपुटितनारायणबीजं सर्वत्र— ॐ श्रीमं श्रीमोम् ॥ ४४ ॥

तद्दहिरष्टशूलाङ्कितभूचक्रम् । चक्रान्तश्चतुर्दिक्षु हंसःसोहंमन्त्रौ प्रणवसंपुटितौ नारायणास्त्रमन्त्रश्च—ॐ हंसः सोहम्, ॐ नमो नारायणाय हुं फट् ॥ ४५ ॥

तद्दहिः प्रणवमालासंयुक्तं वृत्तम् । वृत्ताद्दहिः पञ्चाशद्वलपद्मम् । तेषु दलेषु मातृकापञ्चाशदक्षरमाला लकारवर्जा । तद्दलसंधिषु प्रणवश्रीबीजसंपुटितरामकृष्णमालामन्त्रौ—ॐ श्रीमों नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः श्रीमों, ॐ श्रीं ॐ नमः कृष्णाय देवकीपुत्राय वासुदेवाय निगलच्छेदनाय सर्वलोकाधिपतये सर्वजगन्मोहनाय विष्णवे कामितार्थदाय स्वाहा श्रीमोम् ॥ ४६ ॥

तद्दहिरष्टशूलाङ्कितभूचक्रम् । तेषु प्रणवसंपुटितमहानीलकण्ठमन्त्रवर्णानि—ॐ नमो नीलकण्ठाय ॐ । शूलाग्रेषु लोकपालमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण—ॐ मिन्द्राय नमः ॐ मग्नये

¹ नं नमो—क, अ २.

नमः ॐ यमाय नमः ॐ निर्ऋतये नमः ॐ वरुणाय नमः ॐ
वायवे नमः ॐ सोमाय नमः ॐमीशानाय नमः ॥ ४७ ॥

तद्ब्रह्मिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तत्रयम् । तद्ब्रह्मिर्भूपुरचतुष्टयं
चतुर्द्वारयुतं चक्रकोणच^१तुष्टयमहावज्रविभूषितम् । तेषु वज्रेषु
प्रणवश्रीबीजसंप्रुटितामृतबीजद्वयम्—ॐ श्रीं ॐ वं श्रीमोमिति ।
ब्रह्मिर्भूपुरवीथ्याम्—ॐमाधारशक्त्यै नमः ॐ मूलप्रकृत्यै नमः
ॐमादिकूर्माय नमः ॐमनन्ताय नमः ॐ पृथिव्यै नमः ।
मध्यभूपुरवीथ्याम्—ॐ क्षीरसमुद्राय नमः ॐ रत्नद्वीपाय नमः ॐ
रत्नमण्डपाय नमः ॐ श्वेतच्छत्राय नमः ॐ कल्पकवृक्षाय नमः
ॐ ३रत्नसिंहासनाय नमः । प्रथमभूपुरवीथ्यां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्मा-
ज्ञानावैराग्यानैश्वर्यसत्त्वरजस्तमोमायाविद्याऽनन्तपद्माः प्रणवादिनमो-
न्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण । बाह्यवृत्तवीथ्यां विमलोत्कर्षिणी^४ज्ञानाक्रिया-
^५योगाप्रह्वीसत्येशानाः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण । अन्त-
वृत्तवीथ्यां—ओमनुग्रहायै नमः, ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्व-
भूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपीठात्मने नमः । वृत्तावकाशेषु—

बीजं प्राणं च शक्तिं च दृष्टिं वश्यादिकं तथा ।

मन्त्रयन्त्राख्यगायत्रीप्राणस्थापनमेव च ।

भूतदिक्पालबीजानि यन्त्रस्याङ्गानि वै दश ॥

मूलमन्त्रमालामन्त्रकवचदिग्बन्धनमन्त्राश्च ॥ ४८ ॥

^१ तुष्टयं म—उ. तुष्टयमष्टवज्र—अ १. ^२ वं वं—क. ^३ रक्त—अ १, अ २.

^४ ज्ञान—अ २, उ १.

^५ योग—अ २. योगाबद्धी—अ १.

भावनामयसमष्टियन्त्रेयत्तां बुद्धा व्यष्टियन्त्रेयत्तां पृच्छति—तत्स्वरूप-
मिति । मम . . . कुरु स्वाहेति साध्यनामानि ॥ ३०-४८ ॥

महायन्त्रमहिमा

एवंविधमेतद्यन्त्रं महामन्त्रमयं योगधीरान्तैः परममन्त्रैरलंकृतं
षोडशोपचारैरभ्यर्चितं जपहोमादिना साधितमेतद्यन्त्रं शुद्धब्रह्मतेजोमयं
सर्वाभयंकरं समस्तदुरितक्षयकरं सर्वाभीष्टसंपादकं सायुज्यमुक्तिप्रदं
एतत् परमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रं प्रज्वलति ॥ ४९ ॥

एतद्यन्त्रं तद्गतनानात्वकलनापाये शुद्धब्रह्मतेजोमयं सर्वाभयंकरं सर्वात्म-
रूपत्वात् स्वभक्तपटलस्य समस्तदुरितक्षयकरम् ॥ ४९ ॥

महायन्त्रोपरिस्थस्य आदिनारायणस्य स्वरूपम्

तस्योपरि च निरतिशयानन्दतेजोराश्यभ्यन्तरसमासीनं
वाचामगोचरानन्दतेजोराश्याकारं चित्साराविभूतानन्दविग्रहं बोधा-
नन्दस्वरूपं निरतिशयसौन्दर्यपारावारं तुरीयस्वरूपं तुरीयातीतं
चाद्वैतपरमानन्दं निरन्तरातितुरीयनिरतिशयसौन्दर्यानन्दपारावारं
लावण्यवाहिनीकल्लोलतटिद्भासुरं दिव्यमङ्गलविग्रहं मूर्तिमद्भिः परम-
मङ्गलैरुपसेव्यमानं चिदानन्दमयैरनन्तकोटिरविप्रकाशैरनन्तभूषणैरलं-
कृतं सुदर्शनपाञ्चजन्यपद्मगदाऽसिशाङ्कमुसलपरिघाद्यैश्चिन्मयैरनेकायुध-
गणैर्मूर्तिमद्भिः सुसेवितं श्रीवत्सकौस्तुभवनमालाऽङ्कितवक्षसं ब्रह्मकल्प-
वनामृतपुष्पवृष्टिभिः सन्ततमानन्दं ब्रह्मानन्दरसनिर्भरैरसंख्यैरतिमङ्गलं
शेषायुतफणाजालविपुलच्छत्रशोभितं तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योति-

तविग्रहं तदङ्गकान्तिनिर्झरैस्ततं निरतिशयब्रह्मगन्धस्वरूपं निरति-
शयानन्दब्रह्मगन्धविशेषाकारं अनन्तब्रह्मगन्धाकारसमष्टिविशेषं अनन्ता-
नन्दतुलसीमाल्यैरभिनवं चिदानन्दमयानन्तपुष्पमाल्यैर्विराजमानं
तेजःप्रवाहतरङ्गतत्परम्पराभिर्ज्वलन्तं निरतिशयानन्तकान्तिविशेषा-
वतैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तं बोधानन्दमयानन्तधूपदीपावलिभिरतिशोभितं
निरतिशयानन्दचामरविशेषैः परिसेवितं निरन्तरनिरुपमनिरतिशयोत्कट-
ज्ञानानन्दानन्तगुच्छफलैरलंकृतं चिन्मयानन्ददिव्यविमानच्छत्रध्व-
जराजिभिर्विराजमानं परममङ्गलानन्तदिव्यतेजोभिर्ज्वलन्तं अनिशं
वाचामगोचरानन्ततेजोराशयन्तर्गतं अर्धमात्रात्मकं तुर्यं ध्वन्यात्मकं
तुरीयातीतं अवाच्यं नादबिन्दुकलाऽध्यात्मस्वरूपं चैत्याद्यनन्ता-
कारेणावस्थितं निर्गुणं निष्क्रियं निर्मलं निरवद्यं निरञ्जनं निराकारं
निराश्रयं निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणं आदिनारायणं ध्याये-
दित्युपनिषत् ॥ ९० ॥

एवंविधयन्त्राधिकरणचैतन्यस्वरूपमाह—तस्येति। चित्तसारविभूतानन्द-
विग्रहं—चिच्छब्देन चेतनप्रपञ्च उच्यते। तत्सारस्तु तद्गतहेयांशापायसिद्धप्रत्यग-
भिन्नपरमात्मोच्यते। तन्मात्रतया आविर्भूतानन्द एव विग्रहो यस्य तत्
तथोक्तम्। निरतिशयसौन्दर्यपारावारं विष्णवात्मना स्वोपासकभक्तपटल-
मनोहरदिव्यमङ्गलविग्रहत्वात् स्वोपासकस्वाज्ञानक्षयानुरोधेन तुरीयस्वरूपं
तुरीयातीतं च। निर्विशेषतुर्यतुर्यातीतस्वरूपे निर्विशेषब्रह्मबोधकवाक्यानामद्वैत-
परमानन्दादीनां समन्वयः। भक्तेच्छया स्वीकृतमूर्तिमद्विष्णौ दिव्यमङ्गल-
विग्रहमित्यादिसविशेषवाक्यानां समन्वयः सर्वत्र द्रष्टव्यः। उदर्चिः निरुपमकान्तिः।
प्रथमाध्याये पादचतुष्टयात्मकं ब्रह्म प्रतिज्ञातम्—अविद्यापादः सुविद्यापादः आनन्द-

पादः तुर्यपादश्चेति । तत्र तुर्यपादप्रविभक्त्युर्यपादस्तु तुर्यतुरीयं तुर्यातीतं चेति प्रति-
पादितं यत् तदेव “चरणं पवित्रं” इत्युपक्रम्य त्रिपाद्विभूतिमहानारायणयन्त्र-
तद्ध्यक्षदेवताजाततद्गतविशेषांशापवादाधिकरणं तुर्यचैतन्यं तद्गतविशेषसामान्या-
संभवप्रबोधसिद्धं तुर्यातीततया प्रथिततुर्यतुर्यं त्रैपदं ब्रह्ममात्रमवशिष्यते इत्युपसंहरति
—अर्धमात्रात्मकमिति । तुरीयस्य अर्धमात्रातत्कार्यनादावभासकतया अर्ध-
मात्रात्मकत्वम् । ध्वन्यात्मकमिति यदर्धमात्राद्यवाच्यं तदेव तुरीयातीतं
तुर्यतुर्यतया लक्षितत्वात् । नादबिन्द्वादिकं तस्मात् भिद्यत इत्यत्र तदतिरेकेण
नादादेरभावात् तदेव सर्वमित्याह—नादबिन्दुकलाऽध्यात्मस्वरूपं चेति ।
अनन्ताकारत्वे त्रिगुणत्वं सक्रियत्वं मलवत्त्वं साश्रयत्वं च स्यादित्यत आह—
निर्गुणमिति । यन्निर्गुणमित्यादिविशेषणबोधितं तदेवादिसर्वकारणत्वात् कार्य-
सापेक्षकारणतायाः विशेषत्वप्रसक्तौ वस्तुतो यत्र कार्यकारणकलनाजातं
नास्त्यरमिति नारं कार्यकारणकलनापह्नवसिद्धौ त्रैपदं अयनं धाम स्वरूपं यस्य
सोऽयं आदिनारायणः तं परमात्मानं स्वावशेषधिया ध्यायेत् । इत्युपनिषच्छब्दः
सप्तमाध्यायपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ९० ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि परममोक्षस्वरूपप्रकटनपूर्वकं त्रिपाद्विभूतिपरमवैकुण्ठ-
महानारायणयन्त्रस्वरूपनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः

अष्टमोऽध्यायः

अद्वैते ब्रह्मणि वैकुण्ठादिभेदसत्त्वोपपादनम्

ततः पितामहः परिपृच्छति भगवन्तं महाविष्णुं—भगवन्
शुद्धाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तव कथं विरुद्धवैकुण्ठप्रासादप्राकार-
विमानाद्यनन्तवस्तुभेदः ॥ १ ॥

सत्यमेवोक्तमिति भगवान् महाविष्णुः परिहरति । यथा शुद्धसुवर्णस्य कटकमकुटाङ्गदादिभेदः, यथा समुद्रसलिलस्य स्थूल-सूक्ष्मतरङ्गफेनबुद्बुदकरकलवणपाषाणाद्यनन्तवस्तुभेदः, यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृणगुल्मलताऽऽद्यनन्तवस्तुभेदः, तथैवाद्वैतपरमानन्दलक्षणपर-ब्रह्मणो मम सर्वाद्वैतमुपपन्नं भवत्येव । मत्स्वरूपमेव सर्वं मद्ब्रह्मचरित्कमणुमात्रं न विद्यते ॥ २ ॥

यद्यद्वैतोऽसि त्वं तदा वैकुण्ठादिभेदः कथमिति पृच्छतीत्याह—तत् इति ॥ १ ॥ तत्र दृष्टान्तत्रयमाचष्टे—यथेति । तत् कथं? मत्स्वरूपमेवेति ॥ २ ॥

अनन्तवैकुण्ठसत्त्वोपपादनम्

पुनः पितामहः परिपृच्छति—भगवन् परमवैकुण्ठ एव परममोक्षः । परममोक्षस्त्वेक एव श्रूयते सर्वत्र । कथमनन्तवैकुण्ठाश्च अनन्तानन्दसमुद्रादयश्च अनन्तमूर्तयः सन्तीति ॥ ३ ॥

तथेति होवाच भगवान् महाविष्णुः—एकस्मिन्नविद्यापादेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि श्रूयन्ते । तस्मिन्नेकस्मिन्नण्डे बहवो लोकाश्च बहवो वैकुण्ठाश्चानन्तविभूतयश्च सन्त्येव । सर्वाण्डेष्वनन्त-लोकाश्चानन्तवैकुण्ठाः सन्तीति सर्वेषां खल्वभिमतम् । पादत्रयेऽपि किं वक्तव्यम् । निरतिशयानन्दाविर्भावो मोक्ष इति मोक्षलक्षणं पादत्रये वर्तते । तस्मात् पादत्रयं परममोक्षः । पादत्रयं परमवैकुण्ठः । पादत्रयं परमकैवल्यमिति । ततः शुद्धचिदानन्दब्रह्मविलासानन्दा-

श्चानन्तपरमानन्दविभूतयश्चानन्तवैकुण्ठाश्चानन्तपरमानन्दसमुद्रादयः
सन्त्येव ॥ ४ ॥

श्रुत्वाऽपि तत्रासंभवमाशंक्य पृच्छतीत्याह — पुनरिति ॥ ३ ॥ तत्प्रश्न-
मङ्गीकृत्य परिहरति—तथेति । स्वाविद्यापादप्रविभक्तस्वाविद्यापादे । एव-
मनन्तकोटिवैकुण्ठालंकृते तत्सूक्ष्मबीजतुर्यांशात्मकविद्यादिपादत्रयेऽपि किं वक्तव्यं
अनन्तवैकुण्ठादयः सन्तीति । अविद्यापादगाविद्यापादस्य बन्धहेतुप्रवृत्तिसाधकत्वं,
तदपेक्षया विद्याऽऽदिपादत्रयस्य अतिरिक्तप्रपञ्चनिवृत्तिप्रधानत्वेन मोक्षसाधनज्ञान-
जनकत्वं स्यादित्याह —निरतिशयेति । यस्मात् [अ]विद्याऽऽदिपादत्रयगत-
विकाराभावतः पादत्रयस्य अजडक्रियाज्ञानेच्छाशक्त्यात्मकज्ञानविज्ञानसम्यग्ज्ञान-
रूपत्वं [त्वात्] युज्यते ज्ञानादेः मोक्षादिफलकत्वं तस्मात् । पादत्रयं
परमकैवल्यमिति—सन्निहितसाधनस्य फलपर्यवसायित्वेन फलवत्त्वोक्तिः ।
अनन्तानन्दसमुद्रादयः सन्त्येवेति यत्तत्पादचतुष्टयेऽपि समानम् । यत एवं
अतः पादचतुष्टयमपि सविशेषमेव । पादचतुष्टयतत्कार्यकलनाऽसंभवप्रबोधसिद्ध-
निःप्रतियोगिकब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणविकलेवरकैवल्यमेव निःप्रतियोगिकनिर्विशेष-
त्रैपदमित्यत्र—

महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते ।

अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् ॥

इति श्रुतेः ॥ ४ ॥

परमतत्त्वावबोधेन ब्रह्ममात्रावशेषः

उपासकस्ततोऽभ्येत्यैवंविधं नारायणं ध्यात्वा प्रदक्षिण-
नमस्कारान् विधाय विविधोपचारैरभ्यर्च्य निरतिशयाद्वैतपरमानन्द-
लक्षणो भूत्वा तदग्रे सावधानेनोपविश्य अद्वैतयोगमास्थाय
: सर्वाद्वैतपरमानन्दलक्षणाखण्डामिततेजोराश्याकारं विभाव्योपासकः

स्वयं शुद्धबोधानन्दमयामृतनिरतिशयानन्दतेजोराश्याकारो भूत्वा
 महावाक्यार्थमनुस्मरन् ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि योऽ-
 हमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा अहं ब्रह्मेति
 भावनया यथा परमतेजोमहानदीप्रवाहः परमतेजःपारावारे प्रविशति
 यथा परमतेजःपारावारतरङ्गाः परमतेजःपारावारे प्रविशन्ति तथैव
 सच्चिदानन्दात्मोपासकः सर्वपरिपूर्णोऽहं रमानन्दलक्षणपरब्रह्मणि
 नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहमस्मीति
 प्रविवेश तत उपासको निस्तरङ्गाद्वैतापारनिरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो
 बभूव ॥ ५ ॥

यस्त्वेनेन मार्गेण सम्यगाचरति स नारायणो भवत्यसंशयमेव ।
 अनेन मार्गेण सर्वे मुनयः सिद्धिं गताः । असंख्याताः परमयोगिनश्च
 सिद्धिं गताः ॥ ६ ॥

एवं देशिकमुखतः परमतत्त्वरहस्यमवबुध्य शिष्यः निर्विशेषब्रह्ममात्र-
 प्रबोधसमकालं तन्मात्रमवशिष्यत इत्याह—उपासक इति । “ ब्रह्माहमस्मि ”
 इत्याद्यं वाक्यं ब्रह्मण्यनात्मताभ्रान्तिवारकम् । “ अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि ” इति
 वाक्यं तु आत्मन्यब्रह्मत्वभ्रमवारकम् । “ योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि ” इति वाक्यं
 तु प्रत्यक्परचितोर्भेदः स्वाज्ञविकल्पितः योऽहं जीवोऽस्मीति, स्वज्ञदृष्टया
 ब्रह्माहमस्मीति, परमार्थदृष्टया तयोः प्रसक्तभेदैक्यभ्रमो नास्तीति । “ अहमेवाहं
 मां जुहोमि स्वाहा ” इति मन्त्रस्तु—अहमेव परमात्मा निष्प्रतियोगिकोऽहं,
 ममानात्मापह्ववसिद्धत्वात् । अत एव ब्रह्ममात्राग्नौ प्रत्यक्परविभागैक्यहेतुभूतां
 अविद्याविद्यारूपां मां मायां जुहोमि अपह्ववं कृत्वा तदपह्ववसिद्धं ब्रह्म स्वमात्रमिति
 तन्मात्रतया अवशिष्यत इत्यर्थः । एवं अहं ब्रह्मेति भावनया । उपदेशार्थः

प्रवेशशब्दः, न तु ग्रामप्रवेशवत् इत्यत्र—“आसिः स्वमात्रावशेषो न हि ग्रामान्तरासिवत्” इति नामार्थविवेकोक्तेः । ततः किमित्यत आह— तत इति ॥ ५ ॥ मदुक्तार्थं यथावत् यो वेद सोऽपि कृतकृत्यो भवतीत्याह— यस्त्विति । भवन्तं प्रति यो मया दर्शितः अनेनेति । तस्मात् मदुक्तमार्ग एव श्रेयानित्यर्थः ॥ ६ ॥

सालम्बनिरालम्बयोगभेदः

ततः शिष्यो गुरुं पृच्छति—भगवन् सालम्बनिरालम्बयोगौ कथमिति ॥ ७ ॥

सालम्बस्तु करचरणादिमूर्तिविशिष्टं मण्डलाद्यालम्बनं सालम्ब-योगः । निरालम्बस्तु समस्तनामरूपकर्मातिदूरतया सर्वकामाद्यन्तः-करणवृत्तिसाक्षितया तदालम्बनशून्यतया च भावनं निरालम्बयोगः ॥ ८ ॥

सालम्बनिरालम्बयोगेयतां पृच्छति—भगवन्निति ॥ ७ ॥ पृष्टो भगवानेवमाह—सालम्बस्त्विति ॥ ८ ॥

निरालम्बयोगाधिकारिलक्षणम्

अथ च निरालम्बयोगाधिकारी कीदृशो भवति ॥ ९ ॥

अमानित्वादिलक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स एव निरालम्ब-योगाधिकारी ॥ १० ॥

तत्रान्यतराधिकारी कीदृशः ? इति पृच्छति—अथेति ॥ ९ ॥ उत्तर-माह—अमानित्वादीति ॥ १० ॥

सर्वाधिकारिको भक्तियोगः

कार्यः कश्चिदस्ति । तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां च भक्तियोग एव प्रशस्यते । भक्तियोगो निरुपद्रवः ।

भक्तियोगान्मुक्तिः । ^१भक्तिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं
भवति ॥ ११ ॥

तत् कथमिति । भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो
भक्तिनिष्ठान् सर्वान् परिपालयति सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति मोक्षं दापयति
चतुर्मुखादीनाम् । सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो
न विद्यते । कारणेन विना कार्यं नोदेक्षि १ भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं
कदाऽपि न जायते । तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय ।
भक्तिनिष्ठो भव । भक्तिनिष्ठो भव । भक्त्या सर्वमिद्द्वयः सिद्ध्यन्ति ।
भक्त्यसाध्यं न किञ्चिदस्ति ॥ १२ ॥

निरालम्बयोगस्त्वधिकारिविषयः न हि सर्वसाधारणो भवति, तथा
चेदनधिकारिणां का गतिः इत्यत्र अधिकार्यनधिकारिणोरपि साधारणोपायभूत-
भक्तियोगमेव स्तौति—कार्यं इति । यस्मात् अधिकार्यनधिकारिणोरपि परम-
सुलभोपायतया कार्यः कश्चिदस्तीति । किं तत् ? इत्यत्र—तस्मादिति ।
स्वाधिकारानुगुण्येन सोऽहं दासोऽहं इति भजनं भक्तिः “स्वस्वरूपानुसंधानं
भक्तिरित्यभिधीयते” इति भाष्यकारोक्तेः, सैव योगः । तस्यायासाल्पत्वं
फलानल्पत्वं चाह—भक्तियोग इति ॥ ११ ॥ सर्वान् पालयति—स्वाप्रबोधो
हि मोक्षविघ्न इत्यर्थः । चतुर्मुखादीनां स्वप्रतिपत्त्येत्यर्थः । सर्वेषामपि विना
विष्णुभक्त्या ब्रह्मज्ञानानुदयात् तदितरसाधनैः कल्पकोटिभिः मोक्षो न
विद्यते ॥ १२ ॥

भक्तियोगादनायासेन नारायणभावप्राप्तिः

एवंविधं गुरुपदेशमाकर्ण्य सर्वं परमतत्त्वरहस्यमवबुध्य
सर्वसंशयान् विधूय क्षिप्रमेव मोक्षं साधयामीति निश्चित्य ततः

शिष्यः समुत्थाय प्रदक्षिण^१नमस्कारं कृत्वा गुरुभ्यो गुरुपूजां
विधाय गुर्वनुज्ञया क्रमेण भक्तिनिष्ठो भूत्वा भक्त्यतिशयेन पक्वविज्ञानं
प्राप्य तस्मादनायासेन शिष्यः क्षिप्रमेव साक्षान्नारायणो बभूवेत्यु-
पनिषत् ॥ १३ ॥

नारायणयाथात्म्यज्ञानात् नारायण एव भवति । इत्युपनिषच्छब्दः
गुरुशिष्याख्यायिकासमाप्त्यर्थः ॥ १३ ॥

परमरहस्यस्मरणादेर्महिमा

ततः प्रोवाच भगवान् महाविष्णुः चतुर्मुखमवलोक्य—
ब्रह्मन् परमतत्त्वरहस्यं ते सर्वं कथितम् । तत्स्मरणमात्रेण मोक्षो
भवति । तदनुष्ठानेन सर्वमविदितं विदितं भवति । यत्स्वरूपज्ञानिनः
सर्वमविदितं विदितं भवति तत् सर्वं परमरहस्यं कथितम् ॥ १४ ॥

ततः किमित्यत आह—तत् इति । नातः परं ते वक्तव्यं विद्यते, यद्वक्तव्यं
परमतत्त्वरहस्यं तस्य साकल्येनोक्तत्वात् “नातः परं हि वेदितव्यमिति
किञ्चित्” इति हि श्रुतेः ॥ १४ ॥

आदिनारायणैकनिष्ठाविधिः

गुरुः क इति । गुरुः साक्षादादिनारायणः पुरुषः । स
आदिनारायणोऽहमेव । तस्मान्मामेकं शरणं ब्रज । मद्भक्तिनिष्ठो
भव । मदीयोपासनां कुरु । मामेव प्राप्स्यसि । मद्यतिरिक्तं सर्वं
बाधितम् । मद्यतिरिक्तमबाधितं न किञ्चिदस्ति । निरतिशयानन्द-

^१ नमस्कारान्—अ २.

द्वितीयोऽहमेव । सर्वपरिपूर्णोऽहमेव । सर्वाश्रयोऽहमेव । वाचा-
भगोचरनिराकारपरब्रह्मस्वरूपोऽहमेव । मद्यतिरिक्तमणुमात्रं न
विद्यते ॥ १५ ॥

येनेदं कथितं स कीदृश इत्याक्षिपति—गुरुः क इति । यस्मादेवं
तस्मात् मां निष्प्रतियोगिकैकं ब्रह्मास्मीति शरणं ब्रज प्रपत्तिं कुर्वित्यर्थः ।
यद्येवमधिकारी न भवसि तदा मद्भक्तिनिष्ठो भव । त्वद्भ्यतिरिक्ताश्रयणे का
हानिरित्यत आह—मद्भ्यतिरिक्तमिति । तथा चेत् त्वं कीदृशः इत्यत्र—
निरतिशयेति । स्वातिरिक्तसर्वप्रसक्तौ तदाश्रयत्वं, वस्तुतो निराश्रयोऽस्मी-
त्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

महाविष्णुभक्तिः सकलश्रेयःप्राप्तिः

इत्येवं महाविष्णोः परमिममुपदेशं लब्ध्वा पितामहः
परमानन्दं प्राप ॥ १६ ॥

विष्णोः कराभिमर्शनेन दिव्यज्ञानं प्राप्य पितामहस्ततः
समुत्थाय प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैर्महाविष्णुं प्रपूज्य
प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसंगम्य भगवन् भक्तिनिष्ठां मे प्रयच्छ ।
त्वदभिन्नं मां परिपालय कृपालय ॥ १७ ॥

तथैव साधु साध्विति साधुप्रशंसापूर्वकं महाविष्णुः प्रोवाच
—मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः^१स भवति । मदुपासनया सर्वमङ्गलानि
भवन्ति । मदुपासनया सर्वं जयति । मदुपासकः सर्वबन्धो भवति ।
मदीयोपासकस्यासाध्यं न किञ्चिदस्ति । सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति ।

^१ संभ—अ १, अ २६

सद्वृत्तमिव सर्वे देवास्तं सेवन्ते । महाश्रेयांसि च सेवन्ते । मदु-
पासकस्तस्मान्निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्म भवति । यो वै
मुमुक्षुरनेन मार्गेण सम्यगाचरति स परमानन्दलक्षणपरब्रह्म भवति ॥ १८ ॥

ततः किमित्यत आह—विष्णोरिति ॥ १७ ॥ मदुक्तमार्गानुसरणफल-
माह—य इति ॥ १८ ॥

एतदुपनिषदध्ययनादेर्महिमा

यस्तु परमतत्त्वरहस्यार्थवर्णमहानारायणोपनिषदमधीते स
सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति ज्ञानाज्ञानकृतेभ्यः पातकेभ्यो मुक्तो
भवति महापातकेभ्यः पूतो भवति रहस्यकृतप्रकाशकृतचिरकालात्यन्त-
कृतेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति । स सकललोकान्
जयति । स सकलमन्त्रजपनिष्ठो भवति । स सकलवेदान्तरहस्याधिगत-
परमार्थज्ञो भवति । स सकलभोगभुग्भवति । स सकलयोगविद्भवति ।
स सकलजगत्परिपालको भवति । सोऽद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्म
भवति ॥ १९ ॥

इदं परमतत्त्वरहस्यं न वाच्यं गुरुभक्तिविहीनाय । न
चाशुश्रूषवे वाच्यं न तपोविहीनाय नास्तिकाय न डाम्बिकाय
मद्भक्तिविहीनाय । मात्सर्याङ्किततनवे न वाच्यम् । न वाच्यं
मदसूयापराय कृतघ्नाय ॥ २० ॥

इदं परमरहस्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति मद्भक्तिनिष्ठो भूत्वा
मामेव प्राप्स्यति ॥ २१ ॥

आवयोर्य इमं संवादमध्येष्यति स नरो ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥ २२ ॥

श्रद्धावाननसूयुः शृणुयात् पठति वा य इमं संवादमावयोः
स पुरुषो मत्सायुज्यमेति ॥ २३ ॥

ततो महाविष्णुस्तिरोदधे । ततो ब्रह्मा स्वस्थानं जगामेत्यु-
पनिषत् ॥ २४ ॥

एतद्ग्रन्थमर्थतो यः पठति तस्य सा^१विशेषफलमाह—यस्त्विति ।
किं बहुना—सोऽद्वैतेति ॥ १९ ॥ शास्त्रसम्प्रदायमाह—इदमिति ॥ २०—२१ ॥
आवयोः संवादिनिवृत्तशास्त्रजन्यज्ञानविज्ञानसम्यग्ज्ञानसमकालं मत्सायुज्यं
मद्भावं विकलेवरकैवल्यमेति ॥ २२—२३ ॥ ततः किमित्यत्र शास्त्रार्थमुपसंहरति
—तत इति । उपदेशकार्यं निवृत्ते महाविष्णुस्तिरोदधे स्वान्वर्थनामा भवति
व्यापक एव भवतीत्यर्थः । ततो ब्रह्मा कृतकृत्यो भूत्वा स्वस्थानं जगाम ।
इत्युपनिषच्छब्दौ अष्टमाध्यायकृतस्रशास्त्रसमाप्त्यर्थौ ॥ २४ ॥

इत्यथर्वणमहानारायणोपनिषदि परमसायुज्यमुक्तिस्वरूपनिरूपणं नाम अष्टमोऽध्यायः

उत्तरकाण्डः समाप्तः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
महानारायणव्याख्या लिखिता ब्रह्मगोचरा ।
महानारायणव्याख्याग्रन्थस्त्वष्टशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे द्विपञ्चाशत्सङ्ख्यापूर्कं
त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्विवरणं संपूर्णम् ॥

दत्तात्रेयोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः ।

प्रथमः खण्डः

दत्तात्रेयध्यानम्

ॐ सत्यक्षेत्रे ब्रह्मा नारायणं महासाम्राज्यं किं तारकं तन्नो
ब्रूहि भगवन्नित्युक्तः सत्यानन्दचिदात्मकं सात्त्विकं मामकं धामो-
पास्स्वेत्याह । सदा दत्तोऽहमस्मीति प्रत्येतत्संवदन्ति ये न ते
संसारिणो भवन्ति । नारायणेनैवं विवक्षितो ब्रह्मा विश्वरूपधरं विष्णुं
नारायणं दत्तात्रेयं ध्यात्वा सद्ब्रूदति ॥ १ ॥

दत्तात्रेयब्रह्मविद्यासंवेद्यानन्दविग्रहम् ।

त्रिपान्नारायणाकारं दत्तात्रेयमुपास्महे ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्त्यं दत्तात्रेयोपनिषत् एकाक्षरादिदत्तात्रेयमन्त्र-
ग्रामप्रकटनव्यग्रा निर्विशेषब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो
विवरणमारभ्यते । ब्रह्मनारायणसंवादरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्या-
यिकामवतारयति—ॐ सत्यक्षेत्र इति । आदौ ओमिति सविशेषं निर्विशेषं वा
ब्रह्मोच्यते, “प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः श्रुतः” इति खिलश्रुतेः ।

गङ्गायमुनयोः मध्यविलसितं सत्यक्षेत्रं तत्र सत्यक्षेत्रे ब्रह्मा तपः चचार । तपःफलदित्सया प्रसन्नं स्वातिरिक्तं नास्यरमपीति ये मन्यन्ते ते नाराः तेषां अयनं विश्रान्तिस्थानभूतं नारायणं महांश्वासौ सम्यग्राजत इति सम्राट् च महासम्राट् तद्भावो महासाम्राज्यस्वरूपं विधिवत् प्रणम्य हे भगवन् ततो गर्भजन्मजरामरणात् किं तारकं भवसागरतो भक्तकोटिसन्तारकं मे ब्रूहीति ब्रह्मणैवमुक्तो नारायण अनृतदुःखजाड्यप्रासतया सत्यानन्दचिदात्मकं विशुद्ध-सत्त्वसत्त्वसत्वोपाधिकतया सात्त्विकं मामकं धामोपास्स्वेत्याह । स्वधामोपासना-प्रकारं तत्फलं चाह—सदेति । स्वभक्तपटल^१ स्वपदप्राप्त्युपायनिष्प्रतियोगिक-ब्रह्ममात्रप्रबोधो येन दत्तः सोऽयं निर्विशेषपरमात्मा दत्त इत्युच्यते । सदा प्रत्यहं दत्तोऽहमस्मीति य एतत् संवदन्ति न हि ते संसारणो भवन्ति परमात्मैव भवन्तीत्यत्र—

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।

न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥

इति श्रुतेः । नारायणेनैवं विवक्षितो ब्रह्मा विराडात्मना विश्वरूपधरं स्वाज्ञविक-ल्पितप्रपञ्चसूत्रान्तर्याम्यात्मना विष्णुं व्यापनशीलं मुक्तालिविश्रान्तिसीमतया नारायणं दत्तात्रेयं अत्रिमुनितपःफलं भगवन्तं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया ध्यात्वा तद्याथात्म्यं स्वमात्रमित्यवगम्य स्वानुभूतार्थं प्रकटयतीत्याह—विश्वेति । यत्स्वातिरिक्तासत्प्रपञ्चतत्कार्यापह्ववसिद्धं ब्रह्म तदेव सन् निष्प्रतियोगिकसन्मात्र-मिति वदति, “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्”, “ब्रह्ममात्रमसदन्यत्” इत्यादिश्रुतेः ॥ १ ॥

दत्तात्रेयतारकैकाक्षरमन्त्रः

दामिति ^१हंसः । दामिति दीर्घम् । तद्बीजं नाम बीजस्थम् ।

दामित्येकाक्षरं भवति । तदेतत्तारकं भवति । तदेवोपासितव्यं विज्ञेयं

^१ ह्रस्वं—क (पाठान्तरम्).

गर्भादितारणम् । गायत्री छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो
देवता । वटबीजस्थमिव दत्तबीजस्थं सर्वं जगत् । एतदेवैकाक्षरं
व्याख्यातम् ॥ २ ॥

एवं ब्रह्मणो वृद्धानुभवसन्तुष्टो भगवान् दत्तात्रेयः तारकादिमन्त्रप्राममाचष्टे—
दमित्यादि । दमिति हंसः प्रत्यक् । तद्विश्रान्तिस्थानं दीर्घं परं ब्रह्म ।
तयोरैक्यं दामिति प्रत्यगभित्तरमात्मोच्यते । यत् दामित्येकाक्षरं भवति
तद्वीजं नाम बीजावभासकतया बीजस्थं ब्रह्मोच्यते । यद्ब्रह्म दामित्युक्तं
तत्तारकतया ज्ञेयमित्याह—तदेतदिति । तारकस्य छन्दऋषिदेवता आह—
गायत्रीति । दत्तबीजस्य जगत्कारणतामाह—वटबीजस्थमिति ॥ २ ॥

दत्तात्रेयषडक्षरमन्त्रः

व्याख्यास्ये षडक्षरम् । ओमिति प्रथमम् । श्रीमिति द्वितीयम् ।
^१ह्रीमिति तृतीयम् । क्लीमिति चतुर्थम् । ^२ग्लौमिति पञ्चमम् ।
द्रामिति षट्क[ष्ट]म् । षडक्षरोऽयं भवति । सर्वसंपद्वृद्धिकरी भवति ।
योगानुभवो भवति । गायत्री छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो
देवता ॥ ३ ॥

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं द्रां इति षडक्षरोऽयं भवति ॥ ३ ॥

दत्तात्रेयाष्टाक्षरमन्त्रः

द्रामित्युक्त्वा द्रामित्युक्त्वा वा दत्तात्रेयाय नम इत्यष्टाक्षरः ।
दत्तात्रेयायेति सत्यानन्दचिदात्मकम् । नम इति पूर्णानन्दैकविग्रहम् ।

^१ हा—अ, अ १, अ २, क.

^२ ग्ला—क. ग्लो—अ १.

गायत्री छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो देवता । दत्तात्रेयायेति
कीलकम् । तदेव बीजम् । नमः शक्तिर्भवति ॥ ४ ॥

अष्टाक्षरमनुमुद्गरति—द्रमिति । द्वां दत्तात्रेयाय नमः । ध्यानं तु—
दत्तात्रेयायेति । दत्तात्रेयाय सत्यानन्दचिदात्मकं नमः पूर्णानन्दैकविग्रहं इति
त्रयोविंशाक्षरमनुर्वाड्यं भवति ॥ ४ ॥

दत्तात्रेयद्वादशाक्षरं

ओमिति प्रथमम् । आमिति द्वितीयम् । ह्रीमिति तृतीयम् ।
क्रोमिति चतुर्थम् । एहीति तदेव वदेत् । दत्तात्रेयेति स्वाहेति
मन्त्रराजोऽयं द्वादशाक्षरः । जगती छन्दः । सदाशिव ऋषिः ।
दत्तात्रेयो देवता । ओमिति बीजम् । स्वाहेति शक्तिः । संबुद्धिरिति
कीलकम् । द्रमिति हृदये । ह्रीं क्लीमिति शीषे । एहीति शिखा-
याम् । दत्तेति कवचे । आत्रेयेति चक्षुषि । स्वाहेत्यस्त्रे । तन्मयो
भवति । य एवं वेद ॥ ५ ॥

द्वादशाक्षरमनुमुद्गरति—ओमिति । ॐ आं ह्रीं क्रौं एहि दत्तात्रेय
स्वाहेति मन्त्रराजोऽयं द्वादशाक्षरः ॥ ५ ॥

दत्तात्रेयषोडशाक्षरमन्त्रः

षोडशाक्षरं व्याख्यास्ये । प्राणं देयम् । मानं देयम् । चक्षुर्दे-
यम् । श्रोत्रं देयम् । षड्दशशिरश्छिनन्ति । षोडशाक्षरमन्त्रो न देयो
भवति । अतिसेवापरभक्तगुणवच्छिष्याय वदेत् । ओमिति प्रथमं
भवति । ऐमिति द्वितीयम् । क्रोमिति तृतीयम् । क्लीमिति चतुर्थम् ।

^१कलूमिति पञ्चमम् । ह्यामिति षष्ठम् । ह्रीमिति सप्तमम् । ह्रूमित्य-
ष्टमम् । सौरिति नवमम् । दत्तात्रेयायेति चतुर्दशम् । स्वाहेति षोडशम् ।
गायत्री छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो देवता । ॐ बीजम् ।
स्वाहा शक्तिः । चतुर्थ्यन्तं कीलकम् । ओमिति हृदये । क्लं क्लीं
कलूमिति शिखायाम् । सौरिति कवचे । चतुर्थ्यन्तं चक्षुषि ।
स्वाहेत्यस्त्रे । यो नित्यमधीयानः सच्चिदानन्दसुखी मोक्षी भवति ।
सौरित्यन्ते श्रीवैष्णव इत्युच्यते । तज्जापी विष्णुरूपी भवति ॥ ६ ॥

षोडशाक्षरस्य मन्त्रराजत्वेन अनधिकारिणि अदेयतां अधिकारिणि देयतां
वदन् मन्त्रराजमुद्गरति—षोडशाक्षरमिति । अनधिकारिणि यदि ते अनुकम्पा
तदा तस्मै प्राणं देयम् । तत्कृतेऽन्यत्र षड्दशशिरच्छिनत्ति तदुपकाराय
तच्छत्रूणां शिरच्छेदनं वा कर्तव्यम् । जात्वप्ययं षोडशाक्षरमन्त्रो न देयो
भवति । पुनः कस्मै वक्तव्येत्यत्र—अतिसेवापरेति । अथ षोडशाक्षरमुद्गरति—
ओमिति । ॐ ऐं क्रौं क्लीं क्लं हं ह्रीं ह्रूं सौः दत्तात्रेयाय स्वाहेति
षोडशाक्षरः । दत्तात्रेयायेति चतुर्थ्यन्तं कीलकम् । यो नित्यमधीयानः सोऽयं
सच्चिदानन्दसुखी ॥ ६ ॥

दत्तात्रेयानुष्ठुभमन्त्रः

अनुष्ठुपूछन्दो व्याख्यास्ये । सर्वत्र संबुद्धिरिमानित्युच्यन्ते—

दत्तात्रेय हरे कृष्ण उन्मत्तानन्ददायक ।

दिग्म्बर मुने बाल पिशाच ज्ञानसागर ॥

इत्युपनिषत् । अनुष्ठुप् छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो देवता ।
दत्तात्रेयेति हृदये । हरे कृष्णेति शीर्षे । उन्मत्तानन्देति शिखायाम् ।

दायक मुन इति कवचे । दिग्म्बरेति चक्षुषि । पिशाचज्ञानसागरेत्यस्त्रे ।
 आनुष्टुभोऽयं मयाऽधीतः । अब्रह्मजन्मदोषाश्च प्रणश्यन्ति । सर्वो-
 पकारी मोक्षी भवति । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ ७ ॥

अनुष्टुभमुद्धरति—अनुष्टुबिति । एतदनुष्टुभमूलमन्त्रजपतः सर्वपापनिवृत्तो
 भूत्वा स्वाज्ञजनस्वपदप्राप्त्युपायदानेन सर्वोपकारी सन् स्वातिरिक्तभ्रमतो
 मोक्षी भवति । य एवं वेद स मुक्तो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः
 पूर्व[प्रथम]खण्डपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥

इति पूर्वः [प्रथमः] खण्डः

द्वितीयः खण्डः

दत्तात्रेयमालामन्त्रः

ओमिति व्याहरेत् । ॐ नमो भगवते दत्तात्रेयाय
 स्मरणमात्रसंतुष्टाय महाभयनिवारणाय महाज्ञानप्रदाय चिदानन्दात्मने
 बालोन्मत्तपिशाचवेषायेति महायोगिनेऽवधूतायेति अनसूयाऽऽनन्द-
 वर्धनायात्रिपुत्रायेति सर्वकामफलप्रदाय ओमिति व्याहरेत् ।
 भवबन्धमोचनायेति ह्रीमिति व्याहरेत् । सकलविभूतिदायेति क्रोमिति
 व्याहरेत् । साध्याकर्षणायेति सौरिति व्याहरेत् । सर्वमनःक्षोभणायेति
 श्रीमिति व्याहरेत् । महोमिति व्याहरेत् । चिरंजीविने वषडिति

व्याहरेत् । वशीकुरु वशीकुरु वौषडिति व्याहरेत् । आकर्षयाकर्षय
 हुमिति व्याहरेत् । विद्वेषय विद्वेषय फडिति व्याहरेत् । उच्चाटयोच्चाटय
 ठ ठेति व्याहरेत् । स्तम्भय स्तम्भय ^१ख खेति व्याहरेत् । मारय मारय
 नमः संपन्नाय नमः संपन्नाय स्वाहा पोषय पोषय परमन्त्वपरयन्त्व-
 परतन्त्रांश्छिन्धि छिन्धि ग्रहान्निवारय निवारय व्या^२धीन्निवारय
 निवारय दुःखं हरय हरय ^३रिद्रिचं विद्रावय विद्रावय देहं पोषय पोषय
 चित्तं तोषय तोष^३य सर्वमन्त्वसर्वयन्त्वसर्वतन्त्रसर्वपल्लवस्वरूपायेति
 ॐ नमः शिवायेत्युपनिषत् ॥

मालामनुप्रकटनार्थमुत्तरखण्डः आरभ्यते—ओमिति ।

इति द्वितीयः खण्डः

तृतीयः खण्डः

दत्तात्रेयविद्याफलम्

य एवं वेद । अनुष्टुप् छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो
 देवता । ओमिति बीजम् । स्वाहेति शक्तिः । द्रामिति कीलकम् ।
 अष्टमूर्त्यष्टमन्त्रा भवन्ति । यो नित्यमधीते ^४वाय्वग्निःसोमादित्य-
 ब्रह्मविष्णुरुद्रैः पूतो भवति । गायत्र्याः शतसहस्रं ^५जप्तो भवति ।

^१ खेत्वे—अ १, क.

^२ व्याधिं नि—अ १.

^३ येति—अ १, मु.

^४ स वा—अ, अ १.

^५ जप्तं—मु.

महारुद्रशतसहस्रजापी भवति । प्रणवायुतकोटिजसो भवति । शतपूर्वान् ^१शतापरान् पुनाति । स पङ्क्तिपावनो भवति । ब्रह्महत्याऽऽदिपातकैर्मुक्तो भवति । गोहत्यादिपातकैर्मुक्तो भवति । तुलापुरुषादिदानैः प्रपापानतः पूतो भवति । अशेषपापान्मुक्तो भवति । ^२अभक्ष्य-भक्ष्यपापैर्मुक्तो भवति । सर्वमन्त्रयोगपारीणो भवति । स एव ब्राह्मणो भवति । तस्माच्छिष्यं भक्तं प्रगृहीयात् । सोऽनन्तफल-मश्नुते । स जीवन्मुक्तो भवतीत्याह भगवान्नारायणो ब्रह्माणमित्युपनिषत् ॥

विद्याफलं प्रकटयितुं तृतीयः खण्डः आरभ्यते—य इति । किं बहुना, स एव ब्राह्मणो ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्तो भवति । यस्मादेवं तस्मात् । यस्मात् इयं ब्रह्मविद्या जीवन्मुक्तत्वहेतुः तस्मात् विद्वान् एतामुपनिषदं शासनाहं शिष्यं स्वभजनशीलं भक्तं च प्रतिगृहीयात् ग्रहयेत् । य एवं ग्रहीता ग्राहयिता च सोऽनन्तफलं मोक्षमश्नुते । आप्रारब्धक्षयं स जीवन्मुक्तो भवतीति नारायणो ब्रह्माणं प्रत्याहेत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः दत्तात्रेयोपनिषत्समाप्त्यर्थः ।

इति तृतीयः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

दत्तात्रेयोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।

दत्तविद्यावृत्तिसङ्घ्या पञ्चपञ्चाशदीरिता ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे एकोत्तरशतसङ्ख्यापूरकं
दत्तात्रेयोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

नारायणोपनिषत्

सह नाश्चतु—इति शान्तिः

प्रथमः खण्डः

नारायणात् सर्वचेतनाचेतनजन्म

अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति ।
नारायणात् प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः
पृथिवी विश्वस्य धारिणी । नारायणाद्ब्रह्मा जायते । नारायणाद्बुद्धो
जायते । नारायणादिन्द्रो जायते । नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते ।
नारायणाद्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव
समुत्पद्यन्ते नारायणात् प्रवर्तन्ते नारायणे प्रलीयन्ते । एतद्वेद-
शिरोऽधीते ॥

मायातत्कार्यमखिलं यद्वोधाद्यात्यपह्ववम् ।

त्रिपान्नारायणाख्यं तत् कलये स्वात्ममात्रतः ॥

अथ खलु नारायणोपनिषदः कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तत्वेन वक्तव्योपोद्धातादिकं
कठवल्ल्यादितुल्यं विज्ञेयम् । ऋगादिचतुर्वेदशिरोरूपेयं नारायणोपनिषत्
गुरुशिष्यसंवादाद्याख्यायिकां विना स्वेनैव प्रवृत्तेति यत् तत् विद्यास्तुत्यर्थम् ।

कथं प्रवृत्तेयमुपनिषदित्याकाङ्क्षायामाह—अथेति । स्वाविद्यापदतत्कार्यपूरणात् पुरुषः । यत्र सूर्यो न रमन्ते तत् नरं स्वाविद्यापदतत्कार्यजातं, तदेव नारं, तत् यत्र पर्यवस्यति तद्धि तस्यायनमधिकरणं नारायणशब्दार्थः । यद्वा—नास्त्यरमपि अविद्यापदतत्कार्यजातमिति नारं अपह्वात्मकं, तदपह्ववसिद्धं यद्रूपं सोऽयं नारायणः । हवा इति निपातौ निष्प्रतियोगिकप्रसिद्धिशोतकौ भवतः । यः एवं स्वमात्रमवशिष्यते सोऽयं अथ स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्त्यनन्तरं मूलाबीजांशयोगतः ईश्वरभावमापन्न इव अकामयत कामितवान् । किमिति ? प्रजाः सृजेय उत्पादयेयं इति । आदौ ईश्वरभावमापन्ननारायणात् मुख्यप्राणो हिरण्यगर्भो जायते । ततो मनः महत्त्वं सर्वेन्द्रियाणि च अहङ्कारतत्त्वात्मकानि । च-शब्दात् सत्त्वादित्रिगुणं मनःश्रोत्राद्यन्तर्बाह्यकरणानि च जायन्ते । ततो नारायणात् खं वायुः ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी इति तन्मात्रभूतानि जायन्ते । ततः पञ्चीकृतपञ्चमहांभूतानि च । नारायणात् ब्रह्मा चतुराननः सृष्टिकर्ता जायते । नारायणात् स्थितिकर्ता विष्णुर्जायते, इत्यध्याहार्यम्, सृष्टिसंहारकर्त्रोः सृष्ट्यनुरोधेन स्थितिकर्तुरपि वक्तुं उचितत्वात् । नारायणाद्बुद्धः सर्वोपसंहर्ताऽपि जायते । नारायणादिन्द्रो जायते त्रैलोक्याधिपतिः मघवान् । नारायणात् जायत इति सर्वत्र अनुषज्यते । प्रजापतिः दक्षादिनवप्रजापतयः, तथा मित्रादिद्वादशादित्याः भवाद्येकादशरुद्राः धराद्यष्टौ वसवः गायत्र्यादि-सर्वाणि छन्दांसि च । स्वातिरिक्ततया यद्यत् भाव्यं तत्तत् सर्वं नारायणादेव समुत्पद्यते । सृष्टि[स्थिति]काले तस्मादेव स्वे स्वे वर्त्मनि प्रवर्तन्ते । एतत्सर्वाणि उक्तानुक्तानि नारायणे प्रलीयन्ते । यतः एवं अतः स्वातिरिक्तसर्वारोपाप-वादाधिकरणं नारायण एव, नारायणादतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति इत्यत्र—“ ब्रह्मैवेदं सर्वं”, “ सत्तामात्रं हीदं सर्वं”, “ मद्भ्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते”, इति श्रुतेः । यः एतद्ग्वेदशिरोऽधीते स सर्वेश्वरो नारायणो भवति इति ऋग्वेदमस्तकाभिप्रायः ॥

इति प्रथमः खण्डः

द्वितीयः खण्डः

नारायणस्य सर्वात्मत्वम्

अथ नित्यो नारायणः । ब्रह्मा नारायणः । शिवश्च
नारायणः । शंकरश्च नारायणः । कालश्च नारायणः । दिशश्च
नारायणः । विदिशश्च नारायणः । ऊर्ध्वं च नारायणः । अधश्च
नारायणः । अन्तर्बहिश्च नारायणः । नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं
यच्च भव्यम् । निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो
देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चिद् । य एवं वेद स
विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति । एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ॥

कार्यकारणयोरेकत्वाभिप्रायेण शास्त्रतो यद्यत् स्वविकल्पितं तत्तत्कल्पना-
हेतुस्वाज्ञानापाये स्वयमेवैतत् सर्वं, स्वव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति, इति ज्ञानसमकालं
स्वयमेव अवशिष्यत इति प्रकटनाय इदं यजुर्वेदशिरः प्रवृत्तमित्याह—अथेति ।
ऋग्वेदशिर उक्त्वा अथ यजुर्वेदशिर आरभ्यते । अथशब्दस्य आरंभार्थयोगात्
स्वकार्यापेक्षया तन्निरूपितकारणभावारूढो नित्यो नारायणः ब्रह्मा चतुराननोऽपि
नारायणः कार्यमात्रस्य कारणानन्यत्वात् । शिवशंक्रादिग्रहणं निखिलचेतन-
वर्गोपलक्षणार्थम् । अचेतनकालादिग्रहणं अव्यक्तादिस्थावरान्तोपलक्षणार्थम् ।
चेतनाचेतनप्रपञ्चोऽयं नारायण एवेत्यर्थः । एवं चेतनाचेतनात्मकस्वाविद्यापद-
तत्कार्यजातान्तर्बहिरन्तराळं च नारायण एव । किं बहुना—यद्यत् भूतादि-
कालत्रयपरिच्छेद्यं तत् सर्वमिदं नारायण एव, तदतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते,
इत्यर्थः । सकळङ्कसाञ्जनसविकल्पविद्यापदतत्कार्यानुकारित्वेन सकळङ्कत्वादि
स्यादित्यत आह—निष्कळङ्क इति । निष्कळङ्कः कळङ्कवत्स्वाविद्यापदस्खुलां-
शायोगात्, निरञ्जनः अञ्जनाहृतत्सूक्ष्मांशायोगात्, निर्विकल्पः सर्वविकल्प-
हेतुतद्बीजांशायोगात्, निराख्यातः आख्यासामान्ययोन्यधर्मात्रांशायोगात् ।
प्रातिस्विकेन अंशचतुष्टययोगाभावेऽपि युगपत् तद्योगात् अशुद्धता स्यादित्यत

आह—शुद्ध इति । अशुद्धाविद्यापदतत्कार्यापह्नवसिद्धत्वात् । तद्रूपेण किं न द्योतते इत्यत आह—देव इति । स्वाज्ञानदृशामविद्योतमानोऽपि स्वज्ञदृष्ट्या स्वमात्रतया द्योतमानत्वात् । स्वज्ञादिदृष्ट्यपेक्षया द्योतनाद्योतनत्वेन अनेकता स्यादित्यत आह—एक इति । परमार्थदृष्ट्या स्वज्ञस्वाज्ञतद्दृष्टिविभातद्योतनाद्योतनकलनापह्नवसिद्धात्मनो निष्प्रतियोगिकैकरूपत्वात् उक्तलक्षणलक्षितो नारायणः स्वमात्रमवशिष्यते । न हि तदतिरेकेण कश्चिदपि द्वितीयोऽस्तीति । यः एवं यजुर्वेदशिरःप्रतिपाद्यनारायणयाथात्म्यं वेद स विद्वान् वेदनसमकालं विष्णुर्नारायणो निष्प्रतियोगिकपरमात्मैव भवति इति यजुर्वेदमस्तकाभिप्रायः । आवृत्तिरादरार्था ॥

इति द्वितीयः खण्डः

तृतीयः खण्डः

नारायणाष्टाक्षरमन्त्रः

ॐमित्यग्रे व्याहरेत् । नम इति पश्चात् । नारायणायेत्युपरिष्ठात् । ॐमित्येकाक्षरम् । नम इति द्वे अक्षरे । नारायणायेति पञ्चाक्षराणि । एतद्वै नारायणास्याष्टाक्षरं पदम् । यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति अनपब्रुवः सर्वमायुरेति विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नुत इति । एतत्सामवेदशिरोऽधीते ॥

इत्थंभूतनारायणयाथात्म्यज्ञानोपायत्वेन तदष्टाक्षरमुद्धृत्य तत्परायणानां चित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा अमृतत्वं स्यादिति वक्तुं एतत्सामवेदशिरः प्रवृत्तमित्याह—ओमिति । ओमित्येतद[देका]क्षरं इत्याद्यष्टाक्षरोद्धारः स्पष्टार्थः । यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति—यस्तु गुरुमुखात् नारायणाष्टाक्षरं गृहीत्वा

कामाकामधिया मन्त्रशास्त्रविधिना यथावत् पुरश्चरणां करोति । हवा इति निपातौ श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिद्योतकौ । सोऽयं मन्त्री यदि सकामस्तदा अनर्पेद्भुवः अपकीर्तिरहितः कीर्तिमान् सन् सर्वमायुरेति दीर्घायुष्मान् भवति रायस्पोषं धनपालत्वं गौपत्यं सार्वभौमत्वं देहावसाने प्राजापत्यं पदं ब्रह्मलोकं च विन्दते लभते । यदि मन्त्री निष्कामः स्यात् तदा ततः तदनुष्ठानतः चित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा मुख्यामृतत्वं विकलेवरकैवल्यं अश्नुते । आवृत्तिः निस्संशयार्था । यः एवं एतत्सामवेदशिरोऽधीते सोऽपि ज्ञानी भूत्वा अमृतत्वमेतीत्यर्थः ॥

इति तृतीयः खण्डः

चतुर्थः खण्डः

नारायणप्रणवः

प्रत्यगानन्दं ब्रह्म पुरुषं प्रणवस्वरूपम् । अकार उकारो मकार इति । तानेकधा समभवत्तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात् । ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभवनं गमिष्यति । तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तटिदाभ-मात्रम् । ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदन ¹इति । सर्वभूतस्थ-मेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम् । एतदथर्वशिरोऽधीते ॥

अष्टाक्षरीप्रतिपाद्यं ब्रह्म किमित्याकांक्षायां सगुणनिर्गुणप्रणवार्थरूपम्, तत्र सगुणप्रणवायमानाष्टाक्षर्युपासनया तत्सालोक्यादिमुक्तिः, निर्गुणप्रणवयाथात्म्य-ज्ञानतः तुर्यतुर्यासिश्च स्यात् इत्येतदर्थप्रकटनाय अथर्वशिरः प्रवृत्तमित्याह—

¹ “ ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ” इत्यधिको मुद्रितकोशे.

प्रत्यगिति । किं तत्प्रणवयाथात्म्यं ? इत्यत्र स्वातिरिक्ताविद्यापदतत्कार्यप्राति-
लोम्येन सच्चिदानन्दरूपेण अञ्चतीति प्रत्यक्, प्रत्यक् यत्र पराग्भावसापेक्षप्रत्यक्पर-
विभागैक्यकलनां विहाय निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया नन्दति तत् प्रत्यगानन्दं,
तन्मात्रतया उपबृंहणात् ब्रह्म, पुरुषं पूर्णत्वात् “ पूर्णमेवावशिष्यते ” इति
श्रुतेः । प्रत्यगानन्दं ब्रह्म पुरुषं इतिविशेषणविशिष्टं प्रणवस्वरूपं प्रणवयाथात्म्यं
तुर्यतुर्यमित्यर्थः । तुर्यतुर्यवाचकप्रणवः कल्यवयव इत्यत आह—अकार उकारो
मकार इति । स्थूलसूक्ष्मबीजार्धमात्रादिना अकारः, श्चतुर्धा भिद्यते । अर्धमात्राऽपि
त्रेधा भिद्यते । आहल्य अकाराद्याः पञ्चदशमात्राविशिष्टाः । तानेकधा समभवत्
इति यत् तदेतदोमिति ब्रह्मणोऽभिधानम् । यं प्रणवं प्लुतमात्रतयोच्चार्य योगी
जन्मादिसंसारबन्धनान्मुच्यते सोऽयं “ ॐ नमो नारायणाय ” इति सगुण-
प्रणवः । तज्जपशीलस्य फलमाह—ओमिति । उक्तलक्षणलक्षितसगुणप्रण-
वोपासको वैकुण्ठभवनं गमिष्यति । यद्वैकुण्ठभवनमित्युक्तं वैष्णवं स्थानं
तदिदं स्वाविद्यापदशरीरस्य हृत्पुण्डरीकस्थानं अजडक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिसम्पत्त्या
विज्ञानघनं यस्मादेवं तस्मात् तटिदिव प्रकाशमात्रम् । तदधिष्ठाता परमेश्वरः
कीदृशः ? इत्यत आह—ब्रह्मण्य इति । स्वातिरिक्ताब्रह्मापह्ववसिद्धं ब्रह्म
स्वमात्रमिति ये जानन्ति ते ब्राह्मणाः ब्रह्मविद्वरिष्ठाः त एव देवं आत्मस्वरूपं
यस्य सोऽयं ब्रह्मण्यः । कोऽयं इत्यत्र “ देवकी ब्रह्मविवेयं या वेदैरुपगीयते ”
इति श्रुतेः तस्यामाविर्भूतः प्रकाशितो देवकीपुत्रः विद्यावेद्यः परमात्मा । ब्रह्मण्यो
मधुसूदनः इति मधुकैटभसूदनो वा विष्णुः ब्रह्मण्यः । इतिशब्दः परमात्म-
विष्णवोरैक्यार्थः । तद्रूपं किं परिच्छिन्नं नेत्याह—सर्वभूतस्थमिति । सर्वेषु
ब्रह्मादिस्तम्बान्तभूतेषु प्रत्यक्त्वेन स्थितत्वात् । प्रतिभूतसापेक्षतः प्रत्यग्रूपस्य
अनेकत्वं स्यादित्यत आह—एकमिति । घटशरावाद्यनुगतव्योमवत् प्रतिशरीरानु-
स्यूतप्रत्यक्त्वस्वैकत्वात् । वैशब्दोऽवधारणार्थः । उक्तलक्षणलक्षितं नारायण-
चैतन्यमेकमेवेत्यर्थः । स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तकार्यप्रपञ्चसत्त्वे स्वज्ञदृष्टिः तं कारणपुरुषं
मन्यते । परमार्थदृष्टिस्तु स्वाज्ञादिदृष्टिप्रसक्तकार्यकारणकलनापह्ववसिद्धं अकारणं
परं ब्रह्मो इति पश्यति । एवं दर्शनसमकालं विद्वान् निर्विशेषब्रह्मैव भवतीत्य-

थर्वशिरोऽधीते । सगुणब्रह्मोपासकस्य सालोक्यादिः फलं, निर्गुणप्रणव-
याथात्म्यार्थं तुर्यतुरीयं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति जानतो विदेहकैवल्य-
मित्यथर्वशिरसोऽभिप्रायः ॥

विद्याऽध्ययनफलम्

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो
दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायंप्रातरधीयानः पापोऽपापो
भवति । माध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात्
प्रमुच्यते । सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते नारायणसायुज्यमवाप्नोति
श्रीमन्नारायणसायुज्यमवाप्नोति य एवं वेद ॥

विशिष्टग्रन्थपाठकस्य फलमाह—प्रातरिति । प्रातःपठन्तो रात्रिकृतपाप-
हानिः भवति । तथा सायाह्नपठनात् दिवसकृतपापहानिः । स्वयं पापकृत्तमोऽपि
कालद्वयपठनात् अपापो भवति । मध्याह्नसूर्याभिमुख्यपठनात् पञ्चमहापातकादि-
विमुक्तिः । कृत्स्नवेदपारायणफलं सकृन्नारायणोपनिषत्पारायणतो भवेत् ।
देहावसाने श्रीमन्नारायणसायुज्यमवाप्नोति । य एवं वेद सोऽपि यथोक्तफलभाक्
भवति । आवृत्तिः निःसंशयार्था । इत्युपनिषच्छब्दौ प्रकृतोपनिषत्समाप्त्यर्थौ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
नारायणोपनिषदो व्याख्येयं लिखिता मया ।
एतद्विवरणग्रन्थो दशोत्तरशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अष्टादशसङ्ख्यापूरकं
नारायणोपनिषद्विवरणं संपूर्णम् ॥

नृसिंहतापिन्युपनिषत्

पूर्वतापिनी

प्रथमोपनिषत्

शान्तिपाठः

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिः । व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न
इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्ताक्षर्यो
अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

यत्तुर्योङ्काराग्रपगभूमिस्थिरवरासनम् ।

प्रतियोगिविनिर्मुक्तुर्यतुर्यमहं महः ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं नृसिंहतापनीयोपनिषत् सविशेषनिर्विशेष-
ब्रह्ममात्रगोचरतया विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । अस्याः
उपोद्धातादिकं मुण्डकादिवत् ऊह्यम् । देवतागणप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेय-
माख्यायिका सविशेषनिर्विशेषब्रह्मविद्यास्तुत्यर्था । विद्याद्वयोपसर्गप्रशमनाय इयं
शान्तिः पठ्यते—भद्रं कर्णेभिरिति । श्रीनृसिंहोपासकाः देवाः वयं उपासक-
बाहुळ्यात् कर्णेभिः इति बहुवचनं कर्णेः भद्रं नृसिंहप्रतिपादकवेदान्तजातं
शृणुयाम शृणुयास्म तदवगतिहेतुश्रवणं कुर्मः इत्यर्थः । केवलश्रवणतः किं ?

इत्यत आह—भद्रं पश्येमेति । नारसिंहीयविद्याश्रवणतो यथाशास्त्रं यजत्रा
 ध्यानयज्ञयजनशीला वयं अक्षभिः अक्षिभिः करणैः नारसिंहीयं सकळं निष्कळं
 वा भद्रं रूपं पश्येम पश्यास्म । अल्पायुषः तत्सिद्धिः का ? इत्यत आह—
 स्थिरैरङ्गैरिति । भावनावैशिष्ट्यात् स्थिरैरङ्गैः प्रणवसावित्र्यादिभिः अङ्गमन्त्रैः
 वयं नरसिंहं तुष्टुवांसः तनूभिः “यो ह वै नृसिंह” इत्यादितनुमन्त्रैः स्तुतिं
 कुर्वाणाः सन्तो देवध्यानहितं नीरोगादिगुणविशिष्टं आयुः दीर्घायुष्टं चिरजीवित्वं
 यच्चिरकालध्यानार्हमायुः व्यशेम विशेम । मन्दबुद्ध्यनुग्रहाय पुनः प्रकारान्तरेण
 प्रार्थ्यते—स्वस्ति न इति । इन्द्रः त्रिलोकीपतिः वृद्धश्रवाः बृहत्कीर्तिः नो
 अस्माकं अखण्डाकारवृत्तिमन्मनः स्वस्त्यस्तु इत्यनुगृह्णातु । विश्ववेदाः सर्वज्ञः
 पूषा नो अस्माकं नृसिंहस्मरणं स्वस्ति अविच्छिन्नं भवतु इत्यनुगृह्णातु । अरिष्टा
 अकुण्ठिता नेमिः गतिः यस्य सोऽयं अरिष्टनेमिः ताक्षर्यः नो अस्माकं मनो
 नृसिंहतत्त्वैकतानं स्वस्ति स्यादित्यनुगृह्णातु । बृहस्पतिः नो अस्माकं करणजालं
 स्वस्ति नृसिंहपर्षवसनं दधातु ददातु अनुगृह्णातु इति सर्वत्र योज्यम् ।
 विद्याद्वयोपसर्गाध्यात्मकादितापत्रयनिरसनाय इयं शान्तिः त्रिः पठ्यते—ॐ
 शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति ॥

जगत्सृष्टेः प्रजापतिकाममूलत्वम्

आपो वा इदमासन् सलिलमेव । स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे
 समभवत् । तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति ।
 तस्माद्यत् पुरुषो मनसाऽभिगच्छति तद्वाचा वदति तत् कर्मणा
 करोति । तदेषाऽभ्यनूक्ता—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ इति ॥

उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

मन्त्रराजस्य दुर्लभत्वप्रदर्शनाय इतिहासमवतारयति—आपो वा इति । एतन्मन्त्रार्थो बृहज्जाबालोपनिषदि वर्णितः ।

[स एव झटिति प्रत्यायनार्थं अत्र संयोज्यते—

प्रलयकालीना आपो वै प्रसिद्धा अनभिव्यक्तनामरूपं इदं अविद्याऽण्डं आसन् सलिलमेव । न हि सलिलादतिरिक्तं किञ्चिदस्ति । तत्र बृहज्जाबाल-मन्त्रद्रष्टा यः सोऽयं प्रजापतिः एकः पुष्करपर्णे नारायणनाभिपद्मे समभवत् । तस्य प्रजापतेः अन्तः मनसि कामः समवर्तते । किमिति ? इदं अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डात्मकं अविद्याऽण्डं सृजेयमिति । यस्मात् अयं जगत्स्रष्टुकामो भवति तस्माद्यत्पुरुषः मनसा अन्तःकरणेन अभिगच्छति निश्चिनोति यन्मनसि स्मृतं तद्वाचा वदति यद्वाचोक्तं तत् शरीरनिर्वर्त्यकर्मणा करोति । ब्राह्मणोक्तेऽर्थे तदेषा अभ्यनु पश्चात् उक्ता । वक्ष्यमाणाविद्याऽण्डोद्भूतेः अग्रे प्राक् अधिकत्वेन कामोऽभिलाषः समवर्तत । कामः क्व जातः इत्यत्र मनसोऽन्तःकरणस्य यत् रेतो वीर्यं प्रथमं आसीत् स कामो भवतीति पूर्वंगान्वयः । न हि संकल्पातिरिक्तं मनोऽस्तीति विचिन्त्यताम्, 'काम जानामि ते रूपं संकल्पात् किल जायसे' इति स्मृतेः । सतः चक्षुर्ग्राह्यप्रपञ्चस्य बन्धुरिवोपकारकत्वात् कामो बन्धुः असति अचाक्षुषे ब्रह्मणि निरविन्दन् निःशेषं अगमन् कवयो मनसः ईष्ट इति मनीद् धीः तया मनीषा हृदि प्रतीष्या अवलोक्य ॥]

उप समीपे एनं कामिनं उपनमति प्राप्नोति यस्मिन् गृहक्षेत्रादिविषये कामो यस्य स यत्कामो भवति य एवं वेद ॥ १ ॥

सर्वजगतः आनुष्टुभत्वम्

स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा स एवं मन्त्रराजं नारसिंह-मानुष्टुभमपश्यत् । तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिदं किञ्च । तस्मात् सर्वमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किञ्च । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते । अनुष्टुभं जातानि जीवन्ति । अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसं-

विशन्ति । तस्यैषा भवति । अनुष्टुप्प्रथमा भवति । अनुष्टुबुत्तमा भवति । वाग्वा अनुष्टुप् । वाचैव प्रयन्ति । वाचोद्यन्ति । परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति ॥ २ ॥

सोऽन्तर्मनसि सञ्जातकामः प्रजापतिः तपोऽतप्यत । केन प्रकारेण ? इदं सृजेयं इत्यालोचनमकुरुत् । स तपस्तप्त्वा पर्यालोचनं कृत्वा स प्रजापतिः एतं वक्ष्यमाणं सप्तकोटिमन्त्रराजं नारसिंहं नृसिंहदेवत्वात् आनुष्टुभमपश्यत् । तेन वै तेनैव सर्वमिदं स्वकीयापदतत्कार्यजातं असृजत् । किं तत् सर्वं ? यदिदं किंच यत्किंचेदं अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मकं विश्वं असृजत् । यस्मात् एतत् सर्वं अनुष्टुभा सृष्टवान् तस्मादिदं सर्वं आनुष्टुभमित्याचक्षते कथयन्ति तदियत्ताविदः । यदिदं किंचेति व्याख्यातम् । सर्वस्यानुष्टुभत्वे को हेतुः ? इत्यत आह—अनुष्टुभ इति । अनुष्टुभो वै द्वात्रिंशदक्षरात् अभिन्नमित्तोपादानात् सर्वज्ञत्वादिलक्षणात् इमानि स्थावरजङ्गमानि भूतानि जायन्ते यथोक्तानुष्टुभा जातानि जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति अनुष्टुभं प्रयन्ति अनुसम्यक् प्रवेशं कुर्वन्ति । एवमस्तु, अनुष्टुभः मन्त्रराजस्य किं आयातं ? इत्यत आह—तस्यैषा भवतीति । तस्य मन्त्रराजस्य एषा अभिधा अनुष्टुबिति भवति । यद्वा—तस्य अनुष्टुभः प्रकाशिका एषा वक्ष्यमाणा ऋक् भवति । इदानीं अनुष्टुप्साम्नः स्वरानाह—अनुष्टुबिति । अनुष्टुप्प्रथमा आद्यस्वरयुक्ता भवति । तथा अनुष्टुबुत्तमा अन्त्यस्वरयुक्ता भवति । स्वरवती वाग्वा अनुष्टुप् । लौकिकादिशब्दरूपिण्या वाचैव प्रयन्ति सर्वाणि भूतानि स्थितिनाशावाप्नुवन्ति । तथा वाचा इच्छया उद्यन्ति उदयं गच्छन्ति । यस्मादेवं वाग्पूषिण्यनुष्टुप् तस्मात् नानागायत्र्यादिछन्दसां परमैषा अनुष्टुप् । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥ २ ॥

मन्त्रराजस्य पादचतुष्टयम्

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत् साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् । यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत् साम्नो द्वितीयं

पादं जानीयात् । वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं
पादं जानीयात् । ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं
पादं जानीयात् । यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ३ ॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः
पादा भवन्ति ॥ ४ ॥

चतुष्पादात्मकमन्त्रराजस्याद्यं पादमाह—^(१) सागरामिति । लवणादिसप्त-
सागरसहितां ससागरां मेवादिपर्वतकोटिसहितां सपर्वतां जम्बवादिसप्तद्वीप-
परिच्छिन्नां वसुन्धरां भूलोकाभिधां तत्साम्नो मन्त्रराजस्य अष्टाक्षरात्मकं प्रथमं
पादं जानीयात् । कुबेरानुचराः यक्षाः, देवगायकाः गन्धर्वाः, स्वर्देश्याः
अप्सरसः, तद्विशिष्टं यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितं अन्तरिक्षम् । अष्टौ वसवः
एकादश रुद्राः द्वादश आदित्याः तैः सर्वैः सेवितं दिवम् । स्रत्यादिलक्षणब्रह्म-
स्वरूपं स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितप्रपञ्चे स्वज्ञदृष्ट्या निरञ्जनं परमं निरतिशयं व्योमकं
हृदयाकाशे कं सुखस्वभावम् । एवं चतुष्पादोपासनाफलमेतत्—यः उपासकः एवं
जानीते सोऽयं सालोक्यादिक्रममुक्तिद्वारा मुख्यं अमृतत्वं च गच्छति
सम्यज्ज्ञानद्वारेत्यर्थः ॥ ३ ॥ अस्य ऋगादयोऽपि पादाः भवन्तीत्याह—ऋगिति ।
शिक्षाऽऽदिषडङ्गसहिताः साङ्गाः आश्वलायनकाण्वतैत्तिरीयकौथुमाङ्गिरसाद्य-
शीत्यधिकशतोत्तरसहस्रशाखासहिताः सशाखाः यथाक्रमेण चत्वारः पादाः
भवन्ति ॥ ४ ॥

ऋषिच्छन्दोदेवतादिप्रश्नः

किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः
क ऋषिरिति ॥ ५ ॥

ऋषिच्छन्दोदेवतानां मन्त्राङ्गतया श्रुतिः स्वयमेव प्रश्नमवतारयति—
किं ध्यानमिति । किं ध्यङ्गं चिन्तनं किं दैवतं को वा देवोऽस्य मन्त्राधिष्ठाता

कान्यङ्गानि अङ्गमन्त्राः कियन्तः कानि दैवतानि मन्त्राङ्गाधिष्ठातृदैवतानि किं छन्दः केन छन्दसा युक्तोऽयं मन्त्रः क ऋषिः मन्त्रद्रष्टा कीदृशः इत्येवं देवाः प्रश्नं चकुरित्यूह्यम्, उत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचनदर्शनात् ॥ ९ ॥

सपादसाङ्गमन्त्रविद्याफलम्

स होवाच प्रजापतिः—स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेदं श्रिया हैवाभिषिच्यते । सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेदं स त्रीन् लोकान् जयति । चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेदं स आयुर्यशः-कीर्तिज्ञानैश्वर्यवान् भवति । तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥

प्रश्नोत्तरं क्रमेण प्रजापतिराह—स होवाचेति । मन्त्राङ्गादीन् पश्चाद्विवक्षन् मन्त्रराजपादचतुष्टयाङ्गमन्त्रविदः फलमाह—स य इति । स यो ह वै मन्त्रराजानुष्ठानपरो यः कश्चित् मन्त्रराजाङ्गत्वेन चतुर्थोपनिषद्विद्यमानः सावित्रोऽष्टाक्षरस्तस्य घृणिरित्याद्यं पदं मन्त्रराजसामगायकेन श्रिया अभिषिक्तं श्रीबीजपूर्वकं तत्साम्नोऽङ्गं वेदं, वेदनफलं तु हस्यश्वहिरण्यधनधान्यरूपया श्रिया हैवाभिषिच्यते सर्वतः श्रियमाप्नोति । प्रणवस्य मन्त्रराजाङ्गत्वं विवक्षन् स्तौति—सर्व इति । ऋग्वेदाद्याः सर्वे वेदाः प्रणवादिकाः सर्ववेदानां प्रणवपूर्वकत्वात् “यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः” इति श्रुतेः । तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेदं सोऽयं प्रणवाङ्गवित् त्रीन् भूरादिलोकान् जयति आधिष्ठातृत्वेनाप्नोति । चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीः यजुः यजूरूपत्वेन चतुर्थोपनिषदि वक्ष्यमाणत्वात् तत्साम्नोऽङ्गं वेदं स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान् मानुषैश्वर्यसंपन्नः सार्वभौमो भवति । तस्मादिदं द्वात्रिंशदक्षरं साङ्गं साम जानीयात् । यो जानीते इत्यादि समानम् ॥ ६ ॥

साङ्गसामविद्यायां स्त्रीशूद्रयोरनधिकारः

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति । द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात् सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति ॥ ७ ॥

अमृतात्तेः सर्वेष्टत्वात् साङ्गसाम्नः सर्वाधिकारे प्राप्ते स्त्रीशूद्रयोरधिकारं व्यावर्तयति—सावित्रीमिति । सन्तः सावित्रादिकं स्त्रियश्च शूद्राश्च स्त्रीशूद्रं तस्मै दातुं नेच्छन्ति स्त्रीशूद्रयोः अनधिकारं मन्यन्ते । इत्थं स्त्रीशूद्रास्पृष्टं द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयात् इत्यादि समानम् । स्त्रीशूद्रयोः आचार्याणां दातुमिच्छाऽभावेऽपि येन केनचिदुपायेन स्त्रीशूद्राभ्यां एतत्साम यदि लब्धं तदा तावपि मन्त्रराजमहिम्ना कृतकृत्यौ स्यातां इत्यत्र शिष्याचार्ययोः अधःपतनमेव स्यादित्याह—सावित्रीमिति । सावित्र्यादिकं स्त्रीशूद्रजातिः उपायान्तरेण यदि जानीयात् वेदनमात्रेण स मृतोऽधो गच्छति तयोः अत्रैवर्णिकत्वात् । यस्मादेवं तस्मात् सावित्रादिकं सर्वदा सर्वापद्यपि नाचष्टे, न हि सदाचार्यः कथयति । यद्याचष्टे तदा स्त्रीशूद्रगुरुः सोऽयं अपकीर्तिभाक् व्याध्यादिना मृतः ततः कुम्भीपाकादिनरकजातमनुभूय ततः सूकरादियोनिं स्थावरभावं वा गच्छति ॥७॥

लोकवेदब्रह्मादिरूपेण सामध्यानम्

स होवाच प्रजापतिः—अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराड्विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् । ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तत्सङ्गो द्वितीयं पादं जानीयात् । य ओषधीनां

प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् । स
ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराद् तत्साम्नश्चतुर्थं
पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

तिष्ठत्वेतत्, किं ध्यानं इत्यादिप्रश्नोत्तरं किं ? इत्यत आह—स हेति ।
भूलोकाधारत्वेन अग्निर्वै प्रसिद्धः देवाः इन्द्रादयः विविधप्रत्ययगम्यं इदं सर्वं
सर्वशब्दार्थं विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि प्राणाः पञ्चवृत्त्यारूढाः वै प्रसिद्धाः
कर्मज्ञानभेदेन दशेन्द्रियाणि प्राणधारण्यभेदेन पशवः अदनीयं अन्नं देवोपभोग्यं
अमृतं च विशेषज्ञानोपरमणलक्षणस्वापे प्राज्ञात्मना सम्यक् राजत इति सम्राट्
बाह्यसाधनमनपेक्ष्य तैजसात्मना स्वयमेव राजत इति स्वराद् कार्यकारणसंघात-
मवष्टभ्य विश्वात्मना राजत इति विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् ।
वेदचतुष्टयात्मनः ऋग्यजुस्सामाथर्वणरूपः शोभनगतित्वात् सूर्यः अन्तरादित्ये
हिरण्मयः पुरुषः, “य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते” इत्यादिश्रुतेः ।
तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात् । य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराणां नक्षत्राणां
अधिपतिः सोमश्चन्द्रः तत्साम्नः तृतीयं पादं जानीयात् । यो निर्गुणात्मा
नृसिंहः सोऽयं विधिशिवहरीन्द्रभेदात् स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः
सोऽक्षरः अविनाशित्वात् सर्वोत्कृष्टत्वात् परमः विराडादीननपेक्ष्य स्वेन रूपेण
राजत इति स्वराद् तत्साम्नः चतुर्थं पादं इत्यादि समानम् ॥ ८ ॥

सप्तस्वरसामोद्धारः

उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिं तृतीयस्याद्यं
मृत्यु चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ।
तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे
१दास्यत्यन्यस्मै २शिष्याय वेति स होवाच प्रजापतिः ॥ ९ ॥

१ दास्यत्व—अ, अ१. २ वा शिष्याय वा चेति—उ, उ१. शिष्याय वाच्येति—अ, अ१.

लोकवेदब्रह्मादिरूपेण सामध्यानमुक्त्वा अथेदानीं सप्तस्वरं सामोद्धरति—
उग्रमिति । उग्रमित्यक्षरनिर्देशः प्रथमपादस्याद्यं आद्यन्तस्वरयुक्तत्वात्, ज्वल-
मित्यक्षरनिर्देशः द्वितीयपादस्याद्यं, नृसिमित्यक्षरनिर्देशः तृतीयपादस्य आद्यं,
तथा मृत्युमिति चतुर्थपादस्य आद्यं साम जानीयात् इत्यादि समानम् ।
यस्मादेतदतिगोप्यं तस्मादेतत् यत्र कुत्रापि न प्रकाशयेत् । यदि प्रकाशितुमिच्छा
तदा पुत्राय शिष्याय वा प्रकाशयेत् इत्याह—तस्मादिति । इतिशब्दः
आद्यक्षरसामसमात्यर्थः ॥ ९ ॥



क्षीरोदार्यवसामोद्धारः

क्षीरोदार्यवशाथिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम
जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १० ॥

इदानीं मन्त्रादिदेवतायाथात्म्यप्रकटनाय क्षीरोदार्यवसामोद्धारामृचं पठति
—क्षीरोदेति । क्षीरोदार्यवशाथिनं क्षीरसमुद्रशेषतल्पयोगासनाखूढं ना चासौ
केसरी चेति त्वन्तत्पदार्थलक्ष्यम् । यद्वा—नरवपुषं सिंहास्यं व्याविद्धसंसारतत्कार्यैः
योगिभिः ध्येयं सर्वोत्कृष्टत्वेन यत् पदनीयं तत् परमं पदं यथासंप्रदायं साम
जानीयात् । यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १० ॥

परार्धान्त्यादिज्ञानफलम्

वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तंस द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हंभी
तृतीयस्याद्यार्धान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम जानीयाद्यो
जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । तस्मादिदं साम येन
केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते
मोचयति मुमुक्षुर्भवति । ^१जपान्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति

^१ जपान्तेऽनेनैव—कौं जपान्ते तेनैव—उ, उ १.

तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम-
जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ११ ॥

पदार्धान्यादिज्ञानफलमाह—वीरमिति । वीरमित्यक्षरनिर्देशः प्रथमस्या-
द्यार्धान्त्यं उक्ताक्षरद्वयप्रथमार्धं अन्त्यं अन्यस्वरेण अनुदात्तस्वरेण युक्तं अर्धान्त्यं,
परिशेषात् शिष्टं स्वरितस्वरयुक्तं तंस द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं, हंभी तृतीय-
स्याद्यार्धान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम जानीयात् इत्यादि समानम् ।
एतत्साम विशिष्टफलं यस्मात्—ह—तस्मादिति । यस्मादेतत् साम पुरुषार्ध-
साधकं तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन न त्वन्येन साधनान्तरेण
यो जानीते सोऽयं आचार्यमुखोदितसामज्ञानेनैव जन्मादिसंसारान्मुच्यते । यदि
पुरा स्वयं मुमुक्षुः तदा स्वयं मुक्तः सन् परानपि मोचयति सामराजोपदेशच्छलेन
मोचको भवतीत्यर्थः । ज्ञानफलमुक्त्वा जपफलमाह—जपात्तेनेति । येन
शरीरेण मन्त्रराजक्षुरश्वरणं कृतं तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति जाग्रदव-
स्थायामेव भगवन्तं साक्षात्करोति । यतः एवं अतः इदमेव तत्पदप्रापकं
मुख्यद्वारं अपिच अस्मिन्नेव जन्मनि देवतादर्शनं कलौ नान्येषां मन्त्रराजसाम-
पराङ्मुखानां भवति । यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि जागरणे देवतादर्शनं भवति अतः
इदं साङ्गं साम जानीयात् मुमुक्षुर्भवति ॥ ११ ॥

यजुर्वेदवाच्यनृसिंहज्ञानफलम्

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नरकेसरिविग्रहं कृष्णपिङ्गलम् ।

ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शंकरं नीललोहितम् ॥

उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युतिः ।

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः॥

यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं हि साम जानीयाद्यो जानीते

सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १२ ॥

इदानीं पुनः देवताध्यानं विवक्षुः तत्साधनभूते ऋचौ पठति—
 ऋतमिति । यदवश्यं भाविकर्मफलं तत् ऋतं कालत्रयाबाध्यं सत्यं
 सर्वोत्कृष्टं परं परिच्छेदत्रयातीतं ब्रह्म शिरःपाण्यादिमन्तं पुरुषं नृकेसरिविग्रहं
 अध ऊर्ध्वतो नरसिंहदेहं कण्ठनेत्रयोः कृष्णपिङ्गळं ऊर्ध्वरेतं रेतसं विरूपाक्षं
 विषमाक्षं त्र्यक्षत्वात् स्वांशजप्राणिसुखकरत्वात् शंकरं करपादतलजिह्वासु नील-
 लोहितम् । यद्वा—कण्ठे नीलं करादिषु लोहितं, अस्मिन् पक्षे कृष्णपिङ्गळम्(?)।
 एवं कृष्णपिङ्गळनीललोहितदर्शनात् चित्रवर्णो नृसिंहोऽवगम्यते । उमापतिः
 गिरिजापतित्वात् परशूनां जीवानां पतित्वात् पशुः पितृः पिनाको धनुः अस्यास्तीति
 पिनाकी । शाङ्गीणः पिनाकित्वं कथं ? इत्यत्र नृसिंहस्य सर्वदेवात्मकत्वात्
 उपपद्यते । अत एवायं अमितद्युतिः कोटिसूर्यसमद्युतित्वात् । लौकिकवैदिकभेदेन
 सर्वविद्यानामीशानः सर्वविद्यावेद्यतया स्थातुं शक्तत्वात् । तथा सर्वभूतानां
 ईश्वरः सर्वनियन्तृत्वात् । सर्वविद्याभूतेशितृत्वे हेतुः—ब्रह्माऽधिपतिः
 सर्वात्मकत्वे सति सर्वोत्पादकत्वात् । न केवलं उत्पादकः किंतु अधिपतिः
 स्वातिरिक्तसर्वमधिष्ठाय पालयितृत्वात् । ब्रह्मणः चतुराननादेरपि अधिपतिः
 चतुराननादिमधिष्ठाय पालयितृत्वात् । एवं सृष्टिस्थितिसंहारेषु स्वतन्त्रोऽयमित्यर्थः ।
 यो ह वै यजुर्वेदवाच्यो नृसिंहः तं ईशानाख्यं साम जानीयात् इत्यादि
 समानम् ॥ १२ ॥

सामतृतीयावयववेदनफलम्

महा प्रथमान्तार्धस्याद्यं र्वतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं षणं
 तृतीयान्तार्धस्याद्यं नमा चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते
 सोऽमृतत्वं च गच्छति । तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म
 तमेवं विद्वानमृत इह भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते
 सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १३ ॥

सामतृतीयावयववेदनफलमाह—महेति । मह्येक्षरनिर्देशः प्रथमान्तोर्धा स्यात् । यदेतदुक्तमक्षरद्वयं तस्याद्योदात्तं स्वरं जानीयात् इति शेषः । एवं द्वितीयादिषु व्याख्येयम् । एवं साम जानीयात् इत्यादि समानम् ॥ १३ ॥

मन्त्रराजसाममाहात्म्यम्

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्वमेतु प्रजायते ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं यन्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १४ ॥

मन्त्रराजसाम्नो माहात्म्यं किं ? इत्यत आह—विश्वेति । विश्वं सृजन्तीति विश्वसृजो ब्रह्माद्वैयः एतेन वै मन्त्रराजसाम्ना विविधप्रत्ययगम्यं विश्वमिदं असृजन्त उत्पादितवन्तः यद्यस्मात् विश्वं असृजन्त तस्मात् विश्वसृजः विश्वज्ञानपौष्कल्यात् इदं विश्वं एनान् विश्वसृजोऽनु प्रजायते प्रकर्षेणोत्पद्यते ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य नृसिंहावतारस्य सलोकतां समानलोकतां सार्ष्टितां तादात्म्यं सायुज्यं सयुग्भावं च यन्ति । इदं साङ्गं साम जानीयात् इत्यादि समानम् ॥ १४ ॥

पादचतुष्टयान्त्यस्वरद्वयं तज्ज्ञानफलं च

विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं (साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति) योऽसौ वेद यदिदं किंचात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति स्त्री^१पुंसयोर्वा । य इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै

^१ पुंसोर्वा—अ, अ १, उ.

सर्वैश्वर्यं ददाति । यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवः परमं ब्रह्म
तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १५ ॥

मन्त्रराजपादचतुष्टयान्यस्वरद्वयतज्ज्ञानफलं चाह—विष्णुमिति । विष्णु-
मित्याद्यक्षरनिर्देशः प्रथमान्त्यं प्रथमपादोक्तमक्षरं अन्यानुदात्तस्वरयुक्तं प्रथमान्त्यम् ।
एवं द्वितीयादिपादेषु व्याख्येयम् । यः प्रसिद्धोऽसौ साम्नः पादश उक्तः
सर्वजगत्साक्षी नृसिंहः वेद जानाति । किं तर्ह्ययं तटस्थः ? इत्यत्र यदिदं किंच
यत्किंचेदं चेतनाचेतनात्मकं तदसावित्यर्थः । मन्त्रराजोपासकात्मनि ब्रह्मण्ये-
वानुष्टुभं जानीयात् यो जानीत इति समानम् । स्त्रीपुंसयोर्वा तज्ज्ञानादमृतत्वं
भवतीत्युक्त्या ब्राह्मणादीनां तज्ज्ञानतोऽमृतत्वं भवतीति किं वक्तव्यम् । यः
कश्चन इह लोके यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यादिना स्थातुमपेक्षते तस्मै अयं मन्त्रराजः
सर्वैश्वर्यं ददाति । किं तत्फलं जीवतः ? इत्यत्र यत्र कुत्रापि यदि म्रियेत तदा
तत्रैव देवस्तारकात्मा भगवान् नृसिंहः परमं ब्रह्मतारकं व्याचष्टे तुर्योङ्काराप्र-
विद्योतं ब्रह्मप्रणवाख्यं कथयति । तारकत्वमेवोपपादयति—येनेति । येन
तारकोपदेशेन असावमृतीभूत्वा जीवन्मुक्तो भूत्वा सोऽयं तारकब्रह्मवित्
अमृतत्वं च गच्छति ॥ १५ ॥

एतद्विद्यामहिमा

तस्मादिदं साममध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापति-
स्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत् । य एतां
महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति ॥ १६ ॥

यतो ज्ञानशून्यानामपि अन्ते ज्ञानं प्रयच्छति तत इदं क्षीरोदारुणवादि-
सामजातं बुद्धौ निहितं तारकं प्रणवं वा यथासंप्रदायं साममध्यगं साम्नो मध्यमो
मध्यस्वरः तस्मिन् गतं मध्यगं जपति जपेत् । यत इदं साममध्यगं जाप्यं
तस्मात् इदं उक्तं वक्ष्यमाणं चाङ्गजातं साम चाङ्गं चेति वा प्रजापतिः ।

वाक्याभ्यासः सामोद्धारसमाप्त्यर्थः । य एवं नृसिंहाराधको वेद जानाति सोऽपि प्रजापतिर्भवतीति महोपनिषत् । य एतामुक्तलक्षणां महोपनिषदं वेद सोऽयं अकृतपुरश्चरणोऽपि कृतपुरश्चरणः सन् महाविष्णुर्भवति । अभ्यासः प्रथमोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १६ ॥

इति प्रथमोपनिषत्

द्वितीयोपनिषत्

नारसिंहमन्त्रराजस्य संसारतारकत्वम्

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च ^१बिभीयुः ते प्रजापतिमुपाधावन् तेभ्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत् तेन वै ते मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन् संसारं चातरन् तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात् स एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात् स मृत्युं ^२जयति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति ॥१॥

यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छतीत्यसकृत् यदुक्तं तत् दृढीकर्तुं आख्यायिकामवतारयति—देवा इति । देवाः अग्न्यादयः हवा इति स्मर्यमाणा मृत्योः मारकात् स्वाज्ञानात् पाप्मभ्यः दुःखहेतुभ्यः घटीयन्त्रवत् उच्चावच-जननीजठरकूपगमनागमनलक्षणसंसाराच्च बिभीयुः भृशं सन्त्रस्ताः । ते देवाः प्रकृतानर्थव्रातनिवृत्त्यर्थं स्वभयत्रातारं प्रजापतिं शास्त्रोक्तविधिना उपाधावन् तत्समीपं गतवन्तः । तेभ्यः स्वसमीपमागतेभ्यः मृत्युपापसंसारभीतेभ्यः एतं

^१ बिभीयुः—अ २, क.

^२ तरति—अ, अ १, अ २, क.

मन्त्रराजं नारसिंहं आनुष्टुभं प्रायच्छत् दत्तवान् । तेन वै मन्त्रराजेन ते प्राजापत्याः देवाः मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन् संसारं चातरन् सांसारिक-सुखाद्यसंपृष्टाः जीवन्मुक्ताः भवेयुरित्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् यो मुमुक्षुः देवतासंघवत् मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च जन्ममरणादिलक्षणतो विभीयात् सोऽयं मुनिः एतं उक्तलक्षणं आनुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात् गुरुमुखात् । ग्रहणमात्रतः स मृत्युं उक्तलक्षणं जयति स पाप्मानं संसारं च तरति अतिक्रामति । प्रथमोपनिषदि प्रजापतेः मन्त्रद्रष्टृत्वेन ऋषित्वं सिद्धं अत्र पुनः देवाचार्यत्वेन दृढीकृतम् ॥ १ ॥

प्रणवपादानां सामपादतादात्म्यम्

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिः ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः षडो भवति । द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुः रुद्रास्त्रिष्टुब्द-क्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति । तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति । याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः साऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति ॥ २ ॥

कान्यङ्गानि कानि देवतानि किं छन्दः कः ऋषिः इति प्रश्नोत्तरं विवक्षुः प्रणवस्य मुख्याङ्गत्वात् प्रणवव्याप्तिं सामपादतादात्म्येनाह —तस्येति । तस्य ह वै सर्वशास्त्रप्रसिद्धत्वेन विद्वत्स्मर्यमाणस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा प्रसिद्धा पृथिव्यकारः अवर्णस्य पृथिवीरूपत्वात् स ऋग्भिः पादबद्धैः मन्त्रैः ऋग्वेदः ऋचां समूहरूपः ब्रह्मा प्रजापतिः अष्टौ वसवः चतुर्विंशत्यक्षरविशिष्टगायत्री

छन्दः गार्हपत्योऽग्निः सा आद्या मात्रा प्रथमः पादो भवति । द्वितीया मात्रा तु अन्तरिक्षं तस्य द्वितीयमात्रारूपत्वात् स उकारः स यजुर्भिः अविवक्षित-
छन्दस्कैः मन्त्रैः विशेषो यजुर्वेदः तद्वाच्यो विष्णुः एकादशसंख्याकाः रुद्राः
एकादशवर्णसंख्याविशिष्टत्रिष्टुप्छन्दः दक्षिणाग्निः एवंविशिष्टा सा उकारमात्रा
द्वितीयः पादो भवति । तृतीया त्विह मात्रा द्यौः सुलोकः तदात्मको मकारः
गीतिप्रधानैः सामभिः मन्त्रैः सामवेदः तद्वाच्यो रुद्रः द्वादशादित्याश्च
द्वादशाक्षरा जगतीछन्दः आहवनीयश्च सा मकारमात्रा तृतीयः पादो भवति ।
या ब्रह्मविदां प्रसिद्धा अस्य अवसाने चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोकः
प्रजापतिः अर्धमात्रायाः पृथगुच्चारयितुमशक्यत्वात् सा मात्रा अथर्वणैर्मन्त्रैः
अथर्ववेदः तद्वाच्यः संवर्तकः कालाग्निरुद्रः कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं स्वतन्त्रेश्वरः
विविधाभ्यधिष्ठाता एकोनपञ्चाशद्वेदविशिष्टाः मरुतः दशाक्षरात्मकं विरादछन्दः
अथर्वणा नाम प्रसिद्धोऽग्निः इयं च मात्रा भास्वती सर्वापेक्षया भास्वरत्वात् सा
उक्तार्धमात्रा साम्नः प्रथमोपनिषदुक्तस्यासीदिति विशेषस्य(?) इदं पदं सर्वत्र
संबध्यते । अर्धमात्राऽऽत्मकः चतुर्थः पादो भवति । पादचतुष्टयस्य
चतुर्मात्रात्मकत्वमुक्तं, मात्रापादयोरेकत्वं श्रूयते “पादा मात्रा मात्राश्च पादाः”
इति ॥ २ ॥

साम्नः अनुष्टुप्त्वम्

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं
द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुप्भवत्यनुष्टुभा
सर्वमिदं सृष्टम् ॥ ३ ॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवति तथा अष्टाक्षरा हि त्रयः पादाः एवं
चतुरष्टाक्षराणि मिळित्वा द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते । द्वात्रिंशदक्षरा वै प्रसिद्धा
अनुष्टुप् भवति यथोक्तानुष्टुभा मन्त्रराजेन नारसिंहेन सर्वमिदं अविद्यापद-
तत्कार्यजातं सृष्टम् ॥ ३ ॥

साम्नः पञ्चाङ्गानि

तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन ^१युज्यते द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषि[ष]क्ता वा इमे लो[क]े तस्माद्यतिषि[ष]क्तान्य-ङ्गानि भवन्ति ॥ ४ ॥

तस्य हैतस्य प्रसिद्धस्य साम्नः पञ्चाङ्गानि भवन्ति । मन्त्रराजस्य चत्वारः पादाः चत्वार्यङ्गानि भवन्ति । प्रणवेन सहितं सर्वं सप्रणवं मन्त्रराजस्वरूपं पञ्चमं भवति । पञ्चाङ्गानां सर्वमन्त्रसाधारणत्वं दर्शयति— हृदयाय नमः इति, सर्वप्राणिहृदयावभासकप्रत्यगर्थाय नमः । शिरोमन्त्रमाह— शिरसे स्वाहेति । सर्वप्राण्युत्तमा(ङ्गा)लङ्कारतुर्यचरणाय स्वाज्ञानभस्मीकरण-पट्टप्रये स्वाज्ञानाख्यं हविः जुहोमि स्वाहेत्यर्थः । शिखामन्त्रमाह—शिखायै वषडिति । स्वात्मदीप्तिः शिखा नृसिंहतनुः तस्यै शिखायै वषट् मत्करणजातस्य तत्तादात्म्यं भूयादित्यर्थः । कवचमन्त्रमाह—कवचाय हुमिति । कवचवत् स्वभक्तत्राणनकराय मद्रातिवर्गं प्रति हुं हुंकारं कुर्वित्यर्थः । इदानीमस्त्रमन्त्रमाह— अस्त्राय फडिति । अप्रतिहतशासनास्त्राय अप्रतिहतकोपप्रसादाय तुभ्यं ये नमस्कुर्वन्ति तेषां स्वाज्ञानतत्कार्यारातिवर्गं फट् फट् उच्चाटयोच्चाटय । इति शब्दः पञ्चाङ्गपरिसमाप्त्यर्थः । हृदयादिमन्त्रपादानां कः संबन्धः इत्यत्र हृदयाय नम इति प्रथमं मन्त्ररूपं प्रथमेन उग्रमित्यादिपादेन युज्यते संबध्यते । एवं सर्वेषु मन्त्रपादेषु योजनीयम् । द्वितीयाख्यशिरोमन्त्रं ज्वलमित्यादिपादेन तृतीयं शिखामन्त्रेण नृसिंहमिति पादेन चतुर्थं कवचमन्त्रः मृत्विष्यत्यादिपादेन पञ्चमो-

ऽस्त्रमन्त्रः पञ्चमेन प्रणवेन उग्रमित्यादिनमाम्यहमित्यन्तेन मन्त्रराजेन व्यतिषजति विशेषातिशयाभ्यां संबध्नाति । एवं संबन्धे हेतुमाह—व्यतिषि[ष]क्ता इति । विशेषातिशयाभ्यां वै स्मर्यमाणाः भूरादयः इमे लोकाः भोगभूमयः । यस्मादेवं तस्मात् पादैः व्यतिषि[ष]क्तान्यङ्गानि भवन्ति ॥ ४ ॥

ओङ्कारस्य उभयतो न्यासविधिः

ओमित्येतदक्षरं सर्वं तस्मात् प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवति । अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ५ ॥

इदानीं मन्त्रराजाधारप्रणवं स्तौति—ओमित्येतदक्षरमिति । ओमिति ब्रह्माभिधानं एतदक्षरं वर्णात्मकं विविधप्रत्ययगम्यं इदं चेतनाचेतनात्मकं सर्वम् । “तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा” इति श्रुतिप्रकटितोङ्कारस्य सर्वव्यापकत्वेन उकारादिहकारान्तं एकैकं अक्षरं प्रति उभयतः आदाववसाने च ओङ्कारो भवति । द्वात्रिंशदक्षरे मन्त्रराजे चतुष्पष्टयोङ्कारा भवन्ति । पदशो मन्त्रमुद्धर्तुं प्रतिजानीते—अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः इति । न्यासं विन्यासमित्यर्थः ॥ ५ ॥

मन्त्रराजस्य पदशोऽक्षरन्यासः

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशमं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ६ ॥

इदानीं अक्षरन्यासः पदशः उच्यते—तस्येति । तस्य ह वै प्रसिद्ध-
स्मर्यमाणस्य उग्रमिति पदनिर्देशः प्रथमं स्थानं प्रथमं पदं जानीयात् इत्यादि
समानम् । वीरमित्यादिशिष्टपदेषु एवमेव योजनीयम् । अहं एकादशं स्थानं
जानीयात् यो जानीते इत्याद्युक्तार्थम् ॥ ६ ॥

मन्त्रराजस्यानुष्टुप्त्वोपपत्तिः

एकादशपदा वा अनुष्टुप्भवत्यनुष्टुप् सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा
सर्वमिदमुपसंहृतं तस्मात् सर्वमानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं
च गच्छति ॥ ७ ॥

इदानीमस्य मन्त्रस्यानुष्टुप्छन्दस्त्वं उपपन्नमित्याह—एकादशेति । एकादश-
पदान्यस्येति एकादशपदा वै प्रसिद्धा अनुष्टुप् भवति अनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टं
उपसंहृतं च । यस्मादेवं तस्मात् सर्वं आनुष्टुभं जानीयात् इत्यादिं समानम् ॥ ७ ॥

उग्रपदार्थनिर्वचनम्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—अथ कस्मादुच्यत उग्रमिति ।
स होवाच प्रजापतिः—यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान् लोकान् सर्वान्
देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति
वासयत्यु^१द्ग्राह्यत उद्गृह्यते ।

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्सुमुग्रम् ।

मृडा जरित्रे ^२सिंह स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ॥

तस्मादुच्यत उग्रमिति ॥ ८ ॥

^१ द्ग्राह्यत उदग्र—ई, अ १, अ २, क, उ १.

^२ रुर—मु.

उक्तपदवैशद्यार्थं देवप्रश्नमवतारयति—देवा इति । देवा ह वै प्रजापति-
मञ्जुवन् इति व्याख्यातम् । कथं ? अथ पृच्छामस्त्वां कस्मादयं भगवान्
उग्रपदेनोच्यत इति । एवं देवैः पृष्टः स होवाच प्रजापतिः । किमुक्तवानित्यत्र
यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान् लोकान् देवान् अग्न्यादीन् सर्वान् सर्वानात्मनो
जीवान् सर्वाणि चेतनाचेतनात्मकानि भूतानि उद्गृह्णाति स्वयं सर्वोर्ध्वः
सर्वाधारो भूत्वा सर्वान् स्वीकरोति । उक्तार्थं स्वयमेव व्याकरोति—अजस्रं
सृजति विसृजति वासयतीति कल्पादौ कल्पमध्ये कल्पान्ते च उत्पादयति
पालयति उपसंहरति सर्वेषु भूतेषु निवासं कारयति । उद्ग्राह्यते स्वभक्तकृत-
भक्त्यनुरोधेन तादात्म्येन स्वीक्रियते । ब्राह्मणोक्तार्थं ऋगप्याह—स्तुहीति । हे
स्वाज्ञलोक त्वं स्वाज्ञाननिरसनाय वक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टं देवं स्तुहि स्वात्मतया
स्तुतिं कुरु । श्रुतं देशिकमुखात् कर्गपथमागतम् । किं तत् परोक्षं ? गर्तसदं
हृदयगर्तं कूपाकारे सीदति तिष्ठतीति गर्तसत् तं गर्तसदं युवानं सदा
संप्राप्तषोडशवर्षं मृगं न मृगवत्पुरुषं भीमं भयानकं दंष्ट्राकराळवदनत्वात्
हिरण्यकशिपुप्रमुखासुरान्त्रभूषणतो नृत्यन्तं संहारकाले स्वारातिवर्गं विश्वं वा
उपहत्तुं उपसंर्तुं अवतीर्णं उग्रं स्वावशेषतया सर्वमुद्ग्रसन्तं मृडा मृडं स्मृतितः
सुखकरं सर्वस्य जग्निरे जरणशीलाय कालात्मने नमोऽस्तु हे सिंह स्तवानः
स्तुवानोऽहं ते अनन्यं अतिरिक्तं न मे भातु ते तव नरसिंहस्य अनन्यं अस्म-
त्सकाशात् सर्वासु दिक्षु पलायतु अस्मत् अस्मत्तः नरशिरःकरपादाद्यवयवानि
सर्वासु दिक्षु निवपन्तु शाल्यादिबीजमिव भूमौ प्रक्षिपन्तु । के ते ?
रथगजतुरगपदातयः सेनाः त्वद्भृत्याः । त्वत्सपर्याप्रतिकूलान्यङ्गानि निवप-
न्तु त्वत्सपर्याऽनुकूलानि परिपालयन्त्वित्यर्थः । यस्मादेवं तस्मादुच्यत
उग्रमिति ॥ ८ ॥

वीरपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति । यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान्
लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमिति

विरामयत्यजस्रं सृजति विसृजति वासयति । यतो वीरः कर्मण्यः
सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः । तस्मादुच्यते वीरमिति ॥ ९ ॥

उग्रशब्दवत् वीरपदं व्याचष्टे—अथेति । अथ कस्मादुच्यते इति सर्वत्र
समानम् । यस्मादिति च समानम् । विरमति अन्तर्याम्यादिरूपेण रमणं करो-
ति । विरामयति विविधभूतजातं विविधभूतजातैः रतिं कारयति । विरमतिशब्दार्थ-
माह—अजस्रमित्यादि । व्याख्यातम् । स्वोक्तार्थं मन्त्रोऽप्यनुवदति—यत् इति ।
यतः यस्मात् अयं विविधरतिहेतुः सर्वकर्मणि विधीयतां कर्मण्यः अत एव
सुदक्षः शोभनकौशलत्वात् युक्ता नियुक्ता ग्रावाणोऽस्थिप्रदेशा यस्य सोऽयं
युक्तग्रावा स्वाधीनशरीरेन्द्रियादियुत इत्यर्थः । जायते उत्पद्यते देवानां विषये
कामोऽनुग्रहो यस्य सः देवकामः । तस्मादुच्यते वीरमिति ॥ ९ ॥

विष्णुपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति । यस्मात् स्वमहिम्ना
सर्वान् लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति
व्यापयति स्नेहो यथा पल्लपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं
व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयते ।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीम् ॥

तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥ १० ॥

विष्णुपदं व्याकरोति—अथेति । व्याप्नोति अन्तर्याम्यात्मना सर्वत्र
व्याप्तिं कुरुते स्वोपासकैः व्यापयति स्वज्ञानत उपासकानां व्याप्तिं कारयति ।
व्याप्तावयं दृष्टान्तः—यथा स्नेहः शान्तमूलं पल्लपिण्डं मांसपिण्डं ओतप्रोतं

प्राक्प्रत्यगुदग्दक्षिणत अनुप्राप्तं तेन मांसपिण्डेन व्यतिषिक्तः संबद्धः व्याप्यते व्याप्नोति तेन व्यापयते व्यापयति स्वावयवैः व्याप्तिं कारयति । उक्तार्थं मन्त्रोऽप्याचष्टे—यस्मादिति । यस्मात् जातः परोऽन्यः स्वातिरेकेण नास्ति यः परमेश्वरो विश्वा विश्वानि तदन्तर्गतचतुर्दशभुवनानि च विश्वविराडोत्रादिरूपेण आविवेश प्रविष्टवान् स प्रजापतिः सनत्कुमारनारदादिप्रजया एतं स्वातिरिक्तप्रपञ्चं नास्तीति संविदानः जानीयात् अग्न्यादित्यचन्द्ररूपेण त्रीणि ज्योतींषि सचते उत्पादयति । न केवलं ज्योतींषि, किंतु स प्रजापतिः षोडशीं प्राणादिनामान्तकल्पितमप्युत्पादितवान् । यस्मादेवं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥ १० ॥

ज्वलत्पदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति । यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान् लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वालयते ज्वालयते । सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् संतपन् रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः । तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ॥ ११ ॥

ज्वलन्तमिति पदं व्याचष्टे—अथेति । स्वतेजसा प्रत्यक्प्रकाशाभिन्नपर-प्रकाशेन ज्वलति दीप्यते अन्तर्याम्यात्मना ज्वालयति विहिताविहितप्रवृत्तिनिवृत्ती प्रकाशयति स्वतेजसा हिरण्यकशिपुप्रभृतीन् ज्वालयते स्वाज्ञानतत्कार्येन्धनं स्वज्ञानिभिः ज्वालयते । स्वोक्तार्थप्रकाशकोऽयं मन्त्रः—सविता जगत्प्रसवितृ-त्वात् प्रसविता तज्जनको बीजात्मा दीप्तः स्वेन रूपेणेत्यर्थः दीपयन् स्वातिरिक्तं तत्संबन्धं विना स्वयं दीप्यमानः मूलाधाराग्निरूपेण ज्वलन् योगिरूपेण ज्वलिता ज्वलनकर्ता स्वभक्तपापं तपन् सामान्यतः वितपन् विशेषेण तापं

कुर्वन् संतपन् सम्यक् निःशेषं तपन् भस्म कुर्वन् रोचनः प्रकाशनः रोचमानः
प्रकाशं कुर्वाणः शोभनः समीचीनः शोभमानः शोभां कुर्वाणः कल्याणः
मङ्गलरूपः । तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ॥ ११ ॥

सर्वतोमुखपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति । यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान्
लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि
सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः
सर्वगतस्तिष्ठति ।

एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः ।

यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखमिति ॥

तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति ॥ १२ ॥

सर्वतोमुखपदं व्याचष्टे—अथेति । विराड् रूपेण सर्वतोमुखं निरिन्द्रियोऽपि
ज्ञानकर्मेन्द्रियविरलोऽपि सर्वतो रूपाणि पश्यति तथा सर्वतः शब्दजातं शृणोति ।
शिष्टज्ञानेन्द्रियेन्द्रियार्थानामुपलक्षणमेतत् । तथा सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते
पादपाणिभ्यापारवान् भवति । पादादिग्रहणं शिष्टकर्मेन्द्रियोपलक्षणार्थम्, “पश्यत्य-
चक्षुः स शृणोत्यकर्णः”, “अपाणिपादो जवनो प्रहीता”, इत्यादिमन्त्रवर्णात् ।
तथाऽन्तःकरणाभावेऽपि तद्व्यापारमाह—सर्वग इति । सर्वं गच्छति जानातीति
सर्वगः । किं बहुना, सर्वगतः विभुत्वात् सर्वासु दिक्षु सर्वरूपेण तिष्ठति ।
इत्यर्थे मन्त्रमाह—एक इति । सजातीयादिभेदत्रयवैरळ्यात् आत्मैक एवेत्यर्थः ।
सोऽयं जगदुत्पत्तेः पुरस्तात् पूर्वस्मिन् काले विविधप्रत्ययरूपं विश्वं अनभिच्यक्त-
तया बभूव जगदात्मको बभूव संजातः भुवनस्य सचराचरस्य जगतः गोपाः
गोप्ता विष्णोः स्थितिकारणत्वात् यमेकं जगदात्मानं अप्येति लयं गच्छति
भुवनं चेतनाचेतनात्मकं विश्वं साम्पराये परलोके विनाशकाले लयं गच्छतीति

पूर्वेण संबन्धः तमहं नमामि नमस्करोमि । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ।
तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति ॥ १२ ॥

नृसिंहपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति । यस्मात् सर्वेषां भूतानां ना
वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च तस्मान्नृसिंह आसीत्
परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति ।

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

तस्मादुच्यते नृसिंहमिति ॥ १३ ॥

नृसिंहपदार्थमाह—अथेति । सर्वेषां भूतानां ना पुरुषः अतिशयेन
वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च यथा भवति तथा सिंहः केसरी वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च अयं
चोभयात्मकः । यस्मादेवं तस्मात् नाचासौ सिंहश्चेति नृसिंहः आसीत्
परमेश्वरो नियन्ता जगद्धितं वा एतद्रूपं नरसिंहाख्यं क्षरसंबन्धाभावात् यदक्षरं
भवति । उक्तेऽर्थे मन्त्रमवतारयति—प्रतद्विष्णुः स्तवत इति । नृसिंहोपासको
वक्ष्यमाणप्रकारेण नृसिंहं प्रकर्षेण स्तवते स्तुतिं करोति । स्तुत्यः कीदृशः ?
इत्यत्र यो जगज्जन्मस्थितिभङ्गहेतुः सः विष्णुः व्यापनशीलः । किमर्थं अयं
भक्तैः स्तूयते ? वीर्याय स्वाज्ञाननिरसनार्थं मृगो न पुरुषसिंहः भीमः
स्वाभक्तभीषणाकृतित्वात् कौ पृथिव्युपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्ये विश्वविराडोत्रादि-
रूपेण चरतीति कुचरः गरिष्ठाः गरिष्ठः सर्वोत्कृष्टत्वात् यस्य विष्णोः
त्रिविक्रमस्य उरुषु त्रिसंख्याकेषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति—कानि ?—
अतलादिसत्यलोकान्तानि भुवनानि विश्वा विश्वानि अनन्तकोटिब्रह्माण्डानि
अधिकतया क्षयं निवासं विनाशं वा गच्छन्ति । तस्मादुच्यते
नृसिंहमिति ॥ १३ ॥

भीषणपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति । यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति ।

भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।

भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति ॥

तस्मादुच्यते भीषणमिति ॥ १४ ॥

भीषणपदार्थमाह—अथेति । यस्य नृसिंहस्य सर्वेन्द्रियकेशश्मश्रुरोम-
कूपादिद्वारेषु वह्निं वमन्तं असुरराडान्त्रमालालाभहर्षसञ्जातवीराद्ब्रह्मासबधिरीकृत-
विश्वं यद्रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे ब्रह्मादयो देवाः सर्वाणि भूतानि मां अयं
निःशेषं भक्षतीति भीत्या सर्वासु दिक्षु पलायन्ते स्वयं भीषणो नृसिंहो यतः-
कुतश्चिन्न बिभेति । उक्तेऽर्थे मन्त्रमाचष्टे—भीषेति । अस्मान् नरसिंहात् भीषा
भीत्या वातः पवते तथा प्रत्यहं प्रातःकाले भीषोदेति सूर्यः सर्वप्राणिबहिःप्राणः
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च तदाज्ञाऽनुवर्ती भवति । सर्वहरोऽपि मृत्युः तच्छासन-
मप्रमादं अनुवर्तते स्वाज्ञसकार्ये धावति पञ्चमः पञ्चसंख्यापूरकः । इति
मन्त्रसमाप्तौ । तस्मादुच्यते भीषणमिति ॥ १४ ॥

भद्रपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति । यस्मात् स्वयं भद्रो भूत्वा
२सर्वदा भद्रं ददाति । रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्मिथरैरङ्गैस्तुष्टुवाग्भ्यस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

तस्मादुच्यते भद्रमिति ॥ १५ ॥

१ वेदाः—उ.

२ सर्वतो—अ, अ १.

भद्रपदार्थमाह—अथेति । नृसिंहः स्वयं प्रह्लादादिभक्तानां भद्रो दिव्यमङ्गलरूपो भूत्वा सर्वदा नित्यं स्वानन्यभक्तेभ्यः भद्रं स्वमात्रावशेष-
लक्षणपरममङ्गलं कैवल्यं ददाति । उक्तार्थप्रकाशकोऽयं मन्त्रः—रोचन
इत्यादि, व्याख्यातम् ॥ १९ ॥

मृत्युमृत्युपदार्थनिर्वचनम्

अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति । यस्मात् स्वमहिम्ना स्व-
भक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥ १६ ॥

मृत्युमृत्युपदार्थमाह—अथेति । यस्मात् स्वमहिम्ना स्वभक्तानां
मार्कण्डेयप्रभृतीनां स्मृत एव स्मरणमात्रेण नतु पूजाऽऽदिसापेक्षः मृत्युः
अवसानकालप्रतीक्षः तं अपमृत्युः अकस्मादागतो निवर्तनीयश्च तमपि चकारात्
नानाव्याधिमपि मारयति । उक्तार्थावभासकोऽयं मन्त्रः—यः प्रसिद्धो मृत्युमृत्युः
नरसिंहः भक्तेभ्यः स्वात्मानं ददातीति आत्मदाः स्वानन्यभक्तकरणग्रामस्य
स्वाराधनानुरूपबलं प्रयच्छतीति बलदाः यस्य आत्मबलदस्य मृत्युमृत्योः
स्वरूपं विश्वे सर्वे देवाः उपासते अनवरतमुपासनं कुर्वते प्रशिषं आशिष-
माशीर्वादं करणग्रामप्रसादं यस्य देवाः इन्द्रादयः स्वशासनानुवर्तिनः यस्य प्रशि-
षमुपासत इत्यर्थः । यस्य मृत्युमृत्योः छायेवाविनाभावेन वर्तमानं अमृतं
देवोपजीवनं मोक्षस्वरूपं वा भक्तानां यः प्रयच्छति कस्मा एकस्मै प्रत्यगभिन्न-
परमात्मने देवाय स्वयं प्रकाशमात्राय स्वाराधनयोग्यहविषा विधेम विधास्म
सपर्यां करवाम । तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥ १६ ॥

अथ कस्मादुच्यते नमामीति । यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति
मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च ।

प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् ।

यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे ॥

तस्मादुच्यते नमामीति ॥ १७ ॥

नमामिपदार्थमाह—अथेति । यं प्रसिद्धं नरहरिं सर्वे देवाः नमन्ति
प्रत्यक्परचितोरैक्यं वा भावयन्ति । के ? मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च, “नमस्त्वैक्यं
प्रवदेत्” इति श्रुतेः । उक्तेऽर्थं मन्त्रमवतारयति—प्रनूनमिति । प्रकर्षेण नूनं
निश्चितं ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणो वेदराशेः पतिः पालयिता प्रजापतिः मननात्मकं
मन्त्रं सर्वस्य उत्पत्त्यादिकारणत्वात् उक्थ्यं प्रजापतिर्वदति प्रणमति च यस्मिन्
प्रसिद्धे मन्त्रे उक्थ्ये बलाधिष्ठाता इन्द्रः त्रिलोकीपतिः सर्वानुग्राहको मित्रो रविः
अपामधिष्ठाता वरुणः अर्यमा कर्मफलाधिष्ठाता देवा उक्ता अनुक्ताश्चाग्न्यादयः
महावृक्ष इव विहगा ओकांसि नीडानि चक्रिरे कृतवन्तः । तस्मादुच्यते
नमामीति ॥ १७ ॥

अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति ।

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः ।

यो मा ददाति स इ देवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमग्नि ।

अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीः ॥

य एवं वेदेति महोपनिषद् ॥ १८ ॥

अहंपदार्थमाह—अथेति । अहंशब्दार्थप्रतिपादकमन्त्रमाह—अहमिति । अस्मत्प्रत्ययावभासकः प्रेरकः प्रत्यगन्तर्यामी वा अस्मि भवामि प्रथमजा प्रथमजो हिरण्यगर्भः ऋतस्य कर्मफलभूतस्य संसारस्य पूर्व प्रथमं—केभ्यः ?—स्वाधिष्ठा-
तृभ्यः इन्द्रियेभ्यो देवेभ्यः ब्रह्मज्ञानमन्तरेण अमृतस्य नाभिः नाभिरिव कारणभूतः यः कश्चनोपासकः मा मां संप्रदायादागतं मन्त्रराजं पुत्राय शिष्याय वा ददाति प्रयच्छति सोऽयं मम दाता इत् इत्थं मदानेन एवं ब्रह्माध्यात्मं अधिभूतसंप्रदानमेतादृशं आवाः अवतीत्यर्थः । अथवा इदेव इत्थमेव सच्छिष्यप्रदानेनैव नत्वन्यथा मन्त्रराजमवति । अहं मन्त्रराजमूर्तिः सर्वतो-
मुखो नृसिंहः सर्वप्राणिसाधारणतया अदनीयं अन्नं स्थावरजङ्गमशरीरभूतम् । यत एवं ततः अन्नं सर्वसाधारणं मन्त्रराजं अन्नवदिहामुत्र च सुखकरं अदन्तं भक्षयन्तं मन्त्रराजं गुणवत्पुत्रशिष्येभ्योऽप्रयच्छन्तं अग्निं स्वयागोपसेचनं जगद्वञ्चकोदनं मन्त्रराजजपं भ्रमादिना भक्षयामि । यद्वा—मन्त्रराजतज्ज्ञानवै-
कल्येन केवलान्नमदन्तमग्निं । मम मृत्योरपि मृत्युत्वात् विश्वं निखिलं भुवनं चेतनाचेतनात्मकमुपसंहारकाले सर्वदा वा प्रतिपक्षभावमागतं अभ्यभवां अभिभवामि तिरस्करोमि विनाशयामीत्यर्थः । उग्रमित्याद्यहमित्यन्ताः सुवर्णाः
ज्योतिरिव प्रकाशमानत्वात् । सुवर्णज्योतीः इतिपक्षे सुवर्णज्योतिरेव सुवर्णज्योतीः । तस्मादुच्यते अहमिति शेषः । योऽयमुपासकः उग्राद्यहमित्यन्त-
पदानि वेद स उग्रादिरूपो भवतीति शेषः । इतिशब्दो द्वितीयोपनिषत्समाप्त्यर्थः । व्याख्याता महोपनिषत् ॥ १८ ॥

इति द्वितीयोपनिषत्

तृतीयोपनिषत्

मन्त्रराजस्य शक्तिबीजजिज्ञासा

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नार-

सिंहस्य शक्तिं बीजं नो ब्रूहि भगव इति ॥ १ ॥

नृसिंहपदव्याख्यानावसरे “जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं” इत्यत्र शक्तिबीजयोः सूचितत्वात् मध्ये प्रश्नावसराभावात् इदानीं लब्धावसरा देवास्तं पृच्छन्तीत्याह—देवा इति । देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् इत्युक्तार्थम् । आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं नोऽस्मभ्यं ब्रूहि भगव इति ॥ १ ॥

शक्तिस्वरूपनिरूपणम्

स होवाच प्रजापतिः—माया एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते ॥ २ ॥

मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घा प्लुता चेति । यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान् भवत्यमृतत्वं च गच्छति ॥ ३ ॥

तदेतद्विष्णोक्तं निदर्शनं—स ई पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामन्त्रिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः तां विद्यां ब्रह्मयोर्नि सरूपामिहायुषे शरणमहं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

संबोधितः स होवाच प्रजापतिः—व्याख्यातम् । परमार्थदृष्ट्या या मा सा माया स्वाज्ञद्रष्ट्या वस्तुभूता वै एषा नारसिंहस्येयं नारसिंही । यद्यपि नृसिंह इत्यत्र ह्रस्व इकारो लोकप्रसिद्धः, तथाऽपि दीर्घस्य मायाकार्यत्वात् मन्त्रराजस्थपदे स दीर्घोऽवगन्तव्यः सामत्वात् । मायैषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति, ऋस्पद्योऽर्थः । यस्मादियं जगज्जन्मादिहेतुः तस्मात्

मायां कार्यतः साक्षिवेद्यतया प्रत्यक्षां चतुर्विधपुरुषार्थकारिणीं शक्तिं विद्यात् । तज्ज्ञानफलमेतद्धि—यः पुमान् एतां मायां शक्तिं स्वातिरिक्ततया नास्तीति वेद जानाति स पाप्मानं तरति इत्यादि व्याख्यातम् । यथा यथा सत्यत्वेन व्यावहारिकत्वेन प्रातिभासिकत्वेन निष्प्रतियोगिकाभावरूपतया वा जानाति तथा तथा विराड्भावापत्त्यादिकैवल्यान्तश्रियमश्नुते प्राप्नोति ॥ २ ॥ वक्ष्यमाण-प्रकारेण एवं विचारणं कुर्वन्ति नृसिंहपदे । स्वभावतो ह्रस्वा उपलभ्यते, मायायोगतः दीर्घा च, सामत्वात् प्लुताऽप्यवगम्यते । ब्रह्मवादिनां मीमांसाप्रकारः ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुताः, एकद्वित्रिमात्रा वेति । पक्षत्रयमङ्गीकरोति—यदीति । यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहति अमृतत्वं च गच्छति । शिष्टं स्पष्टम् । एवं दृष्टित्रयस्य फलैकदेशवैचित्र्येऽपि मुख्यफलस्यैकरूपत्वात् पर्यायत्रये क्रमेणापापश्रीज्ञानानि भिद्यन्ते, अमृतत्वं समानमेव ॥ ३ ॥ यदेवमुक्तं तद्दृषिणाऽप्युक्तम् । किं तत् ? मन्त्ररूपं निदर्शनं—यो जगज्जन्मादिहेतुः सोऽयं मन्त्रराजात्मको नृसिंहः ई ईकारात्मकमायाशक्तिं भक्ताभक्तकथने पाहि पालयस्व । यः प्रसिद्धः सर्वात्मा ऋजीषी ईकाररहितो वस्तुतो निर्मायत्वात् स्वाज्ञादृष्टिप्रसक्त-कारयोगात् स्वांशजप्राणिपटलं त्रायत इति तरुत्रः मन्त्रराजो नृसिंहरूपः श्रियं श्रीमन्त्वानुगतां धनधान्यादिरूपिणीं लक्ष्मीं लक्ष्मीमन्त्वानुगतां हस्त्यश्वरथादिरूपां—सामान्यविशेषाकारेण श्रीलक्ष्म्योः भेदोऽवगन्तव्यः—उपलस्य हिमवतः इयं औपला तां मेनाऽऽदिरूपां अम्बिकां भवानीं गां गोशब्दवाच्यां यागादिरूपां वा षष्ठीं च षट्संख्यापूर्णीं चकारात् सावित्र्यादिरूपामपि यां प्रसिद्धां इन्द्रस्य सेना चतुरङ्गिणीत्याहुः ब्रह्मवादिनः तामुक्तां श्रीलक्ष्म्यादिरूपां मन्त्रराजब्रह्म-विद्याऽऽत्मिकां ब्रह्म सत्यादिलक्षणं तदेव योनिः तत्त्वरूपां इह अस्मिन्नेव शरीरे वर्तमानः आयुषे आयुःप्रात्यर्थं शरणमहं प्रपद्ये प्राप्तवानस्मि ॥ ४ ॥

बीजस्वरूपनिरूपणम्

सर्वेषां वा एष भूतानामा^१काशः परायणं सर्वाणि ह
वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जाता-

^१ काशं—अ १, उ.

नि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं
विद्यात् ॥ ५ ॥

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्गोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृषद्वरसदृतसद्वचोमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥

य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ ६ ॥

शक्तेरियत्तामुक्त्वा बीजेयत्तामाह—सर्वेषां वेति । वै प्रसिद्धमेतत् एषः
स्थावरजङ्गमभूतानां आकाशशब्देन तदधिष्ठाता ईश्वरः परायणं पर्यवसानभूमिः ।
सर्वाणि ह वा इमानि वियदादिभूतभौतिकानि आकाशशब्दशब्दितेश्वरादेव
जायन्ते । व्याख्यातमन्यत् । यस्मादेवं तस्मात् आकाशं बीजं विद्यात् ॥ ५ ॥
उक्तेऽर्थे तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं व्याख्यातम् । हंसशब्देन तत्पदार्थः सशब्देन
त्वंपदार्थः तयोः व्यतिहारोच्चारणं असिपदार्थः इत्यत्र—

हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम् ।

सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ।

सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेत् ध्रुवम् ॥

इति श्रुतेः । हंसशब्देन प्रत्यगभिन्नपरमात्मोच्यते । स एव शुचौ हृदयादिप्रदेशे
सीदतीति शुचिषत् वस्वात्मना अन्तरिक्षे सीदतीति अन्तरिक्षसत् “अग्निर्वै
होता” इति श्रुत्या होत्रात्मना त्रेताऽग्निमध्यवर्तिन्यां वेद्यां सीदतीति वेदिषत्
आतिथ्यकर्मणि पूजनीयोऽज्ञातकुलगोत्रोऽयमतिथिः तद्रूपेण दुरोणेषु यज्ञगर्भेषु
सीदतीति दुरोणसत् नृषु सीदतीति नृषत् वरेषु देवेषु सीदतीति वरसत्
ऋते अवश्यंभाविकर्मफले सीदतीति ऋतसत् व्योम्नि हृदयाकाशादौ सीदतीति
व्योमसत् शंखमकरादिरूपेण अद्भयो जायत इति अब्जाः पयोदध्यादिरूपेण
गोभ्यो जायत इति गोजाः ऋतात् कर्मफलजनकात् कर्मणः सुखदुःखादिरूपेण

जायत इति ऋतजाः अद्रिभ्यः स्थावरादिरूपेण जायत इति अद्रिजाः ऋतं मन्त्रादौ प्रथममुक्तं अक्षरं एतमात्मनो भेदरहितं जगद्धीजमन्त्रराजबीजभूतमपि बृहत् ब्रह्मस्वरूपम् । यः एवं उक्तेन प्रकारेण आकाशं बीजं-वेद । इतिशब्दः तृतीयोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ६ ॥

इति तृतीयोपनिषत्

चतुर्थोपनिषत्

अङ्गमन्तोपदेशः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति ॥ १ ॥

स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगाय-
त्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ २ ॥

कान्यङ्गानि कानि देवतानीत्यत्र देवप्रश्नानुरूपं उत्तरं दत्तम् । पुनर्विशेषतो-
ऽवगन्तुं इदानीं लब्धावसराः देवाः पृच्छन्ति—देवा ह वा इति । देवा ह वा
इत्याद्युक्तार्थम् । अङ्गरूपमन्त्रान् ॥ १ ॥ इदानीं क्रमेण चतुरोऽङ्गमन्त्रानाह—
प्रणवमिति । प्रणवादीनि चतुरङ्गमन्त्रनामधेयानि । इत्यनेन प्रकारेण
चतुरङ्गानि जानीयात् । यो जानीते इत्याद्युक्तार्थम् ॥ २ ॥

प्रणवस्य ब्रह्मात्मत्वम्

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्य-
दिति सर्वमोकार एव यच्चान्यत्रिकालातीतं तदप्योकार एव । सर्वं
ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ३ ॥

सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवतीत्युक्तत्वात् यथासंप्रदायं प्रणवमन्त्र उक्तः । तस्यार्थः पुरा माण्डूक्योपनिषद्विवरणे सम्यक् प्रपञ्चितः । इहापि संक्षेपतया प्रपञ्च्यते—ओमिति । ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं इति व्याख्यातम् । तस्य प्रथमाङ्गस्य सर्वात्मकतया उप सामीप्येनाख्यानं आसमन्तात् कथनं उपव्याख्यानम् । भूतं अतीतं भवत् वर्तमानं भविष्यत् अनागतार्थः ओङ्कार एव सदसदात्मकतया यत् प्रसिद्धं त्रिकालातीतं तदप्योङ्कारः एव । सर्वं ह्येतत् ब्रह्म अभिधेयात्मना अभिधानप्रपञ्चव्यापकत्वात् । अचेतनप्रपञ्चस्य ब्रह्मत्वमुक्तं न चेतनस्येति शङ्कां शातयति—अयमात्मा ० इति । अस्मत्प्रत्ययालम्बनतया अयं अनुभूयमानस्त्वंपदार्थः प्रत्यगात्मोच्यते । सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म तत्पदार्थः । तयोः स्वाज्ञदृष्ट्या भेदः व्यष्टिसमष्ट्युपाधियोगभ्रमात् । स्वज्ञदृष्ट्या उपाधेः मायिकत्वेन मिथ्यात्वात् उपहितचैतन्ययोः अभेद एव । परमार्थदृष्ट्या स्वातिरिक्तसामान्यस्य व्यष्ट्यादेः शशविषाणवत् अवस्तुतया तत्प्रसक्तभेदाभेद-वैरळ्यात् निष्प्रतियोगिकं ब्रह्ममात्रमवशिष्यत इत्यर्थः । स्वाज्ञदृष्ट्या सोऽयमात्मा कार्षापणवत् चत्वारः पादाः अस्येति चतुष्पात् न गौरिवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रणवप्रथमपादनिरूपणम्

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल-

मुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

तत् कथं ? जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः चाक्षुषादिगोचरप्रज्ञा यस्येति स बहिःप्रज्ञः सप्तसंख्याकानि द्युसूर्यवाय्वाकाशोदकपृथिव्याहवनीयाख्यानि मुख्याङ्गानि यस्य सोऽयं सप्ताङ्गः पञ्चज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणान्तःकरण-चतुष्टयभेदेनैकोनविंशतिमुखानि विषयोपलब्धिद्वाराणि अस्येति एकोनविंशतिमुखः स्थूलविषयकभोगो यस्य सः स्थूलभुक् विश्वश्वासौ नरश्चेति विश्वनरः स एव वैश्वानरः । चतुरात्मत्वं उत्तरतापिन्यां स्फुटं अवगम्यते इत्यत्र न प्रपञ्चितम् । अयमेव प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

प्रणवद्वितीयपादनिरूपणम्

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्
तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ९ ॥

इदानीं द्वितीयं पादमाह—स्वप्नस्थान इति । जागरितवासनाजन्यस्वप्न-
स्थानमस्येति स्वप्नस्थानः वासनामये अन्तरेव प्रज्ञा यस्य सोऽन्तःप्रज्ञः
सप्ताङ्गः । एकोनविंशतिमुखः इति व्याख्यातम् । प्रविविक्तं सूक्ष्मं वासनाऽनुरूपं
भुङ्क्त इति प्रविविक्तभुक् तस्मान्तःकरणोपाधिकत्वात् तैजसः जागरिता-
नन्तर्यात् अयं द्वितीयः पादः ॥ ९ ॥

प्रणवतृतीयपादनिरूपणम्

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति
तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान ^१एकीभूतप्रज्ञानघन एवानन्दमयो
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः । एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ
एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

इदानीं तृतीयपादमाह—यत्रेति । यत्र यस्मिन् काले सुप्तः उपरतेन्द्रिय-
ग्रामः किंचन पुण्यपापहेतुभूतदारपुत्रघनक्षेत्रादिकं न कामयते न कंचन
शुभाशुभवासनाविशेषस्वप्नं पश्यति सुषुप्तेः सर्वकरणोपरमस्थानत्वात् यदेवमुक्तं
तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तं स्थानं अस्येति सुषुप्तस्थानः एकीभूतप्रज्ञानघनः बाह्यान्तः-
करणप्रज्ञानानां अस्मिन्नेकीभूतत्वात्, अयं एकीभूतप्रज्ञानघन एव आनन्दमयः
विश्वाद्यपेक्षया अस्थानन्दप्रचुरत्वात् स्वाज्ञानवृत्तिकलितानन्दभुक् आवृत्यावृतचेतो-
मुखं द्वारं यस्य सः चेतोमुखः प्रकृष्टानन्दे स्वाज्ञानवृत्तिकलितबोधो यस्य सोऽयं
प्राज्ञः । स हि तृतीयः पादः । ईश्वरत्वेन इदानीं प्राज्ञं स्तौति—एष इति । व्यष्टि-

^१ अयं व्याख्यानुसारी पाठः । आकरकोशदृष्टपाठस्तु—‘एकीभूतः प्र’ इति.

समष्टिबीजेशयोरेकत्वात् एष सर्वेश्वरः सर्वश्वासौ ब्रह्मेत्येष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्यामी सर्वनियन्तृत्वात् सर्वस्य एष योनिः सर्वकारणत्वात् । योनित्वे अयं हेतुः— भूतानां चेतनाचेतनात्मकानां प्रभवाप्ययौ उत्पत्तिप्रळयावपि एष एव, प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना आरोपापवादाधिकरणत्वात् ॥ ६ ॥

प्रणवचतुर्थपादनिरूपणम्

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणम्^१ नित्यमव्यपदेश्य^१मैकात्म-
प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा
स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

इदानीं तुर्यपादमाह—नान्तःप्रज्ञमिति । नान्तःप्रज्ञं वासनावैरळ्यात् न बहिःप्रज्ञं बाह्यप्रश्चाभावात् नोभयतःप्रज्ञं जाग्रत्स्वप्नान्तराळीयबोधाभावात् न प्रज्ञं निर्विकल्पबोधाभावात् नाप्रज्ञं नबोधाभानरूपत्वात् न प्रज्ञानघनं करणग्रामविषयकप्रज्ञानवैरळ्यात् अदृष्टं अदृश्यं दृग्मात्रत्वात् अव्यवहार्यं अवाङ्मानसगोचरत्वात् अग्राह्यं अचाक्षुषत्वात् अलक्षणं लक्षणागम्यत्वात् अचिन्त्यं अनिदं वस्तुत्वात् अव्यपदेश्यं अनभिधेयत्वात् एकात्मप्रत्ययसारं स्वमात्रप्रत्ययगोचरत्वात् प्रपञ्चोपशमं तत्प्रळयाधिकरणत्वात् शान्तं शान्त-
स्वातिरिक्तत्वात् शिवं चिन्मात्रत्वात् अद्वैतं द्वैताभावात् चतुर्थं तुर्यत्वात् । ब्रह्मवादिनः नान्तःप्रज्ञं इत्यादिविशेषणविशिष्टं यत्तत् चतुर्थं मन्यन्ते । स हि परमात्मा स एव मुमुक्षुभिः आत्मतया विज्ञेयः साक्षात्कर्तव्यः ॥ ७ ॥

सावित्रीगायत्रीमन्त्रस्वरूपम्

अथ सावित्री गायत्र्या [त्री या] यजुषा प्रोक्ता तथा सर्वमिदं व्याप्तम् । घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि ।

^१ मैकात्म्यप्र—उ, मु^१

एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तम् । य एवं वेद श्रिया
हैवाभिषिच्यते ॥ ८ ॥

तदेतद्वचाभ्युक्तं—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे
समासत इति ॥ ९ ॥

न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति यः
सावित्रं वेदेति ॥ १० ॥

चतुष्पादोङ्कारः प्रथमाङ्गत्वेन निर्दिष्टः । इदानीं सवितृदेवताकं गायत्री-
छन्दस्कं द्वितीयमङ्गमाह—अथेति । अथ प्रथमाङ्गकथनानन्तरं सावित्री
सवितृदेवताका गायत्री गायत्रीछन्दस्का या यजुषा प्रोक्ता तथा यजुर्वेदोक्तया
गायत्र्या सर्वमिदं व्याप्तम् । तां निर्दिशति—घृणिरिति अक्षरानुकरणार्थः द्वे
अक्षरे, सूर्य इत्यत्र सूर्य इत्यक्षरत्रयं, आदित्य इति त्रीण्यक्षराणि । एतद्वै
प्रसिद्धस्य सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तम् । इति यो वेद यथोक्तमेवं
जानाति तस्यैतत्फलं—श्रिया हैवाभिषिच्यते ॥ ८ ॥ यदेवमुक्तं तद्वचा
मन्त्रेणाभ्युक्तम् । पादबद्धाक्षरात्मिका ऋचः तदुपलक्षितशब्दराशिः अक्षरे
सश्रीबीजे परमे उत्कृष्टे व्योमन् सवित्राकाशे यस्मिन् सवितरि सश्रीके अष्टाक्षरे
परमे व्योम्नि विश्वे सर्वे देवाः अधिनिषेदुः यः प्रसिद्धोऽयमुपासकः तं
अष्टाक्षररूपं सश्रीकं न वेद न जानाति यदि तदा ऋचा सवितृमन्त्रव्यतिरिक्तेन
किं करिष्यति ये सश्रीकसावित्रीमन्त्रोपासकाः इत् इत्थं सर्वशब्दराशिदेवता-
धिष्ठानभूतं अष्टाक्षरं विदुः ते सश्रीकमन्त्रोपासकाः समासते परिपूर्णमनोरथा
वर्तन्ते । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥ ९ ॥ सवितृमन्त्रज्ञाने वेदत्रयमुपयुज्यत
इत्यत आह—न ह वा इति । वेदत्रयनिर्वर्त्यप्रयोजनस्य पुरस्तादेव सिद्धत्वात् यः

सावित्रं वेद जानाति तस्य वेदत्रयसाध्यप्रयोजनं नह्यस्तीत्यर्थः । इतिशब्दः
सावित्रमन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥ १० ॥

यजुर्लक्ष्मीमन्त्रस्वरूपम्

ओं भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकण्ठी तन्नो महा-
लक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्य-
क्षरा भवति ॥ ११ ॥

गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किञ्च तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं
याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्नुते ॥ १२ ॥

तृतीयं यजुर्लक्ष्म्याख्यं अङ्गमन्त्रमाह—ओमिति । ओं भूर्भुवःसुवरिति
व्याहृतित्रयं त्रैलोक्यलक्ष्मीद्योतनार्थम् । कालो भगवान् कण्ठोपलक्षितहृदये यस्याः
सेयं कालकण्ठी तत् तस्मिन्नर्थे व्याहृतित्रयनिष्पन्ने त्रैलोक्यैश्वर्ये नोऽस्मान्
महालक्ष्मीः प्रचोदयात् । इतिशब्दो यजुर्लक्ष्मीमन्त्रसमाप्त्यर्थः । एषा प्रत्यक्ष-
तयोक्ता । वै प्रसिद्धा । यजुर्गायत्रीरूपिणी लक्ष्मीः चतुर्विंशत्यक्षरा भवति ॥ ११ ॥
गायकप्राणान् त्रायत इति गायत्री वै प्रसिद्धा इदं सर्वं, यदिदं किञ्च यत्कि-
चेदं सर्वं गायत्र्यात्मकम् । एतां सर्वरूपिणीं महालक्ष्मीं याजुषीं यो वेद स
महतीं श्रियं अश्नुते ॥ १२ ॥

नृसिंहगायत्रीमन्त्रस्वरूपम्

ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि । तन्नः सिंहः
प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति
य एवं वेद निदानवान् भवति ॥ १३ ॥

इदानीं नृसिंहगायत्रीरूपं चतुर्थमङ्गमाह—ओमिति । ये तस्मै नृसिंहाय
पुरुषसिंहाय इदं सर्वं नृसिंहार्थमिति । विद्महे विद्म जानीम वज्रसमानकठोरनखाय

वज्रसमनखस्य मद्दौर्भाग्यमत्तेभभेदनपटुत्वात् तस्मै उक्तविशेषणविशिष्टाय धीमहि मम तत्पदध्यानविशिष्टं मनस्तत्प्रवणमस्त्वित्यर्थः । तत् तत्र नृसिंहे पूजास्तुति-ध्यानादिना नः अस्मान् तद्भक्तान् सिंहः प्रचोदयात् । इति मन्त्रसमाप्तौ । यैषा ओमित्यारभ्य प्रचोदयात् इत्यन्ता वै प्रसिद्धा सेयं नृसिंहगायत्री ऋगादि-चतुर्वेदानां अग्नीन्द्रादिदेवानामपि निदानं कारणं भवति । एवं उक्तप्रकारेण यो वेद स विद्वान् निदानवान् भवति सर्वकारणभूतो भवति ॥ १३ ॥

ऋगन्त्रस्वरूपम्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—अथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति ^१तन्नो ब्रूहि भगवन्निति ॥ १४ ॥

स होवाच प्रजापतिः—ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः—१ । (यथा प्रथममन्त्रो-क्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ) ... यश्च विष्णुः ... २ । ... यश्च महेश्वरः ... ३ । ... यश्च पुरुषः ... ४ । ... यश्चेश्वरः ... ५ । ... या सरस्वती ... ६ । ... या श्रीः ... ७ । ... या गौरी ... ८ । ... या प्रकृतिः ... ९ । ... या विद्या ... १० । ... यश्चोकारः ... ११ । ... याश्चतस्रोऽर्धमात्राः ... १२ । ... ये वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासाः ... १३ । ... ये पञ्चाग्नयः ... १४ । ... याः सप्त महाव्याहृतयः ... १५ । ... ये चाष्टौ लोकपालाः ... १६ । ... ये चाष्टौ वसवः ... १७ । ... ये चैकादश रुद्राः ... १८ । ... ये च द्वादशादित्याः ... १९ । ...

^१ तन्नो—अ २, मु.

ये चाष्टौ प्रहाः ... २० । ... यानि च पञ्च महाभूतानि ... २१ । ...
 यश्च कालः ... २२ । ... यश्च मनुः ... २३ । ...
 यश्च मृत्युः ... २४ । ... यश्च यमः ... २५ । ...
 यश्चान्तकः ... २६ । ... यश्च प्राणः ... २७ । ...
 यश्च सूर्यः ... २८ । ... यश्च सोमः ... २९ । ...
 यश्च विराट् पुरुषः ... ३० । ... यश्च जीवः ... ३१ । ...
 यच्च सर्वम् ... ३२ । इति द्वात्रिंशत् । इति तान् प्रजापति-
 रब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुध्वम् ॥ १५ ॥

१ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तस्माद्य एतै-
 र्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं
 वेदेति महोपनिषत् ॥ १६ ॥

अङ्गमन्त्रान् सदेवान् श्रुत्वा अनुमन्त्रान् प्रत्यङ्गभूतान् द्वात्रिंशदक्षरजान्
 यथावद्विज्ञातुं देवाः पृच्छन्तीत्याह —देवा इति । देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्
 इत्यादि स्पष्टोऽर्थः ॥ १४ ॥ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मेत्यादि
 यश्च सर्वमित्यन्तमन्त्रान् पृच्छतः स्वशिष्यान् प्रति प्रजापतिः अब्रवीत् एतैर्मन्त्रैः
 नित्यं देवं स्तुध्वं यथाशक्ति स्तुतिं कुरुध्वम् ॥ १५ ॥ ततो भवद्विः
 कृतस्तोत्रात् देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति । यस्मादेवं तस्मात् य
 एतैर्मन्त्रैः नित्यं देवं स्तौति स देवं स्वात्मत्वेन पश्यति साक्षात्करोति । न
 केवलमेवं, किं तु देवावलोकनकृत् अमृतत्वं च गच्छति । इतिशब्दः
 चतुर्थोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १६ ॥

इति चतुर्थोपनिषत्

पञ्चमोपनिषत्

देवानां महाचक्रजिज्ञासा

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य
नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं
मोक्षद्वारं यद्योगिन ^१उपदिशन्ति ॥ १ ॥

किं छन्दः ? क ऋषिः ? इति प्रश्नोत्तरं कण्ठरवेण नोक्तम् । कान्यङ्गानि ?
कानि दैवतानि च ? इति प्रश्नोत्तरं प्रथमद्वितीयचतुर्थोपनिषत्सु सम्यगुक्तम् । किं
ध्यानं ? किं दैवतं ? इति मन्त्रराजपदतदर्थबीजशक्तिकथनेन प्रथमाद्युपनिषत्सूत्रं
दत्तम् । यद्यपि समाप्तश्चैव शास्त्रार्थः, तथाऽपि प्रधानाङ्गप्रत्यङ्गादिषु महाचक्रस्य
मुख्यत्वात् तस्य सामान्यतः प्रसिद्धत्वेऽपि विशेषतोऽप्रसिद्धत्वात् तदधिगमार्थं
फलज्ञानार्थं च पञ्चम्युपनिषदारभ्यते—देवा इति । देवा ह वा इत्यादि
व्याख्यातम् । महच्च तच्चक्रं चेति चतुर्विधपुरुषार्थसाधनं यत् तत् महाचक्रं
सर्वलोकप्रसिद्धितो नाम चक्रं, भवादृशां विशेषतः अस्माकं च सामान्यतः चक्रं
नृसिंहस्य योगचूडामणेः विशेषतो नाम नामधेयं महाचक्रं नो ब्रूहि भगव इति
व्याख्यातम् । सार्वकामिकं सर्वकामप्रदं मोक्षद्वारं विकलेवरकैवल्यप्रापकोपाय-
भूतं यद्योगिन उपदिशन्तीति ॥ १ ॥

षडरचक्रदर्शनम्

स होवाच प्रजापतिः—षडरं वा एतत् सुदर्शनं महाचक्रं
तस्मात् षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड्वा ऋतवः ऋतुभिः संमितं
भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिता मायया

^१ उपवि—अ, अ १.

एतत् सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया
बहिर्वेष्टितं भवति ॥ २ ॥

एवं देवैः पृष्ठः प्रजापतिराह—स हेति । देवैः महाचक्रयाथात्म्यं पृष्ठः
स होवाच प्रजापतिः । षट्संख्याकान्यराणि यस्मिन् तत् षडरं वै प्रसिद्धं
एतत् प्रत्यराक्षरं सहस्रारह्ण्डफडिति सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात् सुदर्शनं षडरं
भवति । न केवलं षडरं किं तु षट्पत्रं चक्रं भवति । षडरत्वे षट्पत्रत्वे
चोपपत्तिः—षड्वा ऋतवः ऋतुभिः संमितं भवति । षड्पत्राणां मध्ये नाभिः
छिद्रं, सनेमिं पत्रप्रतिष्ठा मूलस्य नाभित्वात् । नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिताः
प्रतिष्ठानं प्राप्ताः तुर्यया मायया एतत् सारनाभिपत्राक्षरं सुदर्शनं वेष्टितं भवति ।
मायाप्रस्तं सुदर्शनं इत्यत आह—नात्मानमिति । यत एवं अतो मायया
बहिर्वेष्टितं भवति ॥ २ ॥

अष्टारचक्रदर्शनम्

अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या
संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा
संपद्यते ॥ ३ ॥

प्रथमचक्रं व्याख्यातम् । अथ प्रथमचक्रप्रदर्शनानन्तरं अष्टारं अष्टपत्रं
चक्रं भवति । तत्रोपपत्तिः—अष्टाक्षरा वै प्रसिद्धा गायत्री छन्दोविशेषः
गायत्र्या एकैकपादस्य अष्टाक्षरसंमितत्वात् बहिर्मायया वेष्टितं भवति ।
मायाविन्यासस्थलमाह—क्षेत्रमिति । क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा संपद्यते प्रतिक्षेत्रं
मायाबीजवेष्टितं भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

द्वादशारचक्रदर्शनम्

अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै जगती
जगत्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥ ४ ॥

अथ द्वादशशरं द्वादशपत्रं चक्रं भवति । तत्रोपपत्तिः—द्वादशाक्षरा वै प्रसिद्धा जगती जगदभिन्ना छन्दोविशेषरूपिणी तथा जगत्या संमितं संयुक्तं भवति पूर्ववत् बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥ ४ ॥

षोडशशरचक्रदर्शनम्

अथ षोडशशरं षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडशकलो वै पुरुषः
पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण संमितं भवति मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥ ५ ॥

अथ षोडशशरं षोडशपत्रं चक्रं भवति । तत्रोपपत्तिः—प्राणादिनामान्त-
षोडशकला यस्य स षोडशकलो वै प्रसिद्धः पुरुषः स्वेन रूपेण सर्वत्र पूरणात्
पुरुष एवेदं सर्वं इति पुरुषेण संमितं भवति । तथा मायया बहिर्वेष्टितं
भवति ॥ ५ ॥

द्वात्रिंशदशरचक्रदर्शनम्

अथ द्वात्रिंशदशरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति द्वात्रिंशदक्षरा वा
अनुष्टुम्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥ ६ ॥

अथ द्वात्रिंशदशरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति । तत्रेयमुपपत्तिः—
द्वात्रिंशदक्षरा वै प्रसिद्धा अनुष्टुप्छन्दोरूपिणी भवति । अनुष्टुभा छन्दो-
रूपिण्या सर्वमिदं संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥ ६ ॥

अवयवदर्शनम्

अरैर्वा एतत् सुबद्धं भवति वेदा वा एते अराः पत्रैर्वा एतत्
सर्वतः परिक्रामति छन्दांसि वै पत्राणि ॥ ७ ॥

अवयविदृष्टिमुक्त्वा अवयवदृष्टिमाह—अरैरिति । अरैः वै प्रसिद्धैः एतत्
अवयविचक्ररूपं सुबद्धं भवति वेदैः जगदिव यतस्ततो वेदाः ऋगाद्या वै

प्रसिद्धाः एते चक्रस्य बन्धहेतवः अराः । पत्रैस्त्रैर्वै प्रसिद्धैः अवयवचक्ररूपं
सर्वतः परिक्रामति छन्दोभिरिव वेदात्माऽऽदित्यः । गायत्र्यादीनि छन्दांसि वै
प्रसिद्धानि पत्राणि भ्रमणकारणानि ॥ ७ ॥

महाचक्रदर्शनम्

एतत् सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं
नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवति षट्सु पत्रेषु त्रिसंक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु
पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं
भवति षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सविन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति
द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्तराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति
तद्वा एतत् सुदर्शनं नाम चक्रं महाचक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृड्मयं
यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति तस्य पुरस्ताद्वसव आसते
रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद्विश्वेदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा
नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः ॥ ८ ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तं—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

इति ॥ ९ ॥

यन्मयोक्तं तदेतत् सुदर्शनं महाचक्रं तस्योक्तस्य महाचक्रस्य मध्ये
नाभ्यां मध्यकर्णिकायां यदक्षरं नारसिंहं स्वातिरिक्तभ्रमसंतारणात् तत्तारकं
प्रणवस्वरूपं भवति नरसिंहदेवताकमेकाक्षरम् । षट्सु पत्रेषु सहस्रारहं फट्
स्वाहेति षडक्षरं सुदर्शनं भवति । तथा अष्टसु पत्रेषु ॐ नमो नारायणाय

इत्यष्टाक्षरं नारायणं भवति । तथा द्वादशसु पत्रेषु ७ नमो भगवते वासुदेवाय इति द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति । तथा षोडशसु पत्रेषु अकाराद्या मातृका बिन्दुसहितः सविन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति । तथा द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु उग्रं वीरमत्यादि द्वात्रिंशदक्षरं महाराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति । स्पष्टार्थमन्यदुक्तार्थं च । ब्रह्ममयं इत्यत्र ब्रह्मशब्देन अथर्ववेद उच्यते ऋग्यजुस्सामानन्तर्यात् । अमृतमयं सर्वोपनिषन्मयं सत्यादिलक्षणब्रह्ममयं वा, सर्वत्र मयटो विकारार्थत्वात् तादात्म्यं लक्ष्यते । तस्य चक्रराजस्य पुरस्ताद्ब्रह्म आसत् इत्यादि—स्पष्टीऽर्थः ॥ तत् तस्मिन् महाचक्रे सर्ववेदेदेवात्मके योऽर्थोऽभिहितः तदेतदर्थजातं ऋचा मन्त्रेण अभ्युक्तं—ऋच इति । अधिनाशिनि अक्षरे महाचक्रे अनेकाक्षराधारे । यः तत् परमाक्षरं नारसिंहं न वेदेत्याद्युक्तार्थम् ॥ ९ ॥

महाचक्रवेदनमहिमा

तदेतत् सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभाऽर्चनं कुर्यात्तदेतद्राक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्वा दद्यात् सा दक्षिणा भवति ॥ १० ॥

तदेतत् सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महाचक्रशरीरो वृसिंहो भवति । स महाचक्रवित् सर्वमन्त्राणामुपदेष्टा गुरुः भवति । मन्त्रराजज्ञाने संशयादिपञ्चदोषनिरसनार्थं जपहोमो कर्तव्यावित्याह—अनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभाऽर्चनं कुर्यादिति स्पष्टम् । तत् परोक्षप्रभावं एतत् षडक्षरादिविशेषयुक्तं राक्षोघ्नं तत्कृतोपद्रवनिवारकं मृत्युतारकं मृत्युनिवारकं सुवर्णादिफलकायां विलिख्य यथावत् प्राणप्रतिष्ठाऽऽदिकं कृत्वा गुरुणा लब्धं दत्तं कण्ठे

बाहौ शिखायां वा बभ्रीत बन्धनं कुर्वीत । इदानीमस्य चक्रस्य दातुर्दक्षिणेयत्तां वारयति—सप्तद्वीपवती भूमिः दक्षिणार्थं नावकल्पत इति । यस्मान्नास्ति निष्क्रियः तस्मात् यां काञ्चित् गां अन्यद्वा श्रद्धया दद्यात् सा दक्षिणा भवति ॥ १० ॥

मन्त्रराजाध्ययनफलम्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—~~सि~~नुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति ॥ ११ ॥

स होवाच प्रजापतिः य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति ॥ १२ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मृत्युं जयति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति ॥ १३ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान् देवान् स्तम्भयति स सर्वान् ग्रहान् स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥ १४ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स देवाना-
कर्षयति स यक्षानाकर्षयति स नागानाकर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स
मनुष्यानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति ॥ १५ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूर्लोकं
जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति
स जनोलोकं जयति स भूपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स
सर्वलोकं जयति स सर्वलोकं जयति ॥ १६ ॥

य एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स
उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण
यजते सोऽस्योर्यामेण यजते सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते
स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥ १७ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते
स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स
शाखा अधीते स पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गायामधीते
स नाराशंसीरधीते स प्रणवमधीते यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते
स सर्वमधीते ॥ १८ ॥

इदानीं विज्ञातमन्त्रसर्वस्वा देवाः मन्त्रराजज्ञानसामान्यविशेषफलबुभुत्सया
प्रजापतिं पृच्छन्तीत्याह—देवा इति ॥ ११ ॥ देवैः स होवाच । किमिति ?
नारसिंहमन्त्रराजाध्यापकस्य तदर्थं नृसिंहभावापत्त्या अयं निरावृताग्निवाय्वादित्य-
सत्यब्रह्मविष्णुरुद्रादिवत् नित्यपूतो भवति । तद्भावापत्त्या अपूतदेहादावात्मात्मीया-
भिमानवैकल्यान्त्रियपूतत्वं सिद्धमेवेत्यर्थः । अभ्यास आदराथोऽवधारणार्थो

वा ॥ १२ ॥ किंच—य इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १३ ॥ नृसिंहभावमापन्नो मन्त्री
 स्वातिरेकेण नह्यभ्यादीन् पश्यति । यद्येवं पश्यद्विनोदं कर्तुमिच्छति तदा अभ्यादीन्
 लीलया स्तम्भयेदेवेत्यर्थः ॥ १४ ॥ किंच—य इति । यदिच्छेन्मन्त्रराजो-
 पासकस्तदा दूरस्थान् देवादीन् स्वसमीपं आकर्षयत्येवेत्यर्थः ॥ १५ ॥ सर्व-
 लोकात्मके नृसिंहे साक्षात्कृते उपासकेन सर्वे लोका जिता एवेत्यर्थः ॥ १६ ॥
 साक्षात्कृतसर्वक्रतुफलनारसिंहेन सर्वे क्रतवः कृता एवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ साक्षात्कृत-
 वेदार्थपरमाद्वैतनारसिंहेन ऋगादिसर्वा विद्या ब्रह्मप्रणवान्ता अधीता एव ।
 अथर्वाङ्गिरोभिः दृष्टा अथर्वाङ्गिरसः अर्धवेदपर्यायाः । “तदैक्षत,”
 “तत्तेजोऽसृजत” इत्यादीनि पुराणानि । अतीतार्थाभिधायिनः कल्पाः “शौनको
 ह वै महाशालः” इत्यादयः । प्रवृत्तिविषयकशाकल्यादिसंवादरूपाः गाथाः ।
 नारं अविद्यापदतत्कार्यं तदियत्ताप्रकाशका नाराशंस्यः “पुरुषान्न परं किञ्चित्,”
 “नेह नानाऽस्ति किंचन” इत्यादयः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १८ ॥

मन्त्रराजजापकस्य सर्वोत्कृष्टत्वम्

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपनीतशतमेकमेकेन
 गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थ-
 शतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन
 रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनार्थर्वशिरःशिखाऽध्यापकेन
 तत्सममथर्वशिरःशिखाध्यापकशतमेकमेकेन तापनीयोपनिषदध्यापकेन
 तत्समं तापनीयोपनिषदध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन
 तत्समम् ॥ १९ ॥

विश्वगततारतम्यं मन्त्रराजजापके विश्राम्यतीत्याह—अनुपनीतशतमि-
 त्यादि । यो गायत्र्युपदेशसंस्कारशून्यः सोऽनुपनीतः तथाविधानां शतं अनुपनीत-
 शतं एकेन एकसंख्याऽऽक्रान्तोऽयमुपनीतः अनुपनीतशतं एकेनोपनीतेन समं

तुल्यमित्यर्थः । शिष्टं एवं ज्ञातव्यम् । गृहस्थो द्विजन्मा यथावहारादिपरिग्रही
नित्यादिकर्मकृत् भवति । सदारोऽदारो वा वनी । यथोक्ततुर्याश्रमानुष्ठाना यतिः
ज्ञानगन्धविकल इत्यर्थः । अन्यथा एकेनापि यतिना को वा समः स्यात् ।
शतरुद्रीयपारायणो रुद्रजापकः । उग्रमित्याद्येकादशपदात्मकोऽयं मन्त्रराजः
तज्जापकः तदर्थपर्यवसन्नः ॥ १९ ॥

मन्त्रराजजापकस्य ब्रह्ममात्रपर्यवसानम्

तद्वा एतत् परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न
सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति
यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न
मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं
सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते
योगिनः ॥ २० ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तं—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥

तदेतन्निष्कामस्य भवति तदेतन्निष्कामस्य भवति य एवं

वेदेति महोपनिषत् ॥ २१ ॥

तस्यैवं सर्वोत्कर्षतामभिधाय ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नतामाह—तद्वेति । यत्र
यत्प्रकाशजडीभूताः सूर्यादयो दिवा खद्योतवत् न भान्ति, यत्पदं विमृत्यु
विदुःखं, यत्पदं गत्वा कोऽपि न निवर्तते “न च पुनरावर्तते” “यद्गत्वा न

निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम”, इति श्रुतेः स्मृतेश्च, यत् परं पदं ब्रह्मादिभिरपि आत्मत्वेन बन्दितां, यत् स्वावशेषतया परमयोगिध्येयं, यत् स्वातिरिक्तशान्तपदं, यत् सदाशिवपरमानन्दस्वरूपं सदा अवशिष्यते, मन्त्रराजाध्यापकस्य तद्वा एतत् परमं धाम विकळेवरकैवल्यमित्यर्थः ॥ २० ॥ यन्मयोक्तं तदेवर्चा मन्त्रेणाभ्युक्तमित्याह—तदेतद्दृचाऽभ्युक्तमिति । निष्प्रतियोगिकसच्चिदानन्दमात्रतया यदवशिष्यते तदेतत् विष्णोः व्याप्यसापेक्षव्यापनशीलस्येति षष्ठी “राहोः शिरः” इतिवत् ज्ञेया, परमार्थदृष्ट्या व्याप्यव्यापककलनाविरळं तद्विष्णोः परमं पदं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया अवगन्तव्यं स्वातिरिक्तास्तितान्त्रान्तिसूदनाः सूरयः विष्णुपदं सदा पश्यन्ति स्वमात्रतया साक्षात्कुर्वन्ति । परिच्छेदप्रसक्तौ दिवीव चक्षुराततं दिवि स्वप्रकाशचिदात्मनि चक्षुरिव आततम् । इवशब्दः आधाराधेयकलनानिरसनार्थः । सूरयः कीदृशाः ? इत्यत्र विप्रासः विप्राः विपन्यवो विमन्यवः अक्रोधा इत्यर्थः । जागृवांसः स्वाज्ञानविरळाः समिन्धते सम्यक् दीपयन्ति अस्मदादीन् प्रकथयन्तीत्यर्थः । तच्छब्दार्थमाह—विष्णोरिति । “तद्विष्णोः परमं पदं” इत्यादिना यदुक्तं तदर्थस्तु निष्कामस्य भवति । आवृत्तिरादरार्था ॥ २१ ॥

इति पञ्चमोपनिषत्

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

तापनीयोपनिषदो व्याख्येह लिखिता मया ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तविंशतिसंख्यापूरकं

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

उत्तरतापिनी

प्रथमः खण्डः

देवानां निर्विशेषब्रह्मजिज्ञासा

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्—अणोरणीयांसमिममात्मान-
मोकारं नो व्याचक्ष्वेति ॥ १ ॥

नृसिंहोत्तरतापिन्यां तुर्यतुर्यात्मकं महः ।

परमाद्वैतसाम्राज्यं यत् स्यात्तन्मे परा गतिः ॥

मन्तराजमहाचक्रोपासनया देवाः विशुद्धान्तरा भूत्वा जाग्रजाग्रदादि-
चतुष्पञ्चदशकलनाऽपह्ववसिद्धं निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यं साक्षात्कर्तुमिच्छन्तः सन्तः
स्वकीयमादिगुरं प्रजापतिं तुर्यतुर्यविषयकं प्रश्नं कृतवन्त इत्याह श्रुतिः । अनया
आख्यायिकया विशुद्धान्तरमुनीनामेव निर्विशेषब्रह्मावगतिः नान्यथेति द्योत्यते ।
देवा ह वा इति । देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् इत्युक्तार्थम् । किं तत् ? अणोः
बौद्धप्रत्ययादपि अणीयांसं इमं प्रत्यञ्चं आत्मानं ओङ्कारार्थं तुर्यतुरीयं नोऽस्मभ्यं
व्याचक्ष्व कथयस्व इति ॥ १ ॥

ब्रह्मात्मैक्योपदेशः

तथेत्योमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भ-
विष्यदिति सर्वमोकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योकार एव सर्वं
ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ॥ २ ॥

देवैः पृष्ठः प्रजापतिः तथेति तत्कृतप्रश्नमुररीकृत्य भगवान् प्रजापतिराह ।
किमिति ? पूर्वतापिन्यां यदुक्तं ओमित्येतदक्षरमित्यादि तत्राभिधानाभिधेययोरैक्य-

^१ प्रत्यक्षमुपलभ्यते—अ २.

स्यादृष्टचरत्वादिति यथा भवद्विः पृष्ठं तत्तथैवेत्युक्तिः तेषां प्रश्नाङ्गीकारार्था । अभिधानाभिधेययोः एकत्वं यथा भवति तथा प्रतिपादयामीति प्रतिज्ञां करोति— तथेति । स्वात्मप्रदानेन स्वोपासकमवति ओमिति अक्षरानुकरणार्थः । एतदुक्त-
मक्षरं अभिधानात्मकं विविधप्रत्ययगम्यं इदं सर्वं विकारात्मकं जगत् वाचाऽऽरं-
भणमात्रं, न हि तद्वस्तुपदं भजतीत्यर्थः । तस्य ओङ्कारस्य उपन्याख्यानमित्यादि
अयमात्माब्रह्मोत्यन्तमुक्तार्थम् ॥ २ ॥

ब्रह्मात्मैक्यावगमोपायोः
ब्रह्म

तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म ^१चात्मनोमित्ये-
कीकृत्य तदेकमजरममृतमभयमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीर-
मारोप्य तन्मयं हि तदेवेति संहरेदोमिति ॥ ३ ॥

तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसंदध्यात्
स्थूलत्वात् स्थूलमुक्तवाच्च सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्ममुक्तवाच्चैक्यादानन्द-
भोगाच्च ॥ ४ ॥

जगत्कारणं ब्रह्म, नात्मा, तस्य ब्रह्मणोऽन्यत्वेन कारणत्वाप्रतीतेः, तथा
अपरोक्षात्माऽपि ब्रह्मणोऽन्यः, ब्रह्मणः परोक्षत्वात्, इत्याशंकायां ब्रह्मात्मनोरेकत्वं
सोपायमाह—तमिति । तं अन्तःकरणावभासकं प्रत्यञ्च एतं चक्षुरादेरपि
प्रवृत्तिनिमित्ततया चक्षुरादिरूपं आत्मानं ओमिति अनेनाक्षरेण ब्रह्मणा एकीकृत्य
सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म चात्मना प्रतीचा ओमित्येकीकृत्य प्रत्यक्परयोरैकतां
विधाय यत्प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यं तदेकमजरं जरादिषड्भूमिवैरळ्यात् अमृतं षड्भाव-
विकाराभावात् अभयं भीहेतुद्वैताभावात् ओमिति ओङ्काराद्यवयवसंजाततत्त्व-
मस्यहंब्रह्मास्मीतिमहावाक्यार्थानुसन्धानतः प्रत्यक्परचितोरैक्यं अनुभूय तस्मिन्
ओङ्कारार्थे प्रत्यग्भिन्नपरमात्मनि इदं उपलभ्यमानं त्रित्वाक्रान्तं सत्त्वादि-

^१ चात्मानमोमि—६, अ २, क.

त्रिगुणं जाग्रदाद्यवस्थात्रयं स्थूलादिशरीरत्रयं आध्यात्मिकादितापत्रयं विश्वादि-
जीवत्रयं विराडादीश्वरत्रयं ओत्रादिव्यष्टिसमष्ट्यैक्योपाधिकचैतन्यत्रयं वा शरीरं
यस्य तत् त्रिशरीरमारोप्य यद्यत् यस्मिन्नध्यस्तं तत्तत् तन्मयं तद्विकारत्वात्,
यथा रज्जुसर्पादिः रज्ज्वादिविकारः न हि रज्जुव्यतिरेकेणास्ति तथा ओङ्कारार्थ-
प्रत्यगभिन्नब्रह्माध्यस्तं तद्विकारत्वेन न हि तद्भ्यतिरेकेण निरूपयितुं शक्यमित्याह—
तदेवेति । यत एवं अतः स्वारोपितत्रिशरीरं संहरेत् त्रिशरीरं नेत्यनुसंधानं
कुर्यात् । संहारप्रकारमाह—ओमिति । व्यष्टिसमष्ट्योङ्कारार्थप्रत्यक्परैक्यरूपं
वास्तवं रज्जुस्थानीयत्वात्, अदध्यस्तं त्रिशरीरं अवास्तवं सर्पस्थानीयत्वात्
॥ ३ ॥ एवं सूत्रार्थभूतस्य वृत्तिरारभ्यते—तमिति । तं वै ब्रह्मस्वरूपमेव
एतं स्वातिरिक्तान्तःकरणधर्मानात्मनि मन्यमानं स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराण्यस्येति स
त्रिशरीरः तं आत्मानं त्रित्वादिसंख्याविशिष्टं त्रिशरीरं तदपवादाधिकारणत्वेन
परं निरतिशयं स्वारोपितातिशयस्य प्रलयं गतत्वात् तदेव त्रिविधपरिच्छेदशून्यं
ब्रह्मेत्यनुसंदध्यात् इदमहमस्मीति प्रत्ययावृत्तिं कुर्यात् आ साक्षात्कारमित्यर्थः ।
तत्रोपपत्तिः—स्थूलत्वात् । यथा व्यष्टिस्थूलशरीराभिमानी स्थूलः तथा
समष्ट्यभिमानी विराद् तस्मात् स्थूलत्वात् । एवं व्यष्टिसमष्टिस्थूलशरीराभिमानी-
विश्वविराजोरैक्यं ओतृत्वम् । न केवलं ओतृत्वं, किंत्विदमपीत्याह—स्थूल-
भुक्त्वाच्चेति । व्यष्टिसमष्टिचक्षुरादिप्राद्यरूपादिभोग्यजातं स्थूलं, तद्भोक्तारौ
स्थूलभुजौ, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात् स्थूलभुक्त्वात् । तथा व्यष्टिसमष्टिस्वप्न-
स्वापाभिमानीनोरेकत्वं समानमित्याह—सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्द-
भोगाच्च । यथा विश्वविराजोरैक्यं ओतृत्वं तथा तेजससूत्रयोरैक्यं अनुज्ञातृत्वं,
प्राज्ञेश्वरयोरैक्यं अनुज्ञैकसत्त्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

ब्रह्मात्मनः चतुष्पात्त्वम्

सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ५ ॥

विश्वविराडोत्रादीनां पृथक्पृथक्चतुरात्मत्वप्रपञ्चनोपायतस्तुर्यतुर्यं निरूप-
यति—सोऽयमिति । अयमात्मा ब्रह्मेति यस्तुर्यतुर्यः परमात्मा प्रपञ्चितः

सोऽयमात्मा चतुष्पात् व्यष्टिसमष्ट्यात्मकस्वातिरिक्ताविद्यापदस्थूलसूक्ष्माद्यंश-
चतुष्टयारोपापवादाधिकरणविश्वविराडोत्राद्यात्मना चत्वारः पादाः अस्येति
चतुष्पात् ॥ ५ ॥

विश्वस्य चतुरात्मत्वम्

जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल-
मुक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ६ ॥

तत्राद्यं पादमवतारयति—जागरितेति । चक्षुरादीन्द्रियैः स्थूलरूपादिग्रहणं
जागरणं स्थानं अस्येति जागरितस्थानः स्थूलरूपादौ प्रज्ञा यस्येति स्थूलप्रज्ञः ।
सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलमुक् इति व्याख्यातम् । एकैकस्यामवस्थायां
स्वाविद्यापदस्थूलांशप्रविभक्तव्यष्ट्यादिस्थूलसूक्ष्मबीजार्धमात्रांशानुयोगतो विश्वविश्व-
विश्वतैजसविश्वप्राज्ञविश्वतुर्यभेदेन आत्मानो यस्य स चतुरात्मा विश्वः ॥

तस्य चातुर्विध्यं प्रकटयितुं जाग्रदाद्यवस्थायाश्चातुर्विध्यमुच्यते । तद्यथा—
जाग्रदवस्थायां यदा प्रमाता स्मरणादिव्यापृतिविरलो भूत्वा केवलचक्षुरादीन्द्रिय-
द्वारा रूपादिविषयाननुभवति तदा जागरणे जागरणम्, तदभिमानी विश्वप्रवि-
भक्तविश्वो भवति, तत्समष्ट्यभिमानी विराट्प्रविभक्तविराट् भवति, व्यष्टिसमष्ट्यै-
क्याभिमानी ओत्रोता भवतीति सर्वत्र एवमेवोह्यम् । यदा चक्षुरादिनैरपेक्षयेण
मनसैव विषयान् गृह्णाति तदा जागरणस्वप्नः, तदभिमानी विश्वप्रविभक्ततैजसो
भवति, तदा नेत्रादिव्यापृतिसत्त्वासत्त्वाभ्यां निर्व्यापृतिर्निद्रातः । चक्षुरादिना
मनसा वा रूपादिना [वा] आत्मानं वा न प्रतिपद्यते केवलमचेतन इव तिष्ठति
तदा जागरणप्रविभक्तोऽयं स्वापः, तदभिमान्यात्मा विश्वप्रविभक्तप्राज्ञ उच्यते ।
यदा स्वाचार्योपदेशात् पुण्यपरिपाकद्वारा विशेषसामान्यमलभमानः समाध्यारूढ
इव जागरणजागरणादिकलनाभावाभावप्रकाशकः साक्ष्यहमस्मीति भासते तदा
जाग्रत्प्रविभक्ततुर्यावस्थोच्यते । तदभिमानी विश्वप्रविभक्ततुरीयो भवति ॥

यथा स्थूलमुक् चतुरात्मा विश्वस्तथा वैश्वानरः ओता चेति ।
वक्ष्यमाणतैजसाद्यपेक्षया प्राथम्यात् प्रथमः पादः ॥ ६ ॥

तैजसस्य चतुरात्मत्वम्

स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्ममुक्
चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः ॥ ७ ॥

द्वितीयं पादमवतार्य व्याकरोति—स्वप्नस्थान इति । स्वप्नस्थान इत्यादि सूक्ष्मभुगित्यन्तं व्याख्यातम् । तैजससूत्रानुज्ञातृणां चातुर्विध्यप्रकटनाय स्वप्नावस्थाया अपि चातुर्विध्यमुच्यते ॥

जागरणस्य शरीरेन्द्रियविषयसत्त्वात् चातुर्विध्यमुक्तं, स्वप्नावस्थायास्तद-भावात् कथं चातुर्विध्यसिद्धिः ? इति चेत्—न, स्वप्नावस्थायां वासनारूपेण देहेन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात् चातुर्विध्यसिद्धिर्युज्यते ॥

चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भ इत्यत्र तैजसादेः चातुर्विध्यस्फुरणाय स्वप्नावस्थायाश्चातुर्विध्यमुच्यते । तत् कथम् ?—यदा स्वप्ने मानसव्यापारं विना स्वामिकचक्षुरादिना रूपादिविशेषजातमनुभवति तदा स्वप्नजागरणं, तदभिमानी तैजसप्रविभक्तविश्वो भवति, तत्समष्टिस्वप्नजागरणाभिमानी सूत्रविराट्, तद्व्यष्टि-समष्ट्यैक्याभिमानी तु अनुज्ञातृप्रविभक्तोतेति प्रतिपादमेवं ऊह्यम् । यदा स्वप्नावस्थायां स्वप्नजाग्रत्कलनां विहाय स्वामिकचक्षुरादिव्यापारं विना केवलमनसैव विषयाननुभवति तदा स्वप्नस्वप्नः, तदभिमानी तैजसप्रविभक्ततैजसो भवति । यदा स्वप्नावस्थाप्रविभक्तजाग्रत्स्वप्नकलनां विहाय स्वामिकचक्षुरादिना मनसा वा सामान्यविशेषजातमगृहीत्वा बाह्यरूपादीनात्मानं च विस्मृत्य केवलस्तब्धतयैवावस्थितिः तदा स्वप्नप्रविभक्तसुषुप्तिः, तदभिमानी तैजसप्रविभक्तप्राज्ञो भवति । यदा स्वकृतपुण्यपरिपाकतः स्वप्नप्रविभक्तजाग्रत्स्वप्नस्वापकलनां विहाय स्वान्त-र्बाह्यचित्तकल्पिताशेषविशेषकलनाभावाभावप्रकाशकस्वप्नतुर्यतया अवस्थितिः तदा स्वप्नतुर्यावस्था, तदभिमानी तैजसतुरीयो भवति ॥

यथैव तैजसश्चतुरात्मा तथा हिरण्यगर्भोऽनुज्ञाता च चतुरात्मा भवति । इति द्वितीयः पादो व्याख्यातः ॥ ७ ॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति
तत्सुषुप्तं सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्
चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ॥ ८ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य
प्रभवान्ययौ हि भूतानाम् ॥ ९ ॥

तृतीयं पादमवतार्य व्याकरोति---यत्रेति । यत्र सुप्त इत्यादि चेतोमुख
इत्यन्तं व्याख्यातम् । चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरः इत्यत्र प्राज्ञबीजानुज्ञैकरसानां
चातुर्विध्यप्रकटनाय स्वापावस्थाया अपि चातुर्विध्यमुच्यते ॥

जाग्रत्स्वप्रयोः व्यावहारिकप्रातिभासिककलानानिर्वाहकत्वेन तत्र चातुर्विध्य-
मुपपद्यते । कथं करणग्रामोपरतिलक्षणस्वापस्य जाग्रदादिविभागानर्हत्वात्
चातुर्विध्यसिद्धिः ? इति चेत्--- न, स्वापे करणग्रामस्योपरमेऽपि साक्ष्यनुभवस्य
नित्यत्वात् सुप्तेरुत्थितस्यैतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चनावेदिषं इति
परामर्शो दृश्यते---सुषुप्तावपि जाग्रत्स्वप्रनिर्वाहकस्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियविषयाणां
बीजरूपेण विद्यमानत्वात्, तदानीमभानेऽपि ततो निर्गमनप्रथमक्षणे जाग्रत्स्व-
प्रान्यतरस्थानस्य उपलभ्यमानत्वात्, सुषुप्तावपि चातुर्विध्यसिद्धिरविरुद्धा ॥

सुषुप्त्यवस्थायां यदा जाग्रत्स्वप्रयोः अन्यतरस्थानस्थः पुमान् जागरणात्
स्वप्नाद्वा सुषुप्तस्थानं जिगमिषुः स्वनेत्रादिना रूपाद्यज्ञानमनुभवति तदेयं सुप्तिप्रवि-
भक्तजाग्रदुच्यते, तद्व्यष्टयभिमानी प्राज्ञप्रविभक्तविश्वः, तत्समष्टयभिमानी बीजात्म-
प्रविभक्तविराट्, तदुभयैक्याभिमानी अनुज्ञैकरसोतेत्यादि सर्वत्रैवमूहम् । तत्रैव
यदोपरतबाह्यरूपाद्यज्ञानः पुमान् जाग्रत्स्वप्रयोः अन्यतरस्थानमवलम्ब्य मनसैव
रूपाद्यज्ञानमनुभवति तदा स्वापस्वप्नः, तदभिमान्यात्मा प्राज्ञप्रविभक्ततैजसो भवति ।
तत्रैव यदा स्वचैतन्यव्याप्ताभिः अज्ञानवृत्तिभिरेव अज्ञानमनुभवन्नपि स्तब्ध इव
नानुभवति तदा स्वापप्रविभक्तस्वापः, तदभिमान्यात्मा प्राज्ञप्रविभक्तप्राज्ञ उच्यते ।

तत्रैव यदा स्वापप्रविभक्तजाग्रत्स्वप्नस्वापभावाभावविज्ञातुप्रत्यगानन्दोऽस्मीत्यात्मानं
मनुभवति तदा स्वापतुरीयावस्था, तदभिमान्यात्मा प्राज्ञप्रविभक्ततुर्य उच्यते ॥

एवं विश्वविराडोत्रादिचातुर्विध्यहेतुजाग्रत्स्वप्नस्वापप्रविभक्तजाग्रदाद्यवस्था-
चतुष्टयं अविद्वद्भिरपि पदे पदे अनुभूयते । अत्राविद्वदपेक्षया विदुषो विशेषः
उच्यते । ब्रह्मवित् तद्वरो वरीयान् वा—सच्चिदानन्दावरणजडक्रियाज्ञानेच्छा-
शक्तिपरिणामिनां जाग्रदादिप्रविभक्तजाग्रदादीनां मिथो व्यभिचारित्वादिबहुदोष-
दुष्टत्वं तदारोपापवादाधिकरणतया तद्भावाभावप्रकाशकतया च विद्यमानतुर्यस्य
स्वविकल्पितजाग्रदादिविकारास्पृष्टत्वं श्रुत्याचार्यमुखतो विदितं अवधृतं पुरैव, यतः
स्वविकल्पितजाग्रदादिप्रविभक्तजाग्रदादौ आत्मात्मीयाभिमानतो निरावरणप्रत्यक्-
प्रकाशाभिन्नपरप्रकाशोऽपि तुरीयो न प्रकाशते अतो जाग्रत्प्रविभक्तजागरणादिकं
विमलतरनभसि मुमूर्षावस्थाचित्तविकल्पितनानारत्नखचितकनकमयपक्षिपन्नगरथ-
गजतुरगनानाजातिमनुष्यतत्तदुचितनिवासस्थलप्राकारहर्म्यगृहारामालयगोपुरादि-
जुष्टगन्धर्वनगरवत् मायामात्रं, तत्कल्पनाऽधिकरणं यत्तदेव सत्यं, तदेवाह-
मस्मीत्यनवरतानुसन्धानतो ब्रह्मविदादिर्भवति । प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ॥ ८ ॥
तृतीयपादारोपाधारं प्राज्ञादिं स्तौति—एष इति । । उक्तार्थमेतत् ॥ ९ ॥

अवस्थात्रयस्य मायामात्रत्वम्

त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्यय-

मात्मा ॥ १० ॥

तुर्यविकल्पितावस्थात्रयतत्कार्यस्य मायामात्रत्वं तदधिकरणतुर्यस्य चिदेकर-
सत्त्वं चाह—त्रयमिति । अष्टिसमष्ट्यात्मकजाग्रदाद्यवस्थात्रयमपि एवं
त्रिसंख्याऽऽक्रान्तमेकैकमनेकभेदभिन्नं एतत् सुषुप्तमुक्तं, तस्यानात्मापह्ववसिद्धात्म-
मात्रावरणरूपत्वात् । यत एवं अतः एतत्त्रयमपि सुषुप्तम् । एतत्त्रयस्याप्यात्मा-
वरणांशे सुषुप्तिसाम्यमस्तु, तत्रात्मात्मीयप्रतीतिः कथमित्यत्राह—स्वप्नं माया-
मात्रमिति । स्वावृतिरूपावस्थात्रयतत्कार्येऽपि स्वात्मात्मीयाभिमतविकारजातं

स्वप्नं स्वप्नतुल्यं प्रातिभासिकमित्यर्थः, तत्प्रतीतिकालमात्रस्थायित्वात् । विचार्यमाणे अवस्थात्रयतत्कार्यजातं तत्रात्मात्मीयाभिमतिमोहो वा एतत्सर्वं मायामात्रं परमार्थतः शशविषाणवदवस्तुत्वात् । यः स्वावराणात्मकावस्थात्रयतत्कार्यापह्वव-सिद्धोऽयमात्मा सः चिदेकरसः चिन्मात्रत्वात् ॥ १० ॥

तुरीयस्य चतुरात्मत्वम्

अथ तुरीयश्चतुरात्मा तुरीयावसितलूदेकैकन्योतानुज्ञाननुज्ञा-
विकल्पैस्त्रयमप्यत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो हि ॥ ११ ॥

तस्यैव स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तपादत्रयापेक्षया स्वज्ञदृष्ट्या तुरीयत्वं चतुरात्मत्वं, वस्तुतः सर्वग्रासतुर्यतुर्यत्वं चाह—अथेति । अथ अवस्थात्रयप्रपञ्चानानन्तरं यद्विदुषोऽविदुषश्च साधारणं इत्युक्तम् । अत्र तु तुर्यप्रपञ्चे विदुष एवाधिकारो नाविदुषः । यत्स्वरूपमविद्वज्जातं न स्पृशति सोऽयं तुरीयः चतुरात्मा । व्यष्टिसमष्टिविभागानर्हतुर्यतुरीयेण साकं चतुरात्मत्वं, न स्वतः, तुर्यस्य त्र्यात्मकत्वात् ॥

त्र्यात्मकत्वमपि तुर्यस्य न संभवति । कुतः ? जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु शरीरेन्द्रियेन्द्रियार्थजातं व्यक्ताव्यक्तबीजरूपेण वर्तत इति जाग्रदादेः चातुर्विध्य-मुक्तम् । अविकल्पतुर्यावस्थाया निर्बीजात्मकत्वात् कथं त्रैविध्यमुच्यते ? यद्युच्येत तदा तुर्यश्चतुरात्मेति यथाश्रुतमेव चातुर्विध्यं वक्तव्यमिति चेत्—न तुर्यश्चतुरात्मेति श्रुतौ तावत् सविशेषनिर्विशेषावेकीकृत्य विवक्षितम् ॥

तुरीयमपि निर्विशेषमिति चेत्—न सप्रतियोगिकत्वात्, सप्रतियोगिक-निर्विशेषस्यापि जाग्रदादिविशेषसापेक्षतः सविशेषत्वात्, सप्रतियोगिकनिष्प्रति-योगिकनिर्विशेषयोः सविकल्पाविकल्पकत्वेन तयोर्योगासंभवात्, स्वविकल्पित-साक्ष्यभासकसाक्षिणः साक्ष्यताभावे तत्सापेक्षसाक्षितासंभवात्, सविकल्प-साक्ष्यसद्भावे सविकल्पत्वेन सविशेषत्वं[त्वात्], सत्यस्य सत्यमितिवत् तद्गताविकल्पाविकल्पत्वस्य^१ मुख्यत्वात्, सविशेषनिर्विशेषयोः पृथग्वक्तव्य-

तथा त्रैविध्यमेव विवक्षितम् । यदि चातुर्विध्यमेव विवक्षितं स्यात् तयोः मिश्रदोषापत्तेः[त्तिः] तुर्यावस्थाया निर्बीजत्वं यदुक्तं तद्विचिकित्स्यं, तस्याः सबीजत्वात् । व्यष्टिसमष्ट्यात्मकतुर्यावस्थाभागत्रयस्य गुणसाम्यत्वेन साक्ष्युपाधित्वात् गुणसाम्यस्य बीजाज्ञानकारणत्वात् तत्र बीजादिकं पुनर्व्युत्थानार्हतया मूर्च्छितं सद्वर्तत एव, तुर्यबीजपदारूढब्रह्मविद्वरिष्ठस्यापि पुनर्व्युत्थानदर्शनात्, पुनस्तस्यैव निष्प्रतियोगिकनिर्बीजतुर्यतुर्यमात्रपर्यवसन्नस्य व्युत्थानादर्शनाच्च, एवं व्युत्थानस्य संसारदुःखहेतुत्वात् जाग्रज्जाग्रदाद्यनुज्ञैकरसाविकल्पस्थैः समं तुर्यजागरणाद्यविकल्पानुज्ञैकरसाविकल्पस्याप्यात्मावरणत्वे भेदप्रतीतित्वे वास्तवत्वे चाविशेषत्वात् । यस्मादेवं तस्मात्तुर्यावस्थाभागत्रयस्यापि सविशेषत्वेन त्रैविध्यसिद्धिः अवरुद्धा ॥

यथा जाग्रज्जाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तचतुष्पञ्चदशभेदकलना व्यष्टिसमष्टिविभागविशिष्टा तथा तुर्यतुर्योऽपि व्यष्ट्यादिकलनायुक् भवितुमर्हतीति चेत्—न, तुर्यतुर्यस्य निष्प्रतियोगिकाविकल्पाविकल्परूपत्वेन व्यष्टिसमष्ट्यादिविभागकलनाऽपहवसिद्धत्वात् ॥

तर्हि जाग्रज्जाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनाऽऽदिभिः तुर्यतुर्यस्य सामानाधिकरण्यात् अविकल्पाविकल्पता कुतः ? इति चेत्—न, तुर्यतुर्याज्ञानविकल्पितजाग्रज्जाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनानां विकल्पस्य स्फुटत्वेन तद्विकल्पकलनाऽपहवसिद्धतुर्यतुर्यस्य अविकल्पाविकल्पत्वस्य सिद्धत्वात् ॥

जाग्रद्विश्वविराडोत्रादेरिव तुर्यस्यापि विकल्पत्वं स्यादिति चेत्—न, व्यावहारिकसत्यतावत् गौणाविकल्पत्वसंभवात् । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयं विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयं विराट्सूत्रबीजतुरीयं ओन्ननुज्ञात्रनुज्ञैकरसाविकल्प इत्यत्र जाग्रदाद्यवस्थात्रयविशिष्टव्यष्टिसमष्ट्यभिमानिविश्वविराडोत्रादयो मिथो विकल्परूपा एव, तेषामभिधानव्यापारविकल्पदर्शनात् । तदपेक्षया जाग्रद्विश्वविराट्पुर्याणां अभिधानव्यापारयोरेकत्वात् अविकल्पत्वं, जाग्रत्तुर्यं स्वप्नतुर्यं सुषुप्तितुर्यं विश्वतुर्यं तैजसतुरीयं प्राज्ञतुर्यं विराट् तुरीयं सूत्रतुरीयं बीजतुरीयं ओत्रविकल्पः अनुज्ञात्रविकल्पः अनुज्ञैकरसाविकल्प इति च तुर्यजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः तुर्यविश्वतैजसप्राज्ञाः

तुर्यविराडसूत्रबीजानि अविकल्पोत्रनुज्ञात्रनुज्ञैकरसा इत्यत्र विकल्परूपजाप्रद्विश्व-
विराडोत्रादिविशेषणविशिष्टत्वाद्द्विकल्पत्वं गौणं सत्यस्य सत्यमितिवत् ।
आपेक्षिकाविकल्पानां चतुर्विंशतितुर्याणां अयं पारमार्थिकाविकल्पः तुर्यतुर्यः,
जाप्रद्विश्वविराडोत्रादिविकल्पानां तुर्यतुर्यपरिसमाप्तत्वात्, सर्ववेदान्तसिद्धान्त-
तुर्यतुर्यावगतेः जाप्रजाप्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तविकल्पापहवपूर्वकत्वात् ॥

एवं विद्वद्दृष्ट्या जाप्रजाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनाऽपि अविकल्पाविकल्प-
तुर्यतुर्यमात्रैव अवशिष्यते । यतस्तुर्यतुर्यो निष्प्रद्वियोगिकाद्वैतरूपेण अवशिष्यते
अतस्तुर्यतुर्ये व्यष्टिसमष्टिविभागकलना अस्ति नास्तीति विभ्रमापहवोक्तिरपि न
संभवतीति सिद्धा । एतावता प्रसङ्गेन तुर्यतुर्यस्य निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषत्वं,
तुर्यस्य तु सप्रतियोगिकनिर्विशेषत्वेन सविशेषत्वं, अतोऽयं तुर्यस्त्रैविध्यमर्हति ॥

कथं तुर्यावस्थायास्त्रैविध्यमिति ? उच्यते—बाह्यविषयादिभेदसत्त्वेऽपि
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सत्तामात्रं हीदं सर्वं' इत्यादिश्रुतिशतसिद्धात्मप्रत्ययो विद्वान्
नयनादिना अपगतनिखिलरूपादिभेदं गृह्णाति, तदिदं तुर्यजागरणं, तदभिमानी
तुर्यविश्वः, तत्समष्ट्यभिमानी तुर्यविराट्, तदुभयैक्याभिमानी त्वविकल्पोते-
त्याद्यूह्यम् । 'सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यं' इत्यादिवक्ष्य-
माणश्रुत्यनुरोधेन उपरतनेत्रादिव्यापारो विद्वान् ब्रह्मसाक्षात्कारपरिणतमनसैव
प्रत्यक्परचितोरैक्यमनुभवति, तदा तुर्यस्वप्नः, तदभिमान्यात्मा तुर्यतैजसो
भवति । यदाऽयं विद्वान् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिसिद्धं त्रिपुटीग्रासं
ब्रह्माहमस्मीत्यन्तःकरणसरूपविलयनिर्विकल्पकसमाधिपरवशो भूत्वा स्तब्ध इव
तिष्ठति तदेयं तुर्यसुषुप्तिः, तदभिमानी तुर्यप्राज्ञो भवतीति ॥

एतावता ग्रन्थेन व्यष्टिसमष्टिविभागानर्हतुर्यतुर्येण सह तुर्यश्चतुरात्मा तुर्यतुर्यं
विना त्र्यात्मेति व्याख्यातम् । कथं एवमवगम्यते ? इत्यत्र एकैकस्य तुरीयाव-
सितत्वात् जाप्रद्विश्वविराडोत्रादिकलनायास्तुर्यपर्यवसितत्वात् । तुर्यो जाप्रदाद्य-
पवादाधिकरणं, ततः तद्व्यष्टिसमष्टिविभागार्हस्वाधिष्ठेयसापेक्षं स त्रैविध्यमर्हति ।
तुर्यतुर्यस्य निरधिकरणतया निर्विभागत्वात् तदेव निष्प्रतियोगिकसन्मात्रं,
तदतिरिक्तं नास्त्येव । यद्यस्तीति स्वाज्ञदृष्ट्या प्रसक्तं तदा परमार्थदृष्ट्या

तदसत्पदमर्हतीत्यत्र वक्ष्यति हि “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्” इति ।
 भेदप्रतीतिः जागरणादौ, अभेदप्रतीतिः तुर्यं, भेदाभेदाभावप्रतीतिः तुर्यतुर्यं ।
 कथं एवमवगम्यते ? इत्यत्र ओतानुज्ञानुज्ञाऽविकल्पैः । तुर्यविश्वविराडैक्यात्मना
 द्वैतप्रपञ्चानुगतोऽयमोता भवतीत्येको भेदः । तुर्यतैजससूत्रैक्यात्मना प्रत्यक्पर-
 चितोरैक्यमनुजानातीत्यनुज्ञाताऽनुमन्तेति द्वितीयो भेदः । तुर्यप्राज्ञबीजैक्यात्मना
 ज्ञानादित्रिपुटीविरळचिदेकरसदृष्टिरनुज्ञैकरस इति तृतीयो भेदः । व्यष्टिसमष्टि-
 तुर्यैक्याविकल्पात्मना सर्वविकल्पापह्ववसिद्धतुर्यतुर्यो अविकल्पाविकल्पतया
 योऽवशिष्यते पूर्वापेक्षया स चतुर्थो भेदः । तैरोतानुज्ञानुज्ञाऽविकल्पैः
 चतुर्थश्चतुरात्मेत्यर्थः साधितः । अत्र तुर्यजागरणादित्रयमपि सुषुप्तं जाग्रदाद्य-
 वस्थात्रयप्रविभक्तजाग्रदादितदध्यक्षवत् तुर्यावस्थाप्रविभक्तसाध्यक्षतुर्यजागरणादित्र-
 यमपि त्रिसंख्याऽऽक्रान्तं सुषुप्तं, तुर्यतुर्यमात्रावरणरूपत्वात् । यद्यावरणतया
 त्रयमपि सुषुप्तं तदा तुर्यजाग्रद्विश्वविराडोत्रादिप्रतीतिः कुतः ? इति चेत्—
 परमार्थदृष्ट्याऽभावेऽपि प्रातिभासिकदृष्ट्या संभवतीत्याह—स्वप्नं मायामात्रं
 चिदेकरसो हीत्युक्तार्थम् ॥ ११ ॥

तुरीयतुर्यादिशः

^१अथायमादेशो न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न
 प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यप-
 देश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते
 स आत्मा स विज्ञेय ईश्वरग्रासस्तुर्यतुरीयः ॥ १२ ॥

उक्तार्थे श्रुतिनिर्दिष्टादेशो भवतीत्याह—अथेति । अथशब्दोऽधिकारार्थः ।
 तुर्यपादारूढानां विदुषामेव ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्भिः स्वातिरिक्तजाग्रजाग्रदाद्य-
 विकल्पानुज्ञैकरसान्तविशेषजातं नेति नेतीत्यादिश्यत इति आदेशः । कोऽयमादेश

^१ अयमात्माऽयमादेशः—अ. अयमादेशः—क. अयमात्मादेशः—अ २.

इत्यत आह—न स्थूलप्रज्ञमिति । नेदं तुर्यतुरीयं स्थूलप्रज्ञं व्यष्टिसमष्टिजाग्र-
जागरणाभिमानिविश्वविश्वविराड्विराट् तदैक्योत्रोत्कलनाऽभावात् । तथेदं न
सूक्ष्मप्रज्ञं व्यष्ट्यादिविशिष्टजाग्रत्प्रविभक्तस्वप्नाभिमानितैजससूत्रानुज्ञातुविलक्षण-
त्वात् । तथेदं नोभयतः प्रज्ञं अविद्यायामात्मनि च प्रज्ञानबाह्यजाग्रत्स्वापाभिमानि-
विश्वप्राज्ञविराड्बीजतदैक्योत्रनुज्ञैकरसकलनावैरळ्यात् । तथेदं न प्रज्ञं जाग्रजाग्र-
दादिभावाभावप्रकाशकप्रज्ञाभिमानिविश्वविराट् तुर्यतदैक्योत्रविकल्पबाह्यत्वात् । तथेदं
नाप्रज्ञं स्वप्नजागरणाभिमानिबहिः प्रज्ञाविरळतैजसुविश्वसूत्रविराट् तदैक्यानुज्ञात्रोत्-
कलनादूरत्वात् । तथेदं अदृश्यं स्वप्नस्वप्नाभिमानचित्तकल्पितदृश्यमोहितैजस-
तैजससूत्रसूत्रतदैक्यानुज्ञात्रनुज्ञात्रभाववैरळ्यात् । तथेदं न प्रज्ञानघनं स्वप्नस्वा-
पाभिमानिसर्वविषयाभावप्रज्ञानघनतैजसप्राज्ञसूत्रबीजतदैक्यानुज्ञात्रनुज्ञैकरसकलना-
मृग्यत्वात् । तथेदं अव्यवहार्यं स्वप्नतुर्यावस्थाऽभिमानिस्वप्नजागरणादिभावा-
भावभासकत्वव्यवहार्यतैजससूत्रतुरीयतदैक्यानुज्ञात्रविकल्पविलक्षणत्वात् । तथेदं
अप्राह्यं स्वापजागरणाभिमानिस्वाज्ञानवृत्तिप्राह्यप्राज्ञविश्वबीजविराट् तदैक्यानुज्ञैकर-
सोत्तुविलक्षणत्वात् । तथेदं अलक्षणं स्वापस्वप्नाभिमानिस्वाज्ञानवृत्तिलक्षणवेद्य-
प्राज्ञतैजसबीजसूत्रतदैक्यानुज्ञैकरसानुज्ञातुभिन्नत्वात् । तथेदं अचिन्त्यं न
किंचनावेदिषमिति परामर्शचिन्त्यस्वापस्वापाभिमानिप्राज्ञप्राज्ञबीजबीजतदैक्यानु-
ज्ञैकरसानुज्ञैकरसबाह्यत्वात् । तथेदं अव्यपदेश्यं स्वापतुर्यावस्थाऽभिमानिस्वापजा-
गरणादिभावाभावसाक्षित्वव्यपदेश्यप्राज्ञबीजतुर्यतदैक्यानुज्ञैकरसाविकल्पत्वकल-
नाऽस्पृष्टत्वात् । तथेदं एकात्मप्रत्ययसारं तुर्यजागरणाभिमानिध्यात्राद्यनेक-
प्रत्ययसारं तुर्यविश्वविराट् तदैक्याविकल्पोत्कलनाशून्यत्वात् । तथेदं प्रपञ्चो-
पशमं तुर्यस्वप्नाभिमानिकचित्कदाचिदशान्तप्रपञ्चतुर्यतैजससूत्रतदैक्याविकल्पा-
नुज्ञातृगन्धासहत्वात् । तथेदं शान्तं तुर्यस्वापाभिमानिगुणसाम्यावस्थाशान्त-
तुर्यप्राज्ञबीजतदैक्याविकल्पानुज्ञैकरसकलनाभिन्नत्वात् । तथेदं शिवं जाग्रजाग्रदाद्य-
विकल्पानुज्ञैकरसान्ताशिवापह्वसिद्धनिष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यमात्रावशेषलक्षणविक-
लेबरकैवल्यरूपत्वात् । अत एवेदं अद्वैतं निष्प्रतियोगिकपरमाद्वैतरूपत्वात् ।
स्वातिरिक्तसामान्याशिवापह्वे निरात्मत्वं स्यादित्यत आह—चतुर्थं मन्यन्त

इति । स्वातिरिक्तजाग्रज्जाग्रदादिसत्त्वे यत्तदारोपापवादाधिकरणं तत् चतुर्थं
तुर्यमवशिष्यत इति मन्यन्ते विद्वांसः । मन्यन्ते इत्युक्तितोऽधिष्ठेयसापेक्षाधिष्ठान-
ताऽपाये यत्तुर्यमित्यवधृतं तदेव निरधिष्ठानं सत् तुर्यतुर्यतया अवशिष्यत इति
द्योत्यते । यतः एवं अतः स्वाज्ञस्वज्ञपरमार्थदशायामपि आत्मैव वर्तते, न हि
कदाचित् निरात्मकता सेहं पारयतीत्यर्थः । विश्वविश्वाद्यनेकात्मसु विज्ञेयः
कोऽयमात्मैत्यत्र स्वातिरेकेण यदि विश्वादयः सन्ति तदा तेऽप्यनात्मरूपा एव,
तत्सर्वापह्ववबोधतो यः स्वमात्रमवशिष्यते स आत्मा स एव विद्वद्भिः स्वावशेष-
तया विज्ञेयः । कैरित्यत्राह—ईश्वरग्रासस्तुर्यतुरीय इति । स्वाज्ञैः जीवेशतत्कार्य-
प्रपञ्चतया स्वज्ञैः तद्ग्रासद्वितुर्यैक्यतया परमार्थज्ञैः निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यतया
विज्ञेय इत्यर्थः, “ आत्ममात्रमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किञ्चन ” इति श्रुतेः ॥१२॥

इति प्रथमः खण्डः

द्वितीयः खण्डः

उत्तमाधिकार्यवगतं तुर्यतुर्यम्

तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नसुषुप्तं स्वप्नेऽजाग्रतमसुषुप्तं
सुषुप्तेऽजाग्रतमस्वप्नं तुरीयेऽजाग्रतमस्वप्नसुषुप्तमव्यभिचारिणं नित्या-
नन्दं सदेकरसं ह्येव ॥ १ ॥

यदुक्तं ‘स आत्मा स विज्ञेयः’ इति नैतावताऽयमवगन्तुं शक्यः,
अधिकारितारतम्यानुरोधेन वक्तुमुचितं भवतीति खण्डिका आरभ्यते—तमिति ।
उत्तमाधिकारिभिः तुर्यतुर्य एव प्रतिपत्तव्यः, मध्यमाधिकारिभिः तुर्यः, कनीयोभिः
विश्वविराडोत्रादिः । तस्मात् कनीयोभिः विश्वविराडोत्रादियाथात्म्यमादाव-

वगन्तव्यम् । ततस्ते मध्यमाधिकारिणो भूत्वा तुर्यं ज्ञातुमिच्छन्ति । श्रुत्याचार्य-
प्रसादेन तुर्ययाथात्म्यं विदित्वा मुख्याधिकारितामवलम्ब्य स्वातिरिक्तजाग्र-
जाग्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनाऽपह्ववसिद्धतुर्यतुर्ययाथात्म्यमवगम्य कृतकृत्या भवन्ति ।
तत्रोत्तमाधिकारिणो यं तुर्यतुर्यं जानन्ति तं वै तुर्यतुर्यं एतं स्वज्ञदृष्ट्या तुर्यभाव-
मापन्नं स्वयंप्रकाशात्मानं चतुर्धा भिन्नजाग्रति अस्वप्नमसुषुप्तं स्वप्नस्वापकलनाशून्यं
चतुर्धा भिन्नस्वप्ने अजाग्रतमसुषुप्तं जाग्रत्स्वापकलनाविरलं चतुर्धा भिन्नसुषुप्ते
अजाग्रतमस्वप्नं जाग्रत्स्वप्नव्यापृतिशून्यं त्रिधा विकल्पिततुरीये अजाग्रतमस्वप्नम-
सुषुप्तं जाग्रजाग्रदादितुर्यस्वापान्तावस्थाः मिथो व्यभिचारिण्यः तदपेक्षया तुर्यं
अव्यभिचारिणं जानीयात् तुर्यस्य जाग्रदादिभावाभावप्रकाशकत्वेन सर्वावस्थाऽनु-
स्यूतत्वात् नित्यानन्दं तुर्यतुर्यानन्दपर्यवसन्नत्वात् सदेकरसं अखण्डचिदेकर-
सत्वात् । यद्वा—नित्यानन्तसदेकरसमिति । तत्र नित्यश्चासावनन्तश्चेति
नित्यानन्तः स चासौ सदेकरसश्चेति नित्यानन्तसदेकरसः तं एवकारो
नित्यानन्दसदादेः भिदानिवारणार्थः । एवमुक्तलक्षणं तुर्यं तद्गतसापेक्षप्रभवस-
विशेषताऽपायसिद्धं तुर्यतुर्यं उत्तमाधिकार्यवगच्छेदिति शेषः ॥ १ ॥

तुर्यतुर्यस्य करणग्राह्यवैलक्षण्यम्

चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा
बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा ततः सर्वस्मादन्यो
विलक्षणः ॥ २ ॥

चक्षुरादियोगात् अवस्थायोगाद्वा द्रष्टृत्वमवस्थावत्त्वं च स्यादित्याशङ्क्य
तद्वैलक्षण्यमाह—चक्षुष इति । चक्षुषो द्रष्टा, न हि यो हि द्रष्टा स तेन दृश्येन
तद्वान् भवति । तथा श्रोत्रस्य द्रष्टा—व्याख्यातम् । चक्षुःश्रोत्रग्रहणं
शिष्टज्ञानेन्द्रियोपलक्षणार्थम् । तथा वाचो द्रष्टेति कर्मेन्द्रियोपलक्षणार्थम् । तथा
संकल्पनिश्चयात्मकवृत्तिमन्मनसो बुद्धेरपि द्रष्टा । मनोबुद्धिग्रहणं चित्ताहंकारयो-
रप्युपलक्षणार्थम् । तथा प्राणस्य द्रष्टा । प्राणग्रहणं अपानादिवृत्तिचतुष्टयोप-

लक्षणार्थम् । तमसः स्वाज्ञानस्य द्रष्टा । किं बहुना—दृश्यादृश्यत्वेन ज्ञाताज्ञात-
तया च यद्यत् वर्तते तस्य सर्वस्यापि द्रष्टा । यतः स्वातिरिक्तसर्वदृश्यप्रपञ्चस्य
द्रष्टा ततः सर्वस्मादन्यः व्यतिरिक्तः । बुद्ध्यादिवत् ज्ञातृत्वेन तादात्म्यं
स्यादित्यत आह—विलक्षण इति । व्यभिचारिण्यपि करणग्रामे तद्द्रष्टा
अव्यभिचारी सर्वानुस्यूतत्वात् ॥ २ ॥

तुर्यतुर्यस्य सर्वसाक्षित्वादविक्रियत्वम्

चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी
बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियो
महाचैतन्योऽस्मात् सर्वस्मात् प्रियतम आनन्दघनं ह्येवमस्मात्
सर्वस्मात् पुरतः सुविभातमेकरसमेवाजरममृतमभयं ब्रह्मैव ॥ ३ ॥

चक्षुषो द्रष्टेत्यादि सर्वस्य द्रष्टेत्यन्तं द्रष्टृपदस्थले साक्षिपदप्रक्षेपेणोत्तरमाह—
चक्षुषःसाक्षीत्यादि सर्वस्य साक्षीत्यन्तम् । साक्षी नाम द्वयोः विवदमानयोः
निष्पक्षपाती स्वसंबन्धशून्यतया सर्वद्रष्टेत्यर्थः । यतः सर्वविलक्षणतया सर्वसाक्षी
ततः तस्मात् दर्शनक्रियया युक्तोऽपि अविक्रियः । महच्छब्देन त्रिविधपरिच्छेद-
शून्यमुच्यते, महान् चैतन्यप्रकाशो यस्य सः महाचैतन्यः अनुदितानस्तमित-
प्रकाशत्वात् । स्वस्यैव सर्वस्मात् प्रेमास्पदत्वं दर्शयति—अस्मादिति । अस्मात्
उपलभ्यमानात् पुत्रकलत्रादेरपि सर्वस्मात् प्रियतमः, “ तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो
वित्तात् ” इत्यादिश्रुतेः । स्वात्मस्वरूपं यतः प्रियतमं, ततः आनन्दघनं, साति-
शयानन्दापह्ववसिद्धनिरतिशयानन्दत्वं आनन्दघनत्वम् । उक्तात्मज्ञानफलमाह—
ह्येवमिति । एवं उक्तप्रकारेण आत्मानं तुर्यतुर्यं जानतः अस्मात् स्वातिरिक्तात् अपह-
वतां गतात् पुरतः पूर्वमेव स्वमात्रतया भातं सुविभातं निस्संशयं भातमित्यर्थः ।
नित्यानन्दचिदेकरसमेव हि यदुत्तमाधिकारिदृष्ट्या सुविभातं तद्दर्शयति—एकर-
समेवेति । नित्यानन्दसदादिरूपमप्येकस्वभावमेव । तत्र न हि कश्चन भेदोऽस्ति ।

यदुक्तमेकरसमिति शृङ्गाग्राहिकया तदाह—अजरमिति । जराऽऽदिषड्भ्यांस्पद-
स्थूलादिशरीरवैरळ्यात् । जराऽऽस्पदशरीराभिमानतो मृतिः स्यादित्यत आह—
अमृतमिति । अमरमिति वा पाठः तयोरेकार्थत्वात् । भावविकारवैरळ्यात्
अमृतत्वं सिद्धमित्यर्थः । तथा अभयं भयहेतुद्वैताभावात् । ब्रह्मैव महाचैतन्या-
खण्डानन्दैकरसस्वभावतयोपबृंहणात् त्रिविधपरिच्छेदशून्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३ ॥

मध्यमाधिकारिणां ओङ्कारात्मनोः एकीकरणविधिः

अप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरौकारेण चैकीकुर्यात् ॥ ४ ॥

उत्तमाधिकारिणां आत्मयाथात्म्यं एवं प्रकटयित्वा यथावत् प्रतिपत्तुम-
शक्तान् प्रतीदमाह—अप्यजयेति । एनं मुक्तमात्मानं चतुष्पादं अध्यात्मं
अधिदैवं च अजया स्वाविद्ययाऽपि संभावितभेदं मात्राचतुष्टयसहितं वक्ष्य-
माणोङ्कारेण शास्त्रोक्तया बुद्ध्या एकीकुर्यात् ॥ ४ ॥

अकारप्रथमपादयोरभेदः

जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोऽकार एव
चतूरूपो ह्ययमकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरकाररूपैराप्तेरादिमत्त्वाद्वा
स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात् साक्षित्वाच्च । आप्नोति ह वा इदं
सर्वमादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

एवं एकीकरणप्रकारमाह—जागरितस्थान इति । व्याख्यातम् । चत्वारि
रूपाण्यस्येति चतूरूपः, रूप्यते ह्ययमात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभावैः सर्वा-
वस्थासु । अत एवायं चतुरात्मा । चत्वारि नामधेयान्यप्यत्रैवोक्तानि ।
चतुरात्माऽपि प्रत्यवस्थं चतुरात्मनि निर्विभागतुर्यतुर्येण साकं षोडशात्मकत्वम् ।
तत् कथं ? अकार एव चतुर्नामधेयः चतूरूपः प्रथमः पादः । चतूरूपस्याकारस्य
किं अनुगतं रूपमित्यत्र चैतूरूपं उदात्तस्वरितानुदात्तज्ञानरूपाणि प्लुतदीर्घह्रस्व-

ज्ञानरूपाणि च नामरूपाणि चत्वारि यस्य स चतुरूपः हि यस्मादयम् । कथं ? प्रथमपादेन तादात्म्यं प्राप्तः प्रणवमात्रारूपः । तत्राकाररूपो वर्णः केनैवं तादात्म्यं प्रतिपन्नः ? इत्यत्र स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः । तत्रै स्थूलं जागरण-जागरणं, तत्र सर्वविषयवैशद्यात् । जागरणस्वप्नो हि सूक्ष्मं, जागरणस्वप्नस्य बाह्येन्द्रियप्रकाशाभावात् । बीजं जागरणसुषुप्तं, बाह्यान्तर्यापारोपरमात् । साक्षी जागरणतुरीयं, अज्ञातात्मनो ज्ञातात्मनो वा बाह्यान्तरार्थज्ञानप्रतीतौ हेतुः तद्भावाभावप्रकाशकत्वम् । एतं स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिणस्ते । स्थूलाभ्यां प्लुतो-दात्ताभ्यां स्थूलस्सनकारो विशदप्रकाशवान् सकारकक्रियो जागरणजागरणं, सूक्ष्माभ्यां दीर्घस्वरिताभ्यां अबाह्यार्थप्रकाशवानयं सकारकक्रियो जागरण-स्वप्नस्थानः, बीजाभ्यां ह्रस्वानुदात्ताभ्यां बीजभूतो बाह्यान्तरविषयशून्यो जागरण सुषुप्तस्थानः, स्वाज्ञानसाक्षिभ्यां मानसाकाराभ्यां साक्षी जागरणतुरीयश्च तादात्म्यं नेतव्यः । एवमकारस्य चातुर्विध्यमुक्तं, ततः साम्यान्तरमाह— आप्तेरिति । अकारो हि सर्वा वाचमाप्नोति “ अकारो वै सर्वा वाक् ” इति श्रुतेः अनुभवाच्च । सर्वं वस्तुजातमाप्नोतीत्यात्मा । एवमकारात्मनोराप्तिसामान्यात् अकारात्मनोरैक्यम् । आप्तितः साम्यमुक्त्वा आदितः साम्यमाह— आदि मत्त्वाद्धेति । यत्पदाकारयोरिति प्राथम्यमस्ति स आदिमान्, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात् आदिमत्त्वात् । वाशब्देन प्रथममात्रापादयोः चतुरात्मत्वं द्योत्यते । प्रथमपादस्य अवस्थाचतुष्टयेन कथं साम्यमित्यत्र हेतवः सन्तीत्याह— स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वात् बीजत्वात् साक्षित्वाच्चेति । यथा जागरणजागरणे स्थूलः प्रथमः पादः तथा प्लुतोदात्तरूपाभ्यां अकारः स्थूलः, तयोः विशदप्रकाशरूपत्वात्, तद्भावः तत्त्वं तस्मात् स्थूलत्वात् । यथा जागरणस्वप्ने मनोविलासार्थप्रकाशे प्रथमः पादः सूक्ष्मः तथा अकारोऽपि दीर्घस्वरिताभ्यां सूक्ष्मः, यथा जागरणस्वापो बाह्यान्तःकरणविरामे स्वाज्ञाने प्रथमः पादो बीजरूपः तथा अकारोऽपि ह्रस्वानु-दात्ताभ्यां बीजरूपः, यथा जागरणतुरीये स्वबाह्यान्तर्वृत्यप्रतीतिसिद्धे प्रत्यक्प्रकाशे प्रथमः पादः साक्षी तथा अकारोऽप्युक्तकालत्रययुगाद्भावावृत्तो ज्ञानरूपः साक्षी । तथा चोपपन्नं उभयोरपि स्थूलत्वं सूक्ष्मत्वं बीजत्वं साक्षित्वं च साम्यमुक्तम् ।

चकारो हेतुचतुष्टयस्यापि उक्तक्रमसंबन्धचतुष्टयार्थः । य एवं प्रथमपादमात्रा-
सामान्यं वेद सोऽयं ह वा इदं सर्वमाप्नोति जगदादिः प्रथमश्च भवति ॥ ५ ॥

उकारद्वितीयपादयोरभेदः

स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप उकार एव
चतूरूपो ह्ययमुकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरुकाररूपैरुत्कर्षाद्भुभयत्वाद्वा
स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात् साक्षित्वाच्च । उत्कर्षति ह वै
ज्ञानसंततिं समानश्च भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

यथा प्रथमपादोऽकारश्च प्रपञ्चितः तथा द्वितीयपादश्चोकारः प्रपञ्च्यते—
स्वप्नेति । यथा जागरणस्थानस्य जागरणभेदैः चतुरात्मत्वं, तथा स्वप्नस्थानस्य
स्वाप्नदेहेन्द्रियार्थसंबन्धस्वप्नजागरणं स्थूलरूपः, स्वाप्निकमानसार्थप्रकाशः सूक्ष्म-
स्वप्नस्वप्नः, स्थूलसूक्ष्मार्थप्रकाशविरलं स्वप्नसुषुप्तं बीजं, बाह्यान्तर्विशेषानुपलम्भात्
साक्षी स्वप्नतुरीयः, एतैश्चतूरूपैः चतुरात्मत्वम् । उकारो द्वितीयामात्रा,
उकारस्य उत्कर्षात् आधिक्यात् । सर्वस्मादधिको ह्ययमात्मा । तथा सर्वस्माद्दु-
कारो ह्यधिकः । उभयत्वात् द्वित्वसंगत्याऽऽक्रान्तत्वात् स्वप्नस्थानो द्वितीयः
पादः । द्वितीयपादोकारसामान्यज्ञानफलमाह—य इति । य एवं वेद स ह वै ज्ञान-
सन्ततिं लब्ध्वा सार्वभौमेन ईश्वरेण वा समानश्च भवति । व्याख्यातमितरत् ॥६॥

मकारवृत्तीयपादयोरभेदः

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव
चतूरूपो ह्ययं मकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपीतेर्वा
स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात् साक्षित्वाच्च । मिनोति ह वा इदं
सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

यथा प्रथमद्वितीयपादावकारोकाराभ्यां अभिन्नौ, एवं तृतीयपादमकारोव-
पीत्याह—सुषुप्तेति । घटादेरज्ञानं सुषुप्तजागरणं स्थूलं, स्थूलवासनासर्वलित-
घटादेरज्ञानं सूक्ष्मस्वापस्वप्नः, करणग्रामोपरमे सञ्चित्कावरणाज्ञानवृत्तिः
शान्तेव यत्र भाति तत् सुषुप्तसुषुप्तं बीजं, पूर्वावस्थाप्रपञ्चभावाभावप्रकाशक-
साक्षि सुषुप्ततुरीयं, एवं चतुरूपस्य सत्त्वात् चतुरात्मत्वम् । प्रणवस्य तृतीया
मात्रा मकारः । यद्यप्यकारादिधर्माः प्लुतादयो मकारे न सन्ति, तथाऽप्यकारस्य
सर्ववर्णात्मकत्वात् साकारे मकारे तद्धर्माणां सत्त्वात् तस्याप्यकारादिवच्चतुरूपत्वं
अविरुद्धम् । मितेः मानरूपत्वात्, साक्षिरूपेण ह्यात्मा मिनोति इदं सर्वम् ।
अपीतेः अप्ययात्, इदं जागरणस्वप्नतत्कार्यजातं सर्वं मकारावच्छिन्नप्राज्ञात्मनि
प्रलीयते । य एवं सुषुप्तस्थानमकारसामान्यं वेद तस्येदं फलं—प्रस्थपरिमित-
यववत् सचराचरं जगदवगच्छति । ह वा इदं सर्वं व्याख्यातम् । अपीतिश्च
भवति कालाग्निरुद्रवत् स्वातिरिक्तं प्रसति । कामादीनामप्ययो भवति ॥ ७ ॥

चतुर्थपादप्रपञ्चनम्

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कुर्यात् । अथ तुरीय ईश्वरप्राप्तः स
स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मोतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैः ।
ओतो ह्ययमात्मा ह्यथैवेदं सर्वमन्तकाले ^१कालाग्निः ^२सूर्योत्तैः ।
अनुज्ञाता ह्ययमात्मा ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानं ददातीदं सर्वं
स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सविता । अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा
चिद्रूप एव यथा दाह्यं दग्ध्वाऽग्निः ॥ ८ ॥

पादत्रयं व्याख्याय चतुर्थं पादमाचष्टे—मात्रेति । अकारोकारमकाराख्याः
मात्राः, अमात्राः अर्धमात्राः मात्राविशेषवैरळ्यात्, मात्राश्चामात्राश्च प्रतिमात्राः
प्रत्येकं अकारोकारमकारमात्राः प्लुतादिविशिष्टाः कुर्यात् । अयमाशयः—

^१ कालाग्निसू—अ २.

^२ सूर्योत्तैः—अ २, क.

अध्यात्ममधिदैवमधिभूतं च दृश्यपदार्थौ अवस्थात्रयेऽप्यनुगतौ । तत्र जागरणावस्थायामात्मनो दृश्यबाधार्थौ चतुरवस्थौ साधिभूतौ विश्वशब्दाभिधेयौ वैश्वानरेण तादात्म्यं गतौ ध्यात्वा, वैश्वानरं च स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिरूप-मकारप्लुतोदात्तदीर्घस्वरितह्रस्वानुदात्तमनोमात्रगम्यत्वेन स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षितां प्रापयित्वा, चतुरूप ओङ्कारार्थं बुद्ध्या तादात्म्यं नीत्वा, स्थूलं सूक्ष्मे सूक्ष्मं बीजे बीजं च साक्षिण्यकारे संहरेत् । एवं स्वप्रस्थानस्थाधिभूतो हिरण्यगर्भः[भि], चतुरवस्थः स चतुरूप उकारे, उकारोऽपि स्थूलसूक्ष्मे, सूक्ष्मोऽपि बीजे, बीजं च साक्षिण्युकारे संहरणीयः । एवं सुषुप्तिस्थानस्थाधि-भूतः ईश्वरे, ईश्वरः चतुरवस्थो मकारे, मकारः स्थूलसूक्ष्मे, सूक्ष्मो बीजे, बीजं च मकारे साक्षिणि संहरणीयः । अकारसाक्षिणमुकारसाक्षिणि, उकारसाक्षिणं मकारसाक्षिणि, मकारसाक्षिणं तुर्यसाक्षिण्यमात्रे प्रणवरूपे संहरेत् । एवं प्रतिमात्राः कुर्वतो मात्राः अमात्राः भवन्तीति । अथ पूर्वैभ्यो विलक्षणः तुरीयः यो मकारमात्राऽभिन्नमीश्वरं प्रसति स ईश्वरप्रासः । य ईश्वरप्रासः सोऽयं साधनान्तरमनपेक्ष्य स्वयमेव राजत इति स्वराट् सर्वत्र स्वयमेवेश्वरो नियन्ता सन् । स्वातिरिक्तमनपेक्ष्य स्वेनैव प्रकाशत इति स्वप्रकाशः । अयमपि चतुरात्मा ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैः । उक्तार्थमेतत् । ओतत्वं व्याकरोति—ओतो ह्ययमात्मेति । व्यष्टिसमष्ट्यात्मकप्रपञ्चारोपाधिकरणविश्वविराडैक्यात्मना स्थूल-प्रपञ्चानुस्यूतत्वात् अयमात्मा ओता ओतो हि व्यापक एवेत्यर्थः । एवं कृत्स्नस्थूलप्रपञ्चोतत्वे दृष्टान्तमाह—अथेति । इदं मूर्तप्रपञ्चजातं सर्वमन्तकाले यद्यपीदानीमपि सविता स्वकिरणैः सर्वमिदं व्याप्नोति तथाऽपि प्रपञ्चान्तकाले कालः सर्वविनाशकारी स एवाग्निः पाताळतलमारभ्य यावदविद्याऽण्डभित्तिः तावदिदं सर्वं निर्दहनं स एव कालाग्निः सूर्यः उच्चैः किरणैः इदं सर्वं व्याप्नोति, व्याप्य निःशेषं भस्म करोतीत्यर्थः । तुर्यजागराधारमोतात्मानमुक्त्वा तुर्यस्वप्ना-धारमनुज्ञात्रात्मानमाह—अनुज्ञातेति । अयमात्मा तुर्यतैजससूत्रैक्यात्मना “तत् त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि” इति प्रत्यगभिन्नब्रह्माहमस्मीति आत्मानं अनुजानातीति अनुज्ञाता, पूर्णबोधस्वरूपत्वात् । अस्य सर्वस्य स्वातिरिक्त-

प्रपञ्चजातस्य “मद्ब्रह्मतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते” इति श्रुतिसिद्धस्वप्रबोधेन स्वात्मानं ददाति । किं बहुना—इदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति स्वावशेषं करोतीत्यर्थः । उक्तार्थे दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा सविता स्वोदयसमकालं निशि स्वावारकं तमः स्वावशेषं प्रसति तथा अयमात्मैत्यर्थः । तुर्यसुषुप्तानुज्ञैकस्वरूपं व्याकरोति—अनुज्ञैकरस इति । व्यष्टिसमष्टितुर्यसुषुप्त्यासनतुर्यप्राज्ञ-बीजैक्यानुज्ञारूपेण व्यष्टिसमष्टयात्मकजाप्रजाप्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तकलनायाः अपह्ववानुज्ञां दत्त्वा स्वयमखण्डैकरसतुर्यतुर्याभिमुखो भवतीति अयमात्मा अनुज्ञैकरसो हि भवतीत्यर्थः । स्वभावतः चिद्रूप एव । चिद्रूपत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । यथा अग्निः स्वदाह्यं काष्ठकरीषादिकं दग्ध्वा भस्मीकृत्य निर्विकल्पोऽवतिष्ठते तथैव स्वात्मबोधेन सर्वमिदं जडं स्वावशेषं कृत्वा स्वस्वरूपेण अवतिष्ठते । तुर्यजाप्रत्स्वप्नसुषुप्तांशेषु तुर्यजागरणस्वप्नांशौ सधूमज्वालावदग््नितुल्यौ, तुर्यसुषुप्तस्तु शराङ्गारवत् निर्विकल्पकतया अवतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

तुर्यतुर्यप्रपञ्चनम्

अविकल्पो ह्ययमात्माऽऽवाङ्मनोगोचरत्वाच्चिद्रूपश्चतुरूप
 अकार एव चतुरूपो ह्ययमोकार ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैरौकार-
 रूपैः । आत्मैव नामरूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वात् चिद्रूपत्वाच्च
 ओतत्वात् अनुज्ञातृत्वात् अनुज्ञात्वात् ^२अविकल्परूपत्वाच्च ।
 अविकल्परूपं हीदं ^३सर्वं नात्र काचन भिदाऽस्ति नैव तत्र काचन
 भिदाऽस्ति ॥ ९ ॥

तस्मादप्युपरि विद्यमानं अङ्गारादप्युपगताग्निमानं अवाङ्मनोगोचर-
 त्वात् तुर्यतुर्यं अविकल्पाविकल्पं, सर्वप्रकारस्वातिरिक्तकलनाऽपह्ववसिद्धत्वात्

^१ पञ्चात्मरू—अ, अ १. पत्वाच्चतू-

^२ अविकल्पत्वाच्च—अ २, क.

^३ सर्वं नैव—अ १, अ २, क.

अविकल्पाविकल्पत्वं निरङ्कुशमित्यर्थः । तत्र हेतुः चिद्रूपः चिन्मात्र इत्यर्थः । तत् कथं? चत्वारि रूपाणि यस्य सः चतुरूपः ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पै-
रकारोकारमकारमात्राऽतीतैश्चतुरूपैः प्रणव एव नत्वन्त्यः हि यस्मात् अयं
चतुष्पादात्मस्वरूपः । यत एवं अतो नामरूपात्मकं हीदं सर्वं तुर्यतुर्यातिरेकेण
भृग्यत्वात् तुर्यतुर्यस्य स्वतः चिद्रूपत्वात्, स्वाध्यस्ताकारादिमात्राभेदानुवृत्त्या
स्वाविद्यापदस्थूलांशोतत्वात्, तत्सूक्ष्मांशानुज्ञातृत्वात्, बीजांशानुज्ञात्वात्,
तुर्यांशाविकल्परूपत्वात् । चकारेण स्वतोऽयमविकल्पाविकल्प इति द्योत्यते ।
स्वाज्ञदृष्ट्या यत्तदतिरेकेण विकल्पितं भिदाजतिं स्वज्ञदृष्ट्या न हि तत्रास्ति ।
स्वज्ञादिदृष्ट्या सत्यत्वेन व्यावहारिकत्वेन प्रातिभासिकत्वेन वा नैव तत्र
नामरूपकर्मात्मकभिदा ओत्रादिभिदा विकल्पो वाऽस्ति ॥ ९ ॥

तुर्यतुर्यादेशः

अथ तस्यायमादेशोऽमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः

शिवोऽद्वैतः । एवमोकार आत्मैव । संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥

तथा चेत् तदवगतिः केत्यत आह—अथेति । अथेति तुर्यपाद-
प्रवेशानन्तर्यार्थः । वस्तुतो यदविकल्पाविकल्पकं तुर्यतुर्यं तत् कदाऽपि उपदेश्यं
न भवति । यतः तदोत्रादिकलनाऽस्पृष्टं अतस्तदवगन्तुं न हि शक्यं स्वातिरिक्त-
ज्ञात्राद्यसंभवात् । तथाऽपि तस्यायमादेशो वेदेन क्रियते स्वाज्ञारोपितमात्रातद-
ध्यक्षव्यवहारप्रपञ्चापहवमुखेन, तदपहवसिद्धं तुर्यतुर्यात्मकं निष्प्रतियोगिक-
स्वमात्रमित्यवगन्तुं शक्यमिति । श्रुतिनिर्दिष्टादेशः कः? इत्यत्र अमात्रः
स्थूलसूक्ष्मबीजभावमापन्नाकारादिमात्राप्रपञ्चापहवसिद्धत्वात् । चतुर्थः तुर्यविश्व-
विराडोत्रादेरप्यस्य चतुर्थत्वेन तुर्यतुर्यत्वात् । अव्यवहार्यः व्यवहार्यदमंशापहव-
सिद्धत्वात् । प्रपञ्चोपशमः जाग्रज्जाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकारसान्तप्रपञ्चापहव-
वृत्तेरप्युपशमसिद्धत्वात् । अत एव शिवः परममङ्गलात्मकविकल्केवरकैवल्य-
रूपत्वात् । अद्वैतः निखिलवेदार्थपरमाद्वैततया निष्प्रतियोगिकसन्मात्रत्वात् ।

सं शृङ्गग्राहिकया आह—ओङ्कार इति । एवमोङ्कारो ब्रह्म प्रगवः आत्मैव नत्वन्यः अभिधानस्य अभिधेयपर्यवसन्नत्वात् । एतज्ज्ञानफलं महीकरोति—संविशतीति । स्वात्मना स्वात्मानमेव स्वमात्रमिति संविशति अवगच्छति य एवं वेद वेदनसमकालं स तदेव भवतीत्यत्र “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इति श्रुतेः ॥ १० ॥

मन्दाधिकारिणां मन्त्रराजद्वारा तुरीयावगतिः

एष वीरो नारसिंहेन वानुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यादेष ह्यात्मानं प्रकाशयति सर्वसंहारसमर्थः परिभवासहः प्रमुर्व्याप्तः^१सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति । तस्मादेवमेवममात्मानं परं ब्रह्मानुसंध्यादेष वीरो नृसिंह एवेति ॥ ११ ॥

मध्यमाधिकारिणां उपायोपदेशतो ह्युत्तमपदं प्रविष्टानां परमफलं प्रकटयित्वा मन्दाधिकारिणामपि तत्पदारोहाय परमोपायमाह—एष इति । अन्यदेवतोपासकेषु अनेकेषु सत्सु तत्र कश्चिदेष नृसिंहस्य त्रिलोकीकण्ठकासुरवक्षःकवाटपाटनपटोरुपासनामहिम्ना तत्तादात्म्यं प्राप्त इव वीरः । स्वाज्ञानासुरभेदनोद्युक्तत्वात् वीरत्वमुपपद्यते । सोऽयं नारसिंहेन वाऽनुष्टुभा मन्त्रराजेन—वाशब्दः पक्षान्तरे यथावदात्मानमवगन्तुमशक्तः तदा—नारसिंहेन [नरसिंह]दैवतेन अनुष्टुप्लन्दस्केन स्वतन्त्रेण मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यात् अवगच्छेत् । सत्सु मन्त्रान्तरेषु अयमेव मन्त्रराजः । एष ह्येव स्वात्मानं चिन्मात्रतया प्रकाशयति । सर्वार्थसाधकेषु मन्त्रान्तरेषु सत्स्वपि किमत्र पक्षपात इत्यत्र सर्वसंहारसमर्थः स्वाज्ञानोपसंहारपटुत्वात्, स्वभक्तकृते परप्रयुक्तपरिभवासहः मद्भक्तो वा परैः परिभूयते स्वाज्ञानेन वेति । परिभवासहत्वे हेतुमाह—प्रभुरिति । को हि

^१ सर्वदो—उ.

स्वामी समर्थः सन् स्वभृत्यविषये परैः कृतपरिभवं सहते । ततोऽस्य परिभवासहनमुचितमेव । तुरीयेणास्य किमित्यत आह—व्याप्त इति । यथा तुरीयो जगदिदं व्याप्य वर्तते तथाऽयं स्वकीयैः पादैः पृथिव्यादिकं व्याप्नुवन् व्याप्त इत्यर्थः । उभयतः साम्यप्रतीत्यर्थमित्याह—सदोज्ज्वल इति । यथा तुरीयः स्वयंप्रकाशः अयमपि सदोज्ज्वलत्प्रकाशः । न केवलमिदं साम्यं किन्त्विदमपीत्याह—अविद्याकार्यहीन इति । रागद्वेषादीनि अविद्याकार्याणि । आत्मवत्—यथाऽयं तुरीयः स्वात्मनो बन्धमाविद्यकं हरति तथाऽयं मन्त्रराजोऽपि स्वात्मबन्धहरः । सर्वदा तुर्यवत्—द्वैतरहितः, तुर्यवत् सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः । तत्र हेतुः—निरस्ताविद्यातमोमोहः तुर्यवत्ताद्दृशाक्षरत्वात् । एवं साम्यमुक्त्वा इदानीमक्षरार्थसाम्यमाह—अहमेवेति । यथाऽयं तुरीयोऽस्मत्प्रत्ययग्राह्यः एवं मन्त्रराजोऽपीत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् नारसिंहेनानुश्रुभा मन्त्रराजेन इममेवानन्दात्मानं सर्वस्मात् परं उत्कृष्टं परिच्छेदत्रयातीतं ब्रह्म अनुसंदध्यात् । एवं कुर्वन्निरुपचरितोऽयमेव वीरो नृसिंह एव भवति ॥ ११ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

तृतीयः खण्डः

प्रणवमन्त्रराजपादानां तुरीयात्मना ध्यानम्

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति द्वितीया द्वितीयस्य तृतीया तृतीयस्य चतुर्थ्योतानुज्ञानुज्ञाऽ-
विकल्परूपा तथा तुरीयं चतुरात्मानमन्विष्य चतुर्थपादेन च तथा तुरीयेणानुचिन्तयन् शक्नोत् ॥ १ ॥

उत्तमाधिकारिणां निर्विशेषं मध्यमाधिकारिणां सविशेषं च ब्रह्म प्रतिपाद्यं पुनः संक्षेपविस्तराभ्यां मध्यमाधिकारिणं संबोधयितुं खण्डिकेयमारभ्यते— तस्येति । ओमित्येतदक्षरमित्यादिना यः प्रणवो वर्णितः तस्य ह वै प्रणवस्य । हवा इतिशब्दौ प्रसिद्धिस्मरणार्थौ । येयमकाराख्या मात्रा सेयं प्रणवमन्त्रराजयोः प्रथमः पादो भवति द्वितीया द्वितीयस्य तृतीया तृतीयस्येति । षष्ठी प्रथमार्था । द्वितीया उकारः तृतीया मकारः । द्वितीयो द्विसंख्यापूरणः तृतीयः त्रिसंख्यापूरणः । चतुर्थी चतुःसंख्यापूरणी । सेयं कीदृशीत्यत्र ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपा । सोभयतश्चतुर्थः पादो भवतीत्यध्याहार्यम् । तथा चतुर्थ्या तुरीयं चतुरात्मानं ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैः चतुर्भेदं आनन्दात्मानं अन्विष्य स्वाचार्योपदेशपुरस्सरमित्यर्थः । प्रणवमन्त्रराजयोः चतुर्थमात्रया पादेन च— एकैकमात्रापादयोरपि तुरीयेणाभेदार्थौ—तथा प्रणवतुर्थमात्रया मन्त्रराजतुर्थपादेन च मात्रापादैक्यतो विकल्पेनाचार्योपदेशं अनुचिन्तयन् प्रसेत् तुर्यात्मबुद्ध्या सर्वमिदमुपसंहरेत् ॥ १ ॥

प्रथमपादध्यानम्

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः
स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः पादो
भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥ २ ॥

इति सूत्रप्रायमुक्तं, तदेव पुनः विवृणोति—तस्येति । तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा—व्याख्यातमन्यत् । पृथिवी सप्तद्वीपवती सागरमेखला । अक्षरस्तु अकारः । सौऽक्षरः पृथिव्यात्मकः अकारः । मन्त्रब्राह्मणात्मकः ऋग्वेदोऽप्येतदात्मकः । जगदुत्पादको ब्रह्माऽस्य देवता भवति । अष्टावश्यादिनक्षत्रान्ता वसवोऽस्याधिदेवताः एतदात्मानः । गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरात्मिका । गार्हपत्योऽग्निः । एवमुक्ता मात्रा सा प्रणवमन्त्रराजयोः प्रथमः पादो भवति । योऽयमात्मनः प्रथमः पादः प्रणवमात्रारूपः स सर्वोऽपि

चतुरात्मेत्याह—भवति चेति । सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वात् बीजत्वात् साक्षित्वात् स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः चतुरात्मत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

द्वितीयपादध्यानम्

द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णु[ष्णु]-
रुद्रास्त्रिष्टुन्दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति भवति च सर्वेषु
पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः^५ ॥ ३ ॥

उकाररूपिणी द्वितीया मात्रा अन्तरिक्षं अन्तरिक्षलोकः उकाराक्षरः । स एव यजुर्भिः अविवक्षितछन्दोभिः मन्त्रब्राह्मणात्मकोऽयं यजुर्वेदः अध्वर-
प्रकाशकः । जगद्धितकारी विष्णुः अस्य देवता रुद्राः एकादश इन्द्रियाण्य-
स्याधिदैवतानि । त्रिष्टुप्लन्दस्तु च[तुश्च]त्वारिंशदक्षरात्मकम् । दक्षिणाग्निः
प्रसिद्धः । सा द्वितीयः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा
स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः इत्युक्तार्थम् ॥ ३ ॥

तृतीयपादध्यानम्

तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या
जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु
चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥ ४ ॥

तृतीयसंख्याप्ररणी द्यौः द्युलोकः तृतीयमात्राऽभिन्नः सः मकारः । स
सामभिरिति [साम]प्रधानैः मन्त्रैः सह सामवेदः गीतिप्रधानो मन्त्रब्राह्मणात्मकः
सामवेदः । अस्य देवता रुद्रः संहारकर्ता । तत्तादात्म्यं प्राप्ताः द्वादशमासात्मकाः
आदित्याः अस्याधिदैवतम् । तादात्म्यं प्राप्ता जगती अष्टाचत्वारिंशदक्षरात्मकं
छन्दः । स आहवनीयः आहुत्यधिकरणमग्निः । सा तृतीयः पादो भवति
भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः इत्युक्तार्थम् ॥४॥

चतुर्थपादध्यानम्

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोकः ॐकारः
साऽऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता
सा चतुर्थः पादो भवति भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-
सूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥ ९ ॥

मात्रात्रयावसाने या प्रसिद्धा अस्य प्रणवस्य चतुस्संख्यापूरणी अर्धमात्रा
या मात्राऽतीतरूपा सा ह्यर्धमात्रा सोमलोकः, सह उमया विद्यया वर्तते य
ईश्वरः स सोमः । ओंकारमात्राऽतीतप्रणवो हि ऋगादिसारभूतः । सा उक्तार्धमात्रा
आथर्वणैः मन्त्रैः अथर्ववेदः । आथर्वणमन्त्राः षट्कर्मप्रधानाः अथर्वणा दृष्टाः,
तैः सह वर्तमानो मन्त्रब्राह्मणात्मकोऽथर्ववेदः । पाताळमारभ्य त्रिलोकीं
शुष्ककरीषवद्यो निर्दहेत् सोयं संवर्तकोऽग्निः ईश्वरः । एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः
मरुतः वायवः अस्याधिदैवत्यं प्राप्ताः । विराट् दशाक्षरं छन्दः । आथर्वणानां
प्रसिद्धोऽयं एकर्षिः नामाग्निः । यद्यपि मात्रा भास्वती, तथाऽपीयमन्तर्बहिः-
प्रकाशरूपा, ततो विद्वद्भिः भास्वती स्मृता शास्त्रोक्त्या साऽवगता । सा
चतुर्थः पादो भवति, भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीज-
साक्षिभिः इत्युक्तार्थम् ॥ ९ ॥

तुर्यतुर्ये सर्वोपसंहारः

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कृत्वोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं
चिन्तयन् ग्रसेत् ॥ ६ ॥

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कृत्वा चतुर्थमात्रायां मात्रात्रयवत् मात्राचतुष्ट-
येऽपि मात्रा अमात्राः प्रतिमात्राः विधाय अनन्तरं ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं
चिन्तयन् एकानुविद्धं ध्यायन् ग्रसेत् यन्निर्विशेषं ब्रह्म तुर्यतुरीयं तस्मिन्निदं
सर्वमुपसंहरेत् ॥ ६ ॥

तुर्यतुर्यावगतिः

ज्ञोऽमृतो हुतसंवित्कः शुद्धः संविष्टो निर्विघ्न इममसुनियमेऽ-
नुभूयेहेदं सर्वं दृष्ट्वा स प्रपञ्चहीनः ॥ ७ ॥

एवमुपसंहारं कुर्वत इदं रूपं भवतीत्याह—ज्ञ इति । स्वभावतोऽयं ज्ञः सर्वज्ञः अमृतः मरणानुकूलोपाध्यभावात् हुतसंवित्कः येन स्वात्माग्नौ ध्यात्रादि-संविद्धता तथाविधः शुद्धः अशुद्धिहेत्वविद्याऽभङ्गात् संविष्टः सम्यक् स्थिरासने उपविष्टः निर्विघ्नः स्थिरासनतः पुनरुत्थानशून्यः इमं सच्चिदानन्दात्मानं रेचकपूरककुम्भकादिभिः असुनियमे प्राणनियमनेन प्राणबन्धनं यन्मनस्तदपि नियमितं भवति तेन मनसा अनुभूय तुर्यतुर्यस्वमात्रमिति प्रबोधसिद्धानुभवबलेन इदं सर्वं वृसिंहमन्त्रराजप्रणवपादमात्राः तदवान्तरभेदं च दृष्ट्वा तुर्यतुर्यातिरिक्तं नेत्यवगम्य स प्रपञ्चहीनः तुर्यतुर्यावगतेः प्रपञ्चापह्नवपूर्वकत्वात् ॥ ७ ॥

सकलब्रह्मस्वरूपम्

अथ सकलः साधारोऽमृतमयश्चतुरात्मा ॥ ८ ॥

मन्दो[ध्यमो]त्तमाधिकारिणावेवं संबोध्य इदानीं मन्दप्रज्ञं बुबोधयिषुराह—
अथेति । अथोत्तममध्यमाधिकारिभ्यां अन्यो मन्दाधिकारी वक्ष्यमाणप्रकारेण संबोधनीयः । तत् कथं ? चतुर्भेदाढ्यजागरितस्थानतत्रत्याध्यात्मादिविशिष्टविश्ववि-
राडकार-(तद्भेदपर्वतादि)चतुर्भेदेऽस्वप्नस्थानतत्रत्याध्यात्मिकादिभेदवत्तैजसहिरण्य-
गर्भोकार-तथा चतुर्भेदाढ्यसुषुप्तस्थानतत्रत्याध्यात्मिकादिभेदवत्प्राज्ञेश्वरमकार-तथा
तुरीयस्थानोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पोङ्कारगर्भितमन्त्रराजपदजातकलाभिः सह वर्तत
इति सकलः स्वाज्ञादिदृष्टिप्रसक्ताधेयनिरूपिताधारात्मना सह वर्तत इति साधारः
अमृतं ब्रह्म तुर्यतुरीयं तन्मयः तत्प्रायोऽयंसाधारोऽत्मा स चतुरात्मा ब्रह्म-
विष्णुरुद्रसंवर्ताग्निभेदात् सर्वमयः प्रणवमन्त्रराजाक्षरमयत्वात् । तत्र हेतुश्चतु-
रात्मा ॥ ८ ॥

सकलब्रह्मध्यानम्

अथ महापीठे सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं
मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं संदध्यान् । सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं
नाभौ सप्तात्मानं चतुरात्मानमुकारं विष्णुं हृदये सप्तात्मानं
चतुरात्मानं मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्ता-
त्मानं चतुरात्मानमोका सर्वेश्वरं द्वादशान्ते सप्तात्मानं चतुरात्मानं
चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमानन्दामृतरूपं षोडशान्ते ॥ ९ ॥

सर्वमिदं चापि चतुरूपं जाग्रज्जाग्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तकलना-
परमार्थदृष्ट्या यं तुर्यतुर्यं न स्पृशति तादृशं तुर्यतुर्यं ब्रह्म स्वमात्रमित्यज्ञानतः केचित्
संसरन्तो हीयन्ते, तेषां चित्तशुद्धिहेतुयोगप्रदर्शनपूर्वकं तुर्यतुर्यमेव निरूपयति—
अथेति । अथ श्रुत्याचार्यप्रसादानन्तरं श्रीगृहसिंहनिवासहेतुसुपुत्राऽन्तर्गतमहापीठे
स्वानन्यभक्तपटलपरिवारेण सह वर्तत इति सपरिवारम् । यद्वा—पूर्वोक्तपूजापीठे
अङ्गादिद्वात्रिंशद्ब्रह्मन्तर्गतपरिवारेण सह वर्तत इति सपरिवारं तं सकलं
साधारं सर्वमयममृतमयमिति चतुरात्मानं एतं स्वयंप्रकाशसदानन्दात्मानं पृथि-
व्यकार-ऋग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्य — अन्तरिक्षोकारयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षि-
णाग्नि—द्युमकारसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीय—सोमलोक-ओंकारायर्वेदसंवर्त-
काग्निमरुद्विराडेकर्षिरूपाणि चतुस्सप्तसंख्याऽन्वितानि स्वरूपाणि यस्य तं
चतुस्सप्तात्मानं स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिरूपाण्योत्रादीनि वा स्वरूपं यस्य तं
चतुरात्मानं मूलाधारत्रिकोणगतोऽग्निः मूलाग्निः तस्मिन् नृसिंहाग्निरूपं
प्रणवात्मकं संदध्यात् । मात्राभेदानां विभागमाह—सप्तेति । पृथिव्यादि-
गार्हपत्यान्ताः सप्तात्मा स्वरूपं यस्य तं सप्तात्मानं स्थूलादयः ओत्रादयो वा
आत्मा स्वरूपं यस्य तं चतुरात्मानं प्रणवाद्यवयवाकारमात्रारूपं जगत्स्रष्टारं
ब्रह्माणं नाभौ अनुसंधानं कुर्यात् । अथान्तरिक्षादिदक्षिणाग्र्यन्तं सप्तात्मानं
चतुरात्मानं समानं प्रणवद्वितीयमात्रात्मकं उकारं सर्वपालकं विष्णुं हृदये

अनुसन्दध्यात् । ब्रह्माद्याहवनीयान्तं सप्तात्मानं चतुरात्मानं मकारं सर्वोप-
संहारकर्तारं रुद्रं भ्रूमध्ये अनुसन्दध्यात् । सोमलोकाद्येकर्ष्यन्तं सप्तात्मानं
चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं उक्तार्थम् । वस्तुतः चतुस्सप्तात्मानं
चतुरात्मानं स्वात्मरूपनृसिंहतादात्म्यमापन्नं मूलाधारे ध्यातव्यमुक्तवती श्रुतिः ।
इदानीं तु मात्राभेदान् सप्त चतुरश्च प्रतिमात्रास्थानभेदान् ध्यातव्यतयोक्त्वा
चतुस्सप्तात्मानं चतुरात्मानं चोपपादितं ओङ्कारार्धमात्रारूपिणं सप्तात्मानं
चतुरात्मानं स्वेन रूपेण चतुस्सप्तात्मानं चतुरात्मानं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते
अनुसन्दध्यात् । द्वादशान्तं नाम चुबुकमारभ्य यावत्केशाग्रमिदं मस्तकं तस्यान्त इवान्ते
द्वादशान्ते, सहस्रदलपद्मे इत्यर्थः । अकारोकारमकारबिन्दुनादकलाकलातीतात्मक-
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुर्यजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यातीतैश्च सप्तात्मानं चतुरात्मानं
चत्वार ओतानुज्ञाननुज्ञाऽविकल्पात्मानो यस्य तं चतुरात्मानं चत्वारि—
जागरितस्थानस्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः तथा
स्वप्नसुषुप्तस्थानभेदौ, नान्तःप्रज्ञं इत्यादि एकात्मप्रत्ययसारपर्यन्तानि—यस्य तं
चतुस्सप्तात्मानं चतुरात्मानं आनन्दामृतरूपं भ्रूमण्डलादूर्ध्वं षोडशाङ्गुल-
परिमिते देशे सुषुम्नाविलसितषट्चक्राणि भित्त्वा अर्चिरादिमार्गं षोडशाङ्गुलमतीत्य
अन्ते प्रदेशे सहस्रारमारभ्य षोडशाङ्गुलोपरिप्रदेशे ॥ ९ ॥

सकलध्यानेन तुर्यतुर्यप्राप्तिः

अथानन्दामृतेनैतांश्चतुर्धा संपूज्य तथा ब्रह्माणमेव विष्णुमेव
रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेवाविभक्तान् लिङ्गरूपानेव च संपूज्योपहारै-
श्चतुर्धा लिङ्गान् संहृत्य तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य तदधिष्ठानमात्मानं
संज्वालय तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलमवष्टभ्य गुणैरैक्यं संपाद्य
महास्थूलं महासूक्ष्मं महाकारणं च संहृत्य मात्राभि-
रोतानुज्ञाननुज्ञाऽविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत् ॥ १० ॥

अथ एवं सद्विधानन्दासृतरूपेण एतान् अकारोकारमकारार्धमात्रारूढान् ब्रह्मविष्णुरुद्धतुर्यान् मन्त्रराजब्रह्मप्रणवार्थरूपान् स्थूलसूक्ष्मादिमात्रारूढोत्रादिभिः चतुर्धा संपूज्य तुर्यतुर्यनृसिंहातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति भावनामयीं पूजां कृत्वा, “सोऽहंभावेन पूजयेत्” इति श्रुतेः । जगतः सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृब्रह्मविष्णुरुद्दानेव विभक्तान् पृथक्पृथगिव स्थितान् नाभिहृदयभूमध्यस्थानान् वस्तुतः अविभक्तान् त्रीनेव ब्रह्माद्यभिमानतः परिच्छिन्नान् तुर्यतुर्यनृसिंहानन्दतया ध्यात्वा पुनस्तानेव अपरिच्छिन्ननृसिंहरूपेण ध्यायेदित्यर्थः । अध्यात्ममधिदैवं च विभक्तमविभक्तं च यद्रूपं तदेव ध्येयं न त्वाधिभौतिकमित्यत आह—लिङ्गेति । लिङ्ग्यते गम्यते इति लिङ्गरूपानेव नत्वन्यान् चकारो विभक्ताविभक्तरूपाणां तदवस्थानां च प्रत्येकं संपूज्येतिपदसंबन्धार्थः । संपूज्योपहारैः उपसामीप्येन स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः उपहारैः चतुर्धा संपूज्य स्वात्मानं संदध्यादित्यनुवर्तते । अथैवं स्थैर्यप्राप्त्यनन्तरं लिङ्गान् स्वसत्ताहेतुभूतस्वावरजङ्गमान् जागरणस्वप्नसुषुप्तिस्थानान् अधिभूतात्मना अवस्थितान् स्वप्नवदाध्यात्मिकेन परिदृश्यमानान् स्थूलादिसाक्ष्यन्ततश्चतुर्भेदान् संहृत्य अध्यात्मसंहरणं ज्ञात्वा । विमतं दृश्यजातं मत्तो न भिद्यते दृश्यत्वात् स्वप्नदृश्यवत् इति भौतिकप्रपञ्चोऽपि आध्यात्मिकत्वेन अधिगन्तव्यः । आध्यात्मिकोऽपि प्रपञ्चः चतुस्सत्तात्मनृसिंहानुष्टुप्प्रणवार्थरूपो मूलाधारस्थ उपसंहरणीयः इत्येतदर्थमाह—तेजसेति । मूलाधारनिर्गतैतैजसाकारादिरूपेण स्थूलादिशरीरत्रयं संख्याप्य मात्रात्रयारूढविश्वविराडोत्रादिपादत्रयेण सम्यग्व्याप्तिं कृत्वा यत् स्वविकल्पितं तस्य त्रिभेदभिन्नस्य स्वाधिष्ठेयस्य तन्निरूपिताधिष्ठानधर्मस्यापि दाहायानन्दात्मानं संज्वाल्य इदं सर्वं मद्भ्यतिरिक्तं नास्तीति संदीप्य तन् आत्मबोधमन्दीपितं तेजः ध्यात्रादिप्रकाशरूपम् । तस्य स्वभेदं निवारयति—आत्मेति । आत्मनः स्वस्य चैतन्यस्वरूपं बलं स्वाविद्यातत्कार्यभस्मीकरणसामर्थ्यं अवष्टभ्य सर्वोत्कृष्टब्रह्मविष्णवादिगुणैः चतुर्भेदभिन्नैः ऐक्यं सम्पाद्य आध्यात्मिकाधिदैविकरूपेण तादात्म्यमवगम्य महास्थूलं आधिदैविकं चतुर्भेदभिन्नवैराजरूपं चतुर्भेदभिन्नाधिदैविके महासूक्ष्मे हिरण्यगर्भे, महासूक्ष्मं हिरण्यगर्भं चतुर्भेदभिन्नं महाकारणे सर्वोत्पत्तिस्थितिभङ्गाधिकरणे

ईश्वरे महति—चकारः संहत्येतिपदस्य पूर्वत्रापि संबन्धार्थः—संहृत्य उपसंहारं कृत्वा अकारादिमात्राभिः सह अनन्तरं मात्राकलनातीते तुरीये ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपे महाकारणं संहृत्य तदपि अविकल्पाविकल्पतुर्यतुर्यपर्यवसितं ध्यायन् ग्रसेत् । ततः तुर्यतुर्यात्मना स्वयमेव तिष्ठेदित्यर्थः ॥ १० ॥

इति तृतीयः खण्डः

चतुर्थः खण्डः

तुर्यतुर्यस्य स्वमात्रताऽनुसन्धानम्

तं वा एतमात्मानं परमं ब्रह्मोकारं तुरीयोकाराग्रविद्योत-

^१मनुष्टुभा नत्वा प्रसाद्योमिति संहृत्याहमित्यनुसंदध्यात् ॥ १ ॥

षोडशधा विकल्पितब्रह्मप्रणवमात्रापादेयत्तां प्रकटयित्वा अथ नारसिहानुष्टुभा तादात्म्यं यत् सूत्रितं तत्प्रपञ्चनाय इयं खण्डिका आरभ्यते— तमिति । यः परमात्मा प्रणवार्थतयोक्तः तं ईश्वरप्रासं वै प्रसिद्धं एतं प्रत्यञ्च आत्मानं प्रत्यक्परविभागैक्यकलनापायतः परमं निरतिशयं ब्रह्म परिच्छेदत्रयातीतं ओङ्कारम् । किं तदक्षरतया अवस्थितं ? तत्राह— तुरीयोङ्काराग्रविद्योतमिति । कोऽयं तुरीयोङ्कारः ? इत्यत्र अकारोकारमकारापेक्षया अर्धमात्रायाः तुर्योङ्कारत्वम्, तस्यापि तुर्यभागः तदग्रं मात्राकलनाविरळं, तत्रैव तुर्यतुर्यतया विशेषेण द्योत्यत इति तुर्यतुर्यं अनुष्टुभा मन्त्रराजेन नत्वा तत्र मन्त्रराजस्थानवपदार्थं नरसिंहं नमाम्यहमिति पदद्वयेन नत्वा, भगवन् प्रसन्नो भूत्वा प्रह्लादवत् मामुद्धर इति प्रसाद्य । एवं नृसिंहप्रसादं संपाद्य अथ अनन्तरं यद्यत् स्वातिरिक्तवत् भातं

मानुष्टुभं—अ १, अ २, क.

तत्तत् ओं ओङ्काराग्रविद्योततुर्यतुरीयं तदतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति इति संहृत्य
अपह्वं कृत्वा तदपह्वसिद्धं अहं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रं इत्यनुसंदध्यात् ॥ १ ॥

ओमितिशब्दवृत्तिप्रत्ययापह्वविधिः

अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोकारं तुरीयोकाराग्रविद्योतमेका-
दशात्मानं नारसिंहं नत्वोमिति संहरन्ननुसंदध्यात् ॥ २ ॥

अथ अनुसन्धानानन्तरं एतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोङ्कारं तुरीयोङ्काराग्र-
विद्योतं इत्युक्तार्थम्, उग्राद्यहमन्तैकादशात्मानं नारसिंहं नत्वा पूर्ववत्
पदद्वयेनेत्यर्थः, ओमितिशब्दवृत्तिप्रत्ययजातमपि संहरन् अनुसंदध्यात् ॥ २ ॥

निर्विशेषब्रह्मानुसन्धानम्

^२अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोकारं तुरीयोकाराग्रविद्योतं प्रणवेन
संचिन्त्यानुष्टुभा नत्वा सच्चिदानन्दपूर्णात्मसु नवात्मकं सच्चिदानन्द-
पूर्णात्मानं परमात्मानं परं ब्रह्म संभाव्याहमित्यात्मानमादाय मनसा
ब्रह्मणैकीकुर्याद्यदनुष्टुभैव वा ॥ ३ ॥

किमयं एवं कुर्वन् शून्यमात्रपर्यवसायी स्यादित्यत आह—अथेति ।
अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोङ्कारं तुरीयोङ्काराग्रविद्योतं इत्युक्तार्थम् । प्रणवेन
संचिन्त्य पूर्ववत् अनुष्टुभा नत्वा । उक्तार्थं विशदयति—सच्चिदिति ।
सच्चिदानन्दपूर्णात्मसु उग्रमित्याद्येकादशपदेषु उग्रमित्यादिमृत्युमृत्युपदान्तं
नवात्मकं तत्पदलक्ष्यं, नमामीति पदं एकं त्वंपदलक्ष्यं “ जीववाचि नमो नाम ”
इति श्रुतेः, अहंशब्दस्य तयोःरैक्यघटकत्वेन असिपदार्थत्वं युज्यते, एवं
प्रत्यक्परैक्यसिद्धं सच्चिदानन्दपूर्णात्मानं परमात्मानं परं निर्विशेषं ब्रह्म संभाव्य

^१ मेवमात्मा—अ २.

^२ अथैवमेतमात्मानं—अ २, क.

अहमित्यात्मानं त्वंपदार्थं आदाय नवपदलक्ष्यब्रह्मणा नृसिंहेन ब्रह्माहं, अहं ब्रह्म, इत्यखण्डाकारवृत्तिमन्मनसा एकीकुर्यात् स्वाविद्यया अनेकवदाभातं एकतां नयेत् । एवमैक्यसिद्धं ब्रह्म अनुष्टुभैव गम्यमित्याह—यदिति । यत् एवमुक्तं ब्रह्म तदेकादशपदात्मना अनुष्टुभैव अनुसंदध्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥

मन्त्रराजस्य ब्रह्मात्मैक्यहेतुत्वम्

एष उ एव नृ, एष हि सर्वत्र सर्वत्र सर्वात्मा नृ, सिंहोऽसौ परमेश्वरः असौ हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन् सर्वमत्ति, नृसिंह एवैकल एष तुरीय एष एवोत्र एष एव वीर एष एव महानेष एव विष्णुरेष एव ज्वलन्नेष एव सर्वतोमुख एष एव नृसिंह एष एव भीषण एष एव भद्र एष एव मृत्युमृत्युरेष एव नमाम्येष एवाहं एवं योगारूढो ब्रह्मण्ये-वानुष्टुभं संदध्यादौकार इति ॥ ४ ॥

एवं मन्त्रराजस्य ब्रह्मात्मैक्यहेतुतामाह—एष इति । एष उ एव नृ—अयमर्थः, योऽस्यामुपनिषदि ईश्वरप्रास इति प्रसिद्ध एष एव हि उग्रमित्यादिनव-पदलक्ष्यतत्पदार्थः । एवं नमामीति नृशब्दलक्ष्यं त्वंपदार्थः । एवमनेन वाक्येन महावाक्यार्थो वर्णितः । तत्र हेतुः—एष एव हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मेति । नृपदार्थमुपपाद्य सिंहपदार्थमाह—सिंह इति । तस्य तत्त्वंपदगतवाच्यार्थमत्ते-भकुंभस्थलविदागणपाटववीर्यवत्तमत्वात् सिंहशब्देन तत्पदार्थः परमात्मोच्यते । एवं नृसिंहशब्दलक्ष्यार्थप्रत्यगभिन्नपरमात्मस्वरूपमाह—असाविति । असौ परमेश्वरः परमात्मा सर्वत्र सर्वदा देशकालवस्तुषु सर्वदा सर्वात्मा सन् स्वातिरिक्तं सर्वमत्ति । एवं स्वातिरिक्तं प्रसित्वा स्वात्ममात्रतया अवशिष्यत इत्यर्थः । ना चासौ सिंहश्चेति नृसिंहः । एवकारः तदतिरेकमोहनिरसनार्थः । एक एव एकलः स्वद्वितीयाभावात् । यत्रैकस्मिन्नात्मनि स्वातिरिक्तं विलीयते स वा एकलः,

एकब्रह्मावशेषेण यत्र सर्वं विलीयते ।

तद्ब्रह्मैकलमाख्यातं भेदे सत्यपि वस्तुतः ॥

इति स्मृतेः । यः ओङ्कारार्थतयोक्तः एष एव तुरीयः तुर्योङ्काराप्रविद्योत-
तुर्यतुर्यत्वात् । अस्तु नामास्य प्रणवार्थता, कुतः अनुष्टुप्पदार्थतेत्यत आह—
एष इति । एष तुर्यतुर्य एवोप्रः स्वातिरिक्तजाप्रजाप्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्त-
चतुष्पञ्चदशकलनोद्गसनात् । एष एव वीरः स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वविरमणहेतुत्वात् ।
एष एव महान् सर्वमहत्त्वात् । एष एव विष्णुः निरङ्कुशभूमरूपत्वात् । एष
ज्वलन् प्रकाशमात्रत्वात् । एष एव सर्वतोमुखः महाविराट्स्वरूपत्वात् । एष
एव नृसिंहः प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपत्वात् । एष एव भीषणः स्वाभक्तपटलभीषणा-
कृतित्वात् । एष एव भद्रः दिव्यमङ्गळविग्रहत्वात् विकलेबरकैवल्यरूपत्वाद्वा ।
एष एव मृत्युमृत्युः मृत्योः स्वाज्ञानस्य मारकत्वात् । एष एव नमामि
स्वांशजप्राणिपटलनमस्कृतत्वात् प्रत्यगभिन्नरूपत्वाद्वा । एष एवाहं अस्मत्प्रत्यया-
लम्बनप्रत्यग्रूपत्वात् । एवं उक्तप्रकारेण प्रत्यक्परैक्ययोगारूढो विद्वान् ब्रह्मण्ये-
वानुष्टुभं मन्त्रराजं ब्रह्माप्त्युपायं संदध्यात् । ध्यानसर्वस्वमाह— ओङ्कार इति ।
तुरीयोङ्काराप्रविद्योततुर्यतुर्यं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमियनुसंधानं कुर्यादित्यर्थः ।
इतिशब्दः उपदेशप्रकारसमाप्त्यर्थः ॥ ४ ॥

अनुवादकमन्त्रोदाहरणम्

तदेतौ श्लोकौ भवतः—

संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान् गुणार्थान् संयोज्य शृङ्गैर्ऋषभस्य हत्वा ।

वश्यां स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य संभक्ष्य सिंहेन स एष वीरः ॥१॥

शृङ्गप्रोतान् पदा स्पृष्ट्वा हत्वा तामग्रसत् स्वयम् ।

नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्भवौ ॥ इति ॥ ६ ॥

ब्राह्मणोक्तार्थसर्वस्वं वक्ष्यमाणमन्त्राभ्यां स्पष्टयति—तदेताविति । तस्मिन्
उक्तार्थे एतौ वक्ष्यमाणौ श्लोकौ मन्त्रौ भवतः । अहं नृसिंहानुष्टुप्प्रतिपाद्यं

यचुर्यतुरीयं ब्रह्म तन्निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति संस्तभ्य सम्यक् सिंहं ब्रह्ममात्रमव-
 गम्य ज्ञात्वा तज्ज्ञानसमकालं तदेव भवामीत्यर्थः । मन्दानां तत्प्रतिपत्त्युपायमाह
 —स्वसुतानिति । स्वस्य तूलान्तःकरणारूढस्य सुता इवान्तःकरणवृत्तिरूपाः
 बोधाः जागरणजागरणादिचतुष्पञ्चदशकलनाहेतवः तान् स्वसुतान् गुणार्थान्
 सत्त्वादिगुणानां शब्दादिगुणानां चार्थभूतान् पञ्चीकृतापञ्चीकृततत्कार्यरूपान्
 गुणार्थान् ऋषभस्य श्रेष्ठस्य प्रणवस्य मन्त्रराजस्य च शृङ्गैः अकारादिप्रणव-
 मात्राभिः मन्त्रराजपादैश्च स्वसुतान् गुणार्थान् संरज्य तत्र प्रणवमन्त्रराजमात्रा-
 पादातिरिक्तबुद्धिं हत्वा ब्रह्मातिरिक्तं नेति नेति इति निपात्य अनन्तरं कुटिलामिव
 दण्डेन वशीकृतां स्वाविद्यादूतिकां वश्यां प्रतिक्षणं व्यभिचारिणीं स्वात्मनः
 सर्वानर्थकारिणीं बुद्धिवृत्तियुवतीं प्रत्यब्रह्मैक्ययोगाभ्यासबलेन सत्पथि वशीकृतां
 श्यात्रादिनानात्रिपुटीरूपेण स्फुरन्तीं स्वात्मानं श्लाघयन्तीं वस्तुतस्तु असतीं
 कारणतः स्वरूपतो विषयतो वृत्तितश्च शशविषाणवदवस्तुभूतां निपीड्य अपह्वं
 कृत्वा तदपह्ववसिद्धसिंहेन निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्ररूपेण असद्रूपमायातत्कार्याप-
 ह्ववभ्रममपि संभक्ष्य स्वात्मावशेषं खादित्वा अपह्वं कृत्वा स एष वीरः
 एवमपह्वकृत् सम्यज्ज्ञानी निष्प्रतियोगिकतया स्वयमेव शिष्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥
 उक्तार्थं ससाधनमाह—शृङ्गेति । अकारादिप्रणवशृङ्गप्रोतान् पूर्वोक्तगुणान्
 तदर्थांश्च पदा तुर्यपादेन स्पृष्ट्वा तुर्यपादातिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति निश्चि-
 तामपि सकारणां तुर्यपादबुद्धिमपि हत्वा अपह्वं कृत्वा तां अपह्ववृत्तिमपि
 अग्रसन् स्वयम् । प्रसेदिति वक्तव्ये यदग्रसदित्यवादीत् तदविद्यायाः कालत्रयेऽ-
 प्यसत्त्वप्रदर्शनार्थं—स्वाविद्यां स्वावशेषतया प्रसेत् । इत्थं स्वाविद्याऽपह्वतो
 नृसिंहः परमात्मा स्वयमुद्भवौ निरावृतस्वमात्रं विजृम्भत इत्यर्थः । तत्र साध-
 नान्युपदिशति—नत्वेति । तत्तद्भावानुरोधेन विविधनमस्कारान् विधाय ।
 चशब्दात् साधनचतुष्टयसंपत्त्यासादितपारमहंस्यधर्मपूगवदनुष्ठितवेदान्तश्रवणमन-
 ननिदिध्यासनानि निरन्तरं कुर्यादिति द्योत्यते । तत उग्रं वीरं इत्याद्यनेकविशेषण-
 विशिष्टं निष्प्रतियोगिकैकस्वरूपं स्वमात्रमित्यसकृत् दृष्ट्वा दर्शनसमकालं नृसिंहज्ञानी

तन्मात्रतयोद्भवौ । एवं नृसिंहज्ञानी नृसिंह एव भवति, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रसमाम्यर्थः ॥ ६ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

● पञ्चमः खण्डः

अकारानुष्ठुभोस्तादात्म्यम्

अथैष उ एवाकार आप्तमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तत एष ह्येवाप्ततम एष हि साक्ष्येष ईश्वरोऽतः सर्वगतो न हीदं सर्वमेष हि व्याप्ततम इदं सर्वं यद्यमात्मा मायामात्रमेष एवोग्र एष हि व्याप्ततम एष एव वीर एष हि व्याप्ततम एष एव महानेष हि व्याप्ततम एष एव विष्णुरेष हि व्याप्ततम एष एव ज्वलन्नेष हि व्याप्ततम एष एव सर्वतोमुख एष हि व्याप्ततम एष एव नृसिंह एष हि व्याप्ततम एष एव भीषण एष हि व्याप्ततम एष एव भद्र एष हि व्याप्ततम एष एव मृत्युमृत्युरेष हि व्याप्ततम एष एव नमाम्येष हि व्याप्ततम एष एवाहमेष हि व्याप्ततम आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ १ ॥

एवं समग्रप्रणवेनानुष्ठुप्तादात्म्यमुक्त्वा अथेदानीं मात्राभिरपि तादात्म्यं प्रकटयितुं खण्डिका आरभ्यते—अथेति । अथ ओङ्कारानुष्ठुप्तादात्म्यकथना-

नन्तरं एकैकप्रणवावयवेनाकारादिना मन्त्रराजसमन्वय उच्यते । यः प्रणवार्थतया प्रकृतो मन्त्रराजः एष एवाकारः न त्वन्यः । मन्त्रराजार्थनृसिंहस्याकारमात्रापरिच्छित्तितोऽत्यल्पता स्यादित्यत आह—आप्तेति । आप्ततमार्थः अतिशयेन व्याप्तः आप्ततमः सोऽर्थोऽभिधेयज्ञाने प्रयोजनं यस्य सोऽयमाप्ततमार्थः । अतोऽयं नाल्पः, अकारस्य सर्ववाग्व्याप्तेः, “अकारो वै सर्वा वाक्” इति श्रुतेः, किंतु असौ मन्त्रराजतुल्यः । यद्वा—आप्ततमस्वरूपः यथा मन्त्रराजो नृसिंहस्वरूपे वर्तते तथाऽयमकारोऽपीत्याह—आत्मनीति । अकारेऽयं आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते । कथमाप्ततमाभिधेयो नृसिंह इत्यत आह—एष हीति । हि यस्मात् एष एव नृसिंहो नत्वन्यः आप्ततमः अतिशयेन व्याप्ततमत्वात् । एष आप्ततमो नृसिंहो हि यस्मात् सर्वसाक्षी सर्वत्र आत्मात्मीयाभिमानशून्योऽपि स्वविकल्पितसाक्ष्यपटलसाक्षी द्रष्टा । अकारात्मकोऽयं ईश्वरो नियन्ता स्वविकल्पितप्रपञ्चस्येत्यर्थः । अस्मात् नियम्यनियमनहेतोः सर्वगतः सर्वव्यापकः । सर्वव्यापकत्वेन सर्वमयत्वं विकारित्वं स्यादित्यत आह—न हीति । अकारार्थनृसिंहातिरेकेण न ह्यस्तीत्यत्र अयं हेतुः—यस्मात् अकारात्मकोऽयं नृसिंहो व्याप्ततमः । तस्य स्वव्याप्यग्रासत्वात् व्यापकातिरेकेण व्याप्यं नास्तीत्याह—इदं सर्वं यदयमात्मेति । यत् किञ्चित् यदि इदं प्रतीयते तदा तत् सर्वं सोऽयमात्मा नृसिंहः । अतः तत्सर्वं आत्मैवेत्यर्थः । स्वातिरिक्तप्रतीतेः तत्सत्यमेवेत्यत आह—मायामात्रमिति । स्वातिरेकेण विविधं प्रतीयमानस्य स्वाज्ञाननिमित्तत्वात् मायामात्रत्वम् । स्वाज्ञानापाये स्वज्ञानतः स्वयमेवेश्वरग्रासस्तुर्यतुर्योऽवशिष्यते । तदवगतये प्रणवाद्यमात्रात्मकाकारमन्त्रगजैकादशपदानामैक्यसिद्धार्थमाह—एष इति । एष एव नृसिंहात्मको व्याप्ततमोऽकार एव उग्रः, एष हि व्याप्ततमः । एष एव वीरः इत्यादि समानम् । एवं ज्ञानफलमाह—य एवं वेदेति । यः कश्चन देवो वा मनुष्यो वा अधिकारी एवं उक्तप्रकारेण आप्ततमत्वेन हेतुना सर्वात्मकनृसिंहाक्षराकार एवोप्रायेकादशपदात्मक इति वेद सोऽयं आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति सर्वोऽप्यात्मज्ञानादात्मैव भवति । एवं ज्ञानिनः को विशेषः ? इत्यत आह—स इति । सोऽयं प्रणवाद्यमात्रानुष्टुबेकादशपदार्थज्ञानी इदं मे स्यात्

इदं मा भूदिति स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमहेतुः कामः तद्रहितोऽयं अकामः । किं सद्योजातशिशुवत् कामहेत्वप्रविष्ट इत्यत आह—निष्काम इति । अविकलेन्द्रियो विविधविषयज्ञोऽपि निर्गतकामः कामप्रवृत्तिनिमित्तवैरळ्यात् । किमयं रोगादिना अभिभूतः कामात् बिभेति तत्राह—आप्तकाम इति । स्वात्मातिरेकेण न हि कामः कामनीयार्थो वाऽस्तीति स्वात्ममात्रधिया अयमाप्तकामः । येन केन वा आप्तकामश्चेत् कालान्तरे स्वाभिमतकामक्षयतः पुनः तदाप्तुमिच्छा स्यादित्यत आह—आत्मकाम इति । स्वावशेषकामातिरिक्तकामाभावात् । एतादृशस्यापि पारलौकिककामः स्यादित्यत आह—नेति । तस्य एवं ज्ञानिनः प्राणाः मुख्यप्राणसहितेन्द्रियाणि नोत्कामन्ति अत्र ब्रह्मणि एव समवलीयन्ते । एवं विलीनप्राणो विद्वान् स्वाज्ञस्वज्ञपरमार्थदशायामपि ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

उकारानुष्ठुभोस्तादात्म्यम्

अथैष एवोकार उत्कृष्टतमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते तस्मादेप सत्यस्वरूपो न ह्यन्यदस्त्यमेयमनात्मप्रकाशमेष हि स्वप्रकाशोऽसङ्गोऽन्यत्र वीक्षत आत्माऽतो नान्यथा प्राप्तिरात्ममात्रं ह्येतदुत्कृष्टमेष एवोग्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव वीर एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव महानेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव विष्णुरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव ज्वलन्नेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव सर्वतोमुख एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव नृसिंह एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भीषण एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भद्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव मृत्युमृत्युरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव नमाम्येष ह्येवोत्कृष्ट एष एवाहमेष ह्येवोत्कृष्टस्तस्मादात्मानमेवैवं जानीयादात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम

आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव
सन् ब्रह्माप्येति ॥ २ ॥

एवं प्रणवाद्यमात्राऽकारमन्त्रराजपदैक्यं तज्ज्ञानफलं च प्रकटयित्वा
अथोकारमन्त्रराजपदैक्यं तज्ज्ञानफलं च प्रकटयति—अथेति । उकारोऽप्येष
नृसिंह एव । उकारस्य नृसिंहत्वे हेतुः—उत्कृष्टतमार्थः नृसिंहस्य सर्वोत्कृष्टत्वात् ।
अकारापेक्षयोकारस्योपरि विद्यमानत्वादुत्कृष्टत्वम् । उकारोऽभिधानं, अभिधेयो
नृसिंहः, तयोरभेदात् उत्कृष्टतमार्थत्वं युज्यते । यदुक्तं उत्कृष्टतमार्थत्वं न हि
तत्परोक्षं यतोऽयमुकारः आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते । अत एष
नृसिंहात्मकोकारः सत्यस्वरूपः कालत्रयात्राध्यनृसिंहार्थत्वात् । कथमेतस्य
सत्यत्वमित्यत्र हि यस्मात् अस्मादुकारस्वार्थनृसिंहात् अन्यदमेयं नास्ति ।
यद्यन्मेयं तत्तदसत्यं रज्जुसर्पवत् । कथं इदं मेयमित्यत आह—अनात्मप्रकाशं
जडमित्यर्थः । तथा अयमपि स्यादित्यत आह—एष हीति । हि यस्मात् एष
उकारात्मको नृसिंहः स्वयंप्रकाशः प्रकाशमात्रत्वात् । अप्रकाशान्तःकरण-
योगात् कथं प्रकाशमात्रतेत्यत आह—असङ्ग इति । यदि स्वाङ्गदृष्ट्या अन्तः-
करणप्रसक्तिः तदा स्वङ्गदृष्ट्या तत्रासङ्गत्वं, परमार्थदृष्ट्या स्वात्मनः अन्यत्र
वीक्षते अन्यस्यैव मृग्यत्वात् । कोऽन्यत्र वीक्षते इत्यत्र आत्मा उकाररूपो
नृसिंहः । यतोऽयमन्यत्र वीक्षते अतः कारणात् नान्यथा प्राप्तिः प्रकाशमात्रा-
तिरिक्तप्रकाशवैरल्यत्वात् । उक्तार्थं सहेतुकं निगमयति—आत्ममात्रं ह्येतदिति ।
स्वस्य निष्प्रतियोगिकस्वमात्रत्वात् । हि यस्मात् नृसिंहात्मकमुकाररूपं सर्वोत्कृष्टं
तस्मात् एषः उकारस्वरूपो नृसिंह एवोग्रः । तत्रोपपत्तिः—एष ह्येवोत्कृष्टः
विश्वाधिकत्वात् । एष एव वीरः इत्यादि समानम् । यस्मादेवं तस्मात्
उत्कृष्टतमत्वेन हेतुना सर्वात्मकोकारानुष्टुबेकादशपदात्मकं आत्मानमेवैवं
जानीयात् । आत्मैव नृसिंहो देवः इत्यादि व्याख्यातम् ॥ २ ॥

मकारानुष्टुभोस्तादात्म्यम्

अथैष एव मकारो महाविभूत्यर्थं आत्मन्येव नृसिंहे देवे
ब्रह्मणि वर्तते तस्मादयमनल्पोऽभिन्नरूपः स्वप्रकाशो ब्रह्मैवाप्ततम

उत्कृष्टतम एतदेव ब्रह्मापि सर्वज्ञं महामायं महाविभूत्येतदेवोग्रमेतद्धि
 महाविभूत्येतदेव वीरमेतद्धि महाविभूत्येतदेव महदेतद्धि महाविभूत्ये-
 तदेव विष्णवेतद्धि महाविभूत्येतदेव ज्वलदेतद्धि महाविभूत्येतदेव
 सर्वतोमुखमेतद्धि महाविभूत्येतदेव नृसिंहमेतद्धि महाविभूत्येतदेव
 भीषणमेतद्धि महाविभूत्येतदेव भद्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव मृत्युमृत्युवे-
 तद्धि महाविभूत्येतदेव नमाम्येतद्धि महाविभूत्येतदेवाहमेतद्धि महा-
 विभूति तस्मादकारोकाराभ्यामिममात्मानमाप्ततममुत्कृष्टतमं चिन्मात्रं
 सर्वद्रष्टारं सर्वसाक्षिणं सर्वग्रासं सर्वप्रेमास्पदं सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं
 परमेव ब्रह्म मकारेण जानीयादात्मैव नृसिंहो देवः परमेव ब्रह्म
 भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आसकाम आत्मकामो न
 तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीहैव
 प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ३ ॥

अकारोकारानुष्टुप्पदैक्यतत्फलवन्मकारानुष्टुबैक्यतज्ज्ञानफलं चाह—
 अथेति । अथ उकारव्याप्तिकथनानन्तरं मकारव्याप्तिः । एष मकारोऽप्युक्तो
 नृसिंह एव महाविभूत्यर्थः । आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते यतः
 तस्मादयं महाविभूत्यर्थः । ततोऽयं मकाराख्यो नृसिंहः प्रत्यगभिन्नः । पराक्सा-
 पेक्षप्रत्यगभेदेन अल्पता स्यादित्यत आह—अनल्प इति । पराक्प्रपञ्चस्य
 मृग्यत्वात् अनल्पोऽयमित्यर्थः । तत्र हेतुः—अभिन्नरूपः । भेदहेत्वल्पाविद्या-
 वैरळ्यात् अभिन्नत्वमखण्डत्वमुपपद्यते । अत एवायं स्वप्रकाशः अजडस्व-
 रूपत्वात् । ब्रह्मैव भूमैवायं आप्ततमः उत्कृष्टतमः अकारोकारार्थत्वात् ।
 किमेतस्मादप्युत्कृष्टमस्ति ? तत्राह—एतदिति । एतदेव ब्रह्मापि सर्वस्मादुत्कृष्टं
 अपरिच्छिन्नत्वात् सर्वज्ञं सर्वं स्वातिरिक्तं नेतीति ज्ञातृत्वात् महामायं

स्वातिरिक्तप्रपञ्चसर्गस्थितिभङ्गकारिणी महामाया यस्य तत् महाविभूति निरुप-
मैश्वर्यशालित्वात् एतत् मकाररूपं ब्रह्मैवोम्रं एतद्धि महाविभूत्यादि समानमन्यत् ।
[एतदिति] नपुंसकत्वं प्रकृतं, तदनुरोधेन उप्रादिपदानां नपुंसकत्वम् । तस्मात्
यतो मकाररूपं ब्रह्म अकारोकाराभ्यां इममात्मानं नृसिंहं आप्ततमं उत्कृष्टतमं
चैतन्यमात्रतः चिन्मात्रं सर्वस्य चक्षुरादेः द्रष्टारं अवलोकयितारं स्वसाक्ष्यान्तः-
करणवृत्तिजातसाक्षिणं तुर्यतुर्यात्मना स्वातिरिक्तसर्वप्रासं सर्वप्रेमास्पदं सर्व-
स्यात्मत्वात्, आत्मा हि प्रियतमः, “तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयः” इत्यादिश्रुतेः,
सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं परमेव ब्रह्म प्रणवतृतीयमात्रात्मकेन मकारेण जानीयात् ।
आत्मैव नृसिंहः इत्याद्युक्तार्थम् । शास्त्रार्थमुपसंहरति—इहेति । ‘ओमित्येत-
दक्षरं’ इत्यारभ्य ‘ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति’ इत्यन्तं इहैव देवान् प्रति प्रजापति-
रुक्तवान् । आवृत्तिरादरार्था प्रकरणसमाप्त्यर्था च ॥ ३ ॥

इति पञ्चमः खण्डः

षष्ठः खण्डः

देवानामनुष्टुभा आसुरजयः

ते देवा इममात्मानं ज्ञातुमैच्छन् तान् हासुरः पाप्मा
परिजग्राह । त ऐक्षन्त हन्तैनमासुरं पाप्मानं ग्रसाम इति ।
एतमेवोकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमग्रमनुग्रं वीरमवीरं महा-
न्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखं
नृसिंहमनृसिंहं भीषणमभीषणं भद्रमभद्रं मृत्युमृत्युममृत्युमृत्युं

नमाम्यनमाम्यहमनहं नृसिहानुष्टुभैव बुबुधिरे । तेभ्यो हासावासुरः ।
पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिरभवत् ॥ १ ॥

स्वात्मप्रतिपत्त्यन्तरायेयत्ताप्रकटनपूर्वकं तन्निरसनं कुर्वन् आशास्त्रसमाप्ति
निर्विशेषब्रह्म प्रपञ्चयति । आदौ आख्यायिकामवतारयति—ते देवा इति । ये
प्रजापतिनोपदिष्टा उपदेक्ष्यमाणाः ते अग्नीन्द्रादयो देवा इममात्मानं स्वयं-
प्रकाशचिद्रूपं देशिकमुखात् ज्ञातुमैच्छन् । तान् आत्मज्ञानकृतोद्यमान् देवान्
आसुरः पाप्मा स्वाज्ञानतत्कार्यवृत्तिरूपः परिजग्राह किल स्वात्मविस्मृतिपूर्वकं
स्वातिरिक्तविषयेच्छामुदपादयदित्यर्थः । ते देवाः आसुरपाप्मना स्पृष्टा अपि
हन्तेति सानुकम्पं आसुरं पाप्मानं अनात्मप्रत्ययरूपं तदपह्ववसिद्धनिष्प्रति-
योगिकात्मज्ञानबलेन ग्रसामः भक्षयामः नाशयामः इति ऐक्षन्त अवलोकितवन्त
इत्यर्थः । इतिशब्दो देवेक्षणानुकरणार्थः । ते देवाः एतमेव प्रकृतं ओङ्काराग्र-
विद्योतं तुर्यतुरीयमात्मानमेव व्याख्यातं अनुष्टुप्पदार्थरूपेण उग्रमित्याद्येकादश-
विशेषणविशिष्टं सर्वविशेषापह्ववसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्ररूपेण अनुष्टुप्
अवीरं
इत्यादि निर्विशेषतया बोध्यं यत्स्वरूपं तदेव बुबुधिरे साक्षात्कृतवन्तः । तेभ्यः
तेषां देवानां यथाव्याख्यातोऽयं असावासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिर-
भवत् ब्रह्ममात्रस्य निष्प्रतियोगिकतया तदतिरेकेण आसुरपाप्मासंभवात् आसुर
पाप्माऽपि ब्रह्मैव बभूवेत्यर्थः ॥ १ ॥

अपक्ककषायस्य अनुष्टुभा आत्मज्ञानप्राप्तिः

तस्मादपक्ककषाय इममेवोकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानं
नृसिहानुष्टुभैव जानीयात् । तस्यासुरः पाप्मा सच्चिदानन्द-
घनज्योतिर्भवति ॥ २ ॥

यस्मादेवं देवैः स्वभावविपरीतभावप्रापकोऽयं आसुरः पाप्मा ब्रह्मातिरिक्तं
नेति प्रबोधेन ब्रह्ममात्रपदवीं प्रापितः तस्मादपक्ककषायः स्वातिरिक्तास्तिताऽ-

नर्थदृष्टिः इममेव अपरोक्षतया विजृम्भितं ओङ्काराग्रविद्योतं तुर्यतुरीयमात्मानं
नृसिंहानुष्टुभैव जानीयात् । तस्यासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिरेव
भवति स्वज्ञानेन स्वाज्ञानापाये पुराऽनुभूतस्वाज्ञानतत्कार्यं स्वयमेव
भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रणवेन अद्वितीयावगतिः

ते देवा ज्योतिरुत्तितीर्षवो द्वितीया इयमेव पश्यन्त इममेवो-
काराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमनुष्टुभाऽन्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्न-
वस्थिताः तेभ्यस्तज्ज्योतिरस्य सर्वस्य पुरतः सुविभातमविभातमद्वैत-
मचिन्त्यमलिङ्गं स्वप्रकाशमानन्दघनं शून्यमभवत् । एवंवित्स्वप्रकाशं
परमेव ब्रह्म भवति ॥ ३ ॥

कथं तुर्यतुरीयं अविकल्पाविकल्पं ध्यात्रादिविकल्पसत्त्वादित्यत आह—त
इति । ते देवाः ध्यातृध्यानादिज्योतिषः स्वातिरिक्तप्रकाशात् उत्तितीर्षवः उत्तरितु-
मिच्छन्तः । तत्र हेतुः—स्वातिरिक्तध्यात्रादिरूपद्वितीयादपि भयमेव पश्यन्तः
ध्यानादिव्यापृतावपि संसृतिसमानबुद्धिं कृतवन्तः । तच्छमनाय किं कृतवन्त
इत्यत्र—इममेवोङ्काराग्रविद्योतं तुर्यतुर्यमात्मानं अनुष्टुभा अन्विष्य षोडश-
मात्रात्मकतुर्यप्रणवेनैव च सम्यगन्विष्य निर्धार्य य एवं निर्धार्य सिद्धोऽर्थः तरिम्न्
तुर्यतुर्यात्मनि परमाकाशे उपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत् अवस्थिताः तन्मात्रतां
गतवन्तः तेभ्यः तेषां देवानां पुराऽनुभूततद्भ्यात्रादिज्योतिः अस्य सर्वस्य
जगतः स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्य पुरतः पुरस्तात् सुविभातं ध्यात्रादित्रिपुटिशून्यतया
प्रतीतं तथा अस्य जगतः स्थितिकाले प्रळयानन्तरमपि यत् स्वमात्रतया
सुविभातं स्वातिरेकेण अविभातं स्वमात्रतया भातमित्यपि वक्तुमशक्यतया विभातं
अत एव अद्वैतं निष्प्रतियोगिकं, निष्प्रतियोगिकमिति चिन्त्यमित्यत्र अचिन्त्यं,
अचिन्त्यत्वे किं लिङ्गं ! इत्यत्र अलिङ्गं, केनाप्यचिद्धितत्वात्, यत् लिङ्गवन्न

तत् ब्रह्म भवितुमर्हति, तथा चेदसदप्रकाशं ब्रह्म इत्यत्र यत् स्वातिरिक्तासत्प्रपञ्चं प्रसित्वा सन्मात्रतया अवशिष्टं तत् स्वप्रकाशं प्रकाशमात्रत्वात्, यत् प्रकाशमात्रं तत् आनन्दघनं निरतिशयपरमानन्दस्वरूपम् । तत्र स्वयंप्रकाशत्वादिविशेषता स्यादित्यत आह शून्यमिति, स्वयंप्रकाशत्वाद्यशेषविशेषशून्यमित्यर्थः । एवंविदो ध्यात्रादित्रिपुटीज्योतिस्सुविभातमित्यादिसप्तविशेषणप्रतिपाद्यब्रह्मैवाभवदिति भावः । यथा देवपूगो ब्रह्मवेदनसमकालं ब्रह्माभवत् तथाऽन्योपि भवतीत्याह—एवमिति । देववत् एवंवित् विद्वान् स्वप्रकाशं परमेव ब्रह्म भवति ॥ ३ ॥

संन्यासस्य ब्रह्मावगतिसाधनत्वम्

तं देवाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ससाध-
नेभ्यो व्युत्थाय निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता
अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्तमानाः शान्ता
दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा
आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं
जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः । तस्मात्तद्देवानां व्रतमाचरन्नोकारे परे
ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत् स आत्मन्येवात्मानं परं ब्रह्म पश्यति ॥ ४ ॥

एवं प्रणवमन्त्रराजप्रबोधतो निर्विशेषब्रह्माप्तिरुक्ता । न हि सेयं संसारिभिः
स्मर्तुं शक्या । देवानां संसारित्वात् कथं ते तत्पदमर्हन्ति इत्याशङ्क्य प्रजापत्यु-
पदेशोत्तरक्षणमेव देवाः पारिव्राज्यधर्मालंकृताः सन्तः स्वातिरिक्तास्तितताभ्रम-
मुत्सृज्य स्वातिरिक्तभ्रमापह्नवसिद्धब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना भवन्तीत्याह—ते देवा
इति । ते प्रजापतिशिष्याः देवाः प्रजापतिमुखतः स्वात्मतत्त्वज्ञानमवगम्य
परारोपितप्रातिभासिकशरीरादावात्मात्मनीयभावविकलाः सन्तः तत्रैव परिसमाप्ता
इत्यन्वयः । तत्र केचन अनुत्पन्नसाक्षात्काराः देवाः तत्साक्षात्कारोपायतया
अनुत्पन्नपुत्राणामुत्पत्तिप्रार्थना उत्पन्नानां तद्योगक्षेमप्रार्थना च पुत्रैषणा तस्याः

पुत्रैषणायाश्च—चकारात् तत्साधनेषणाऽपि गृह्यते—तथा लोकद्वयसाधक-
 विचैषणायाश्च श्रौतस्मार्तकर्मज्ञन्यसुखैषणा लोकैषणा तस्या लोकैषणायाश्च
 एषणात्रयस्यापि साधनानि विविधविषयस्मरणानि तैः सह वर्तमानाः ससाधनाः
 ताभ्यः ससाधनाभ्यो व्युत्थाय । तत्र ये स्युः उत्पन्नसाक्षात्काराः न हि ते
 स्वातिरिक्तं पुत्रवित्तादिकं पश्यन्ति नापि स्मरन्ति । ततः तेषां ससाधनाभ्यः
 एषणाभ्यः व्युत्थानं सहजसिद्धम् । ये च तेभ्योऽन्ये मुमुक्षवः श्रुत्याचार्यमुखतः
 स्वात्मयाथात्म्यावगतिसाधनतया ससाधनाभ्यः पुत्राद्येषणाभ्यः व्युत्थाय पारमहं-
 स्याश्रमे प्रविशन्ति तेषां लक्षणं किं ? इत्यत्र—निरागाराः सर्पवत् स्वावासार्यं
 गृहारंभवर्जिताः निष्परिग्रहाः देहमात्रधारणेतर्परिग्रहशून्याः सामगमाणवकवत्
 अशिखाः बालवत् अयज्ञोपवीताः अन्धाः ब्रह्मातिरिक्तरूपसामान्यमपश्यन्तः,
 यद्वा—श्रीरामवत् परस्त्रीदर्शनविषयालोचनाविरळाः, बधिराः दैत्यगुणगणश्रवणे
 श्रीकृष्णवद्विषयवार्ताश्रवणशून्याः मुग्धाः देवाङ्गनादर्शनेऽपि शुक्वद्विषयाभिलाष-
 शून्याः क्लीबाः उर्वशीसंभोगाशारहितार्जुनवत् स्त्रीसामान्योपभोगशून्याः मूकाः
 परनिन्दास्तुतिरहिताः उन्मत्ताः इव परिवर्तमानाः नारदवत् भूमण्डलमन्तः
 व्यासवत् शान्ताः प्रशान्तान्तःकरणत्वात् नारायणवत् दान्ताः नियतेन्द्रियत्वात्
 सनकादिवत् बाह्यान्तर्व्यापृत्युपरताः वसिष्ठादिवत् तितिक्षवः क्षमासारत्वात्
 लक्ष्मणवत् समाहितमनसः आत्मरतयः आत्मन्येव न बाह्यदारादौ रतिः येषां
 ते आत्मन्येव क्रीडा विनोदो न सखीजनेषु येषां ते आत्मक्रीडाः
 आत्मपरमात्मनोः मिथुनं ऐक्यं येषां ते आत्ममिथुनाः आत्ममात्रतया नन्दन्तीति
 आत्मानन्दाः प्रजापत्युपदिष्टपञ्चदशमात्रातत्कार्यविरल्लतुर्यतुर्यप्रणवमेव परं
 ब्रह्मात्मप्रकाशं स्वातिरिक्तकलनाशून्यं जानन्तः तत्रैव तुर्यतुरीये निष्प्रतियोगिक-
 ब्रह्ममात्रे परिसमाप्ताः तुर्यतुर्यस्वरूपेण अवशिष्यन्त इत्यर्थः । यथा देवानां
 ब्रह्मभावापत्तिहेतुः संन्यासः तथा अन्येषामपि तुर्यतुरीयासिमिच्छतां सर्वकर्म-
 संन्यासपुरस्सरं तदवगतिस्तत्फलं च स्यात् नान्यथेत्याह—तस्मादिति ।
 यस्मान्न हि संन्याससहितज्ञानं विना मुक्तिरस्ति न ह्यनात्तसंन्यासानां प्रणवार्थ-
 तुर्यतुरीये निष्ठा तद्दधानं जपाधिकारो वाऽस्ति तस्मात् तद्देवानां प्रजापति-

शिष्याणां एषणात्रयसंन्यासलक्षणं ब्रतं पारमहंस्यं अनुतिष्ठन्नोङ्कारे तुरीयोङ्काराप्र-
विद्योततुर्यतुरीये परे ब्रह्मणि निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रे पर्यवसितो भवेत् एतावन्तं
कालं पारमहंस्यधर्मावलम्बनपूर्वकं प्रणवजपंध्यानादिकं कृतमिति न हि तत्र
विरतिः कार्या किंतु आदेहपातमनुष्ठेयम् । कुतश्चित् प्रतिबन्धकवशात् यद्यस्मिन्
देहे तुर्यतुर्यसाक्षात्कारो न जातः शास्त्रप्रामाण्यात् देहान्तरे वा भविष्यत्येवेत्यव-
गन्तव्यम् । एवं ओङ्कारपर्यवसाने पारमहंस्याश्रमावलम्बनतः क्रियमाणे सोऽयं
प्रणवचिन्तको मुनिः स्वात्मन्येव स्वात्मना स्वात्मानं परं निरतिशयं ब्रह्म
स्वमात्रमिति पश्यति साक्षात्करोतीत्यत्र—

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।

तस्य द्वादशभिर्मांसैः परं ब्रह्म प्रसीदति ॥

इति श्रुतेः ॥ ४ ॥

अनुवादकमन्त्रोदाहरणम्

तदेष श्लोकः—

शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत् ।

शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबध्य त्रयो देवा उपासते ॥ इति ९ ॥

तत् तस्मिन्नुक्तार्थे एष श्लोको मन्त्रो भवतीत्याह—शृङ्गेष्विति ।
विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तशृङ्गेषु अशृङ्गं शृङ्गरहितं अविकल्पविकल्पं
तुर्यतुर्यं संयोज्य संबध्य ततः सिंहं चतुष्पदं तृसिहानुष्टुभं शृङ्गेषु अकारो-
कारमकारार्धमात्रारूपेषु योजयेत् पूर्ववद्योजयेत् धियैव संबन्धं कुर्यात् ।
शृङ्गाभ्यां आसतमोत्कृष्टतरूपाभ्यामकारोकाराभ्यां शृङ्गं महाविभूतिरूपं
मकारं—यथा तुर्यबुद्ध्या त्रयमवलोकनीयं तथा मकारधिया अकारोकाराप्य-
वलोकनीयौ—आबध्य बुद्ध्या सर्वतोबन्धनं कृत्वा—असङ्गोदासीनस्वभावानां
देवानां कर्तृत्वं—त्रयः त्रिसंख्याकाः देवाः अकारोकारमकाराणां अधिष्ठातारोऽ-
ध्यात्मं विश्वतैजसप्राज्ञाः अधिभूतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः अधिदैवं विराड्द्विरण्य-

गर्भेश्वराः व्याविद्धाध्यात्माधिभूताधिदैवपरिच्छेदद्योतनात्मका उपासते, कृतकृत्याः सन्तः शृङ्गाशृङ्गसिंहतादात्म्यकरणेनौदासीन्यं भजन्ते, जाग्रदाद्यवस्थामवगच्छन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति षष्ठः खण्डः

सप्तमः खण्डः

तुर्यतुर्यज्ञानाय देवानां प्रश्नः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् भूय एव नो भगवान् विज्ञापयत्विति ॥ १ ॥

एवं प्रजापतिना उपदिष्टात्मतत्त्वाः देवाः कथमयं प्रजापतिः वाञ्छन-सार्तीतमात्मानमुपदिशति, कथं वयं अधिगच्छामः, इति च मन्वानाः पुनः पृष्ठवन्तः इति स्वकीयामौत्सुक्योक्तिं परिसमाप्य पुनः देवप्रश्नमवतारयति— देवा इति । देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् । किमिति ? पूर्वमुक्तमपि भूय एव नोऽस्माकं भगवान् तुर्यतुर्ययाथात्म्यं विज्ञापयत्विति ॥ १ ॥

आत्मनः तुर्यतुर्येण एकीकरणोपदेशः

तथेत्यजत्वादमरत्वादजरत्वादमृतत्वादभयत्वादशोकत्वादमोह-
त्वादनशानायत्वादपिपासत्वादद्वैतत्वाच्चाकारेणममात्मानमन्विष्योदु -
त्कृष्टत्वादुदुत्पादकत्वादुदुत्प्रवेष्टृत्वादुदुत्थापयितृत्वादुदुद्भृष्टत्वादुदु -
त्कर्तृत्वादुदुत्पथवारकृत्वादुदुद्भासत्वादुदुद्भ्रान्तत्वादुदुत्तीर्णविकृतित्वा-

चोकारेणममात्मानं परमं ब्रह्म नृसिंहमन्विष्याकारेणममात्मान-
मुक्कारपूर्वार्धमाकृष्य सिंहीकृत्योत्तरार्धेन तं सिंहमाकृष्य महत्त्वान्मह-
स्त्वान्मानत्वान्मुक्तत्वान्महादेवत्वान्महेश्वरत्वान्महासत्त्वान्महाचि-
त्वान्महानन्दत्वान्महाप्रभुत्वाच्च मकारार्धेनानेनात्मनैकीकुर्यात् ॥ २ ॥

एवं देवैरुक्तः प्रजापतिः तथेति तदुक्तमङ्गीकृत्य पुनरपि भवतो
विज्ञापयिष्यामि इति वक्ष्यमाणप्रकारेणाह—अजत्वादित्यादि हेतुभिः । अजत्वात्
प्रणवस्य मन्त्रराजस्य च जन्मरहितत्वात्, “ओङ्कारस्य तु नित्यत्वात्
नाञ्जसोत्पत्तिरिष्यते” इति वार्तिककारोक्तेः । ओङ्काराप्रतया विद्योतमानतुर्यतुरीयं
ब्रह्मैव सत्यं निष्प्रतियोगिकाजत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः । एवं वक्ष्यमाणहेतवो
यथायोगं व्याख्येयाः । अमरत्वात् मरणशून्यत्वात् अजरत्वात् जरारहितत्वात् ।
जनिमृतिजरानिराकरणतः स्थूलशरीरं अकारात्मा न भवतीत्युक्तम् । इदानीं
सूक्ष्मशरीरस्य अनात्मत्वमाह—अमृतत्वादिति स्वापमहाप्रलयादावपि मरण-
शून्यत्वात् । अभयत्वात् भीहेतुद्वैताभावात् । अशोकत्वात् शोचनीयेष्टजना-
भावात् । यस्मात् मृतिशोकमोहविशिष्टः सूक्ष्मदेहात्मा अकारात्मनः तद्विलक्षण-
त्वात् प्राण एवात्माऽस्तु इत्यत्र अनशनायत्वात् प्राणो ह्यशनायाधर्मकः
अकारात्मा तु तद्विलक्षणः । तथा अपिपासत्वात् । लिङ्गशरीरस्य अनात्मत्वेऽपि
सर्वकारणमव्याकृतमकारात्मा स्यादित्यत्र अद्वैतत्वाच्च द्वैतधर्मवदज्ञानमव्यक्तं
अद्वैताकारात्मनः तद्विलक्षणत्वात् । चशब्दः असङ्गत्वादिसमुच्चायकः ।
अजाद्यात्मना अकारेण प्रणवप्रथममात्रारूपेण इमं आनन्दात्मानमन्विष्य
आचार्योपदेशानुरोधेन अन्वालोचनं कुर्यात् । यथा अजादिहेतुना आत्मनः
अकाररूपता तथा उत्कृष्टत्वादिहेतुना उकाररूपता स्यादित्याह—उत्कृष्टत्वा-
दिति । यतः आत्मनः सर्वस्मादौत्कृष्ट्यम् । सर्वत्र उच्छब्दो निरतिशयोत्कृष्टत्व-
द्योतकः, समुच्चयार्थो वा, स्वातिरिक्तप्रपञ्चोत्पादकत्वात् । हेतुचतुष्टय(?)माह—
उत्प्रवेष्टृत्वात् स्वसृष्टशरीरादावुत्कर्षेण प्रवेशकर्तृत्वात्, शरीरादेः सर्वव्यापृति-
कर्तृत्वेन उत्थापयितृत्वान्, उद्घृष्ट्वान् शरीराद्यभिमानोत्कर्षतो विविधावलोक-

यितृत्वात्, समस्तभूतभौतिकादेरुत्कर्षणं कर्तृत्वात् उदुत्पथवारकत्वात्
 उन्मार्गनिवारकत्वात्, उदुद्ग्रासत्वात् सर्वप्रासेश्वरत्वात्, उदुद्भ्रान्तत्वात्
 जीवरूपेण अतस्मिंस्तद्भावरूढत्वात् उदुत्तीर्णविकृतित्वाच्च विकृतिः स्वाज्ञान-
 तत्कार्यं यत् स्वा[स्व]ज्ञानेन तीर्णं सोऽयं उदुत्तीर्णविकृतिः उकारात्मा तद्भावः
 तत्त्वं तस्मात् । उक्तहेत्वतिरिक्तहेतुसमुच्चयार्थः चकारः । एवमुकारेणापि
 इममात्मानं स्वप्रकाशं परमं ब्रह्म नृसिंहमन्विष्याकारेण इममात्मानं
 उकारपूर्वार्धं उकारस्योच्यमानस्य पूर्वार्धं पूर्वस्थानं पूर्वभागत्वेनोक्तं अकारं
 अनुष्टुभश्च पादद्वयार्धं आकृष्य अमिहमपि सिंहीकृत्य अनुष्टुप्पूर्वार्धेन तादात्म्यं
 गमयित्वा उत्तरार्धेन नृसिंहानुष्टुभ उत्तरपादद्वयरूपेण तं अकारात्मकं सिंहं
 सिंहानुष्टुभः प्रथमार्धं आकृष्य एकीकृत्य एकत्वमापादयेत् इति वक्ष्यमाणेनान्वयः ।
 यथा अकारोकारावप्यात्मरूपौ तथा मकारोऽपीत्यत्र हेतुमाह—महत्त्वादिति ।
 गुणतो वस्तुतश्च महत्त्वात् महस्त्वान् अमिततेजोरूपत्वात् चक्षुरादिवत्
 मानत्वात् स्वाविद्यातत्कार्यमुक्तत्वात् देवपरिवृद्धशंकररूपेण महादेवत्वात्
 सकलनियन्तृत्वेन महेश्वरत्वात् स्वातिरिक्तानृतजडदुःखप्राससच्चिदानन्दरूपेण
 महासत्त्वात् महाचित्त्वात् महानन्दत्वात् स्वातिरिक्तोपसंहारसमर्थत्वेन
 महाप्रभुत्वाच्च । चकारो निरतिशयत्वख्यापनार्थः । मकारार्धेनानेन सर्वप्रत्य-
 गभिन्नेन वस्तुतः तुर्यतुर्गीयेण आत्मना एकीकुर्यात् ॥ २ ॥

एकीकरणफलम्

अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वरारु

भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

एवं कर्तुः फलमाह—अशरीर इति । स्थूलशरीराभावात् । निरिन्द्रियः
 अप्राणः लिङ्गशरीरवैरल्ल्यात् । अतमाः कारणाज्ञानाभावात् । अनृतजड-
 दुःखात्मकस्थूलादिशरीरत्रयापह्नवतः सच्चिदानन्दमात्रः निष्प्रतियोगिकत्वात्,
 “सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत्” इति श्रुतेः । य एवं वेद सोऽयं
 मुनिः स्वातिरिक्तं प्रसित्वा स्वमात्रं राजत इति स्वरारु भवति ॥ ३ ॥

स्वात्मनः स्वराड्भावः

कस्त्वमिति । अहमिति होवाच । एवमेवेदं सर्वं तस्माद-
हमिति सर्वाभिधानं तस्यादिरयमकारः स एव भवति सर्वं
ह्ययमात्माऽयं हि सर्वान्तरो न हीदं सर्वमहमिति होवाचैव
निरात्मकमात्मैवेदं सर्वं तस्मात् सर्वात्मकेनाकारेण सर्वात्मकमात्मान-
मन्विच्छेत् ॥ ४ ॥

स्वात्मनः स्वराड्भवनरूपाख्यायिकां दर्शयति—कस्त्वमिति । पूर्वं
असुरशिशुपरित्राणनहेतोः स्तम्भादवतीर्णं स्वावतारकार्यसिद्धयनन्तरं भद्रासनारूढं
दृष्ट्वा ब्रह्मादयो देवाः अत्यद्भुतदर्शनः त्वं कः ? इति तैः एवं पृष्ठो भगवान्
केवलकृपयैव तेषां मन्त्रराजमुपदिशन् तच्चरमपदेन अहमिति होवाच । किमिति ?
एवमिति । स्वस्य सर्वात्मकत्वेन सर्वनामान्यवगच्छन् वस्तुतः स्वराडपि
युष्मच्छब्दप्रतियोगिनं अस्मच्छब्दं प्रकटितवान्, यत् ब्रह्मादिस्तम्भान्तप्रागिजातेन
अहंप्रत्ययाभ्यां व्यवहियते तदेवेत्यर्थः । एवमेव अनेन प्रकारेण इदं सर्वं उद्भूता-
हङ्कारं अनुद्भूताहंकारं च चेतनाचेतनात्मकं सर्वाभिधानं अहमित्यनेन शब्देन सर्व-
मभिधीयते । प्रकृते किं आयातं इत्यत आह—तस्येति । तस्य प्रजापत्युच्चारितानुष्ठु-
बन्ताहंपदस्य आदिः प्रथमो वर्णः अकारः स एव स्वराड् भवति । अकारस्य
सर्ववाग्व्याप्त्या सर्वरूपत्वमस्तु नत्वात्मत्वं इत्यत आह—सर्वं ह्ययमात्मेति ।
आत्मत्वेऽपि प्रत्यक्तत्वं कुतः ? इत्यत आह—अयमिति । हि यस्मात् अयं
सर्वान्तरः प्रत्यक्तमः इत्यर्थः । एकस्य सर्वरूपत्वं सर्वप्रत्यक्तमत्वं च विरुद्धं
इत्यत आह—न हीति । हि यस्मात् इदं भूतभौतिकप्रपञ्चजातं न निरात्मकं किं
तु अहमिति होवाच न मत्तोऽन्योऽनात्मप्रपञ्चोऽस्ति । यत एवं अतः सर्वात्मत्वं
सर्वप्रत्यक्तत्वं अविरुद्धमित्यर्थः । इदं सर्वं आत्मा चेति द्वैतापत्तिः स्यादित्यत आह
—आत्मैवेदं सर्वमिति । रज्ज्वतिरिक्तसर्पाभाववत् मदतिरिक्तसर्वं नास्तीत्यर्थः ।
उक्तार्थं स्मारयति—तस्मादिति । यस्मादकारः सर्वात्मा तस्मात् सर्वात्म-
केनाकारेण सर्ववागात्मना स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वात्मकमन्विच्छेत् ॥ ४ ॥

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वं सद्धीदं
सर्वं सत् सदिति चिद्धीदं सर्वं काशते प्रकाशते चेति ॥ ९ ॥

आत्मातिरेकेण ब्रह्मणः सत्त्वात् कथं सर्वात्मकः आत्मा इत्यत आह—
ब्रह्मैवेदं सर्वमिति । न हि ब्रह्मातिरेकेण आत्माकारादिरस्तीत्यर्थः । प्रधानवत्
ब्रह्म जगत्कारणं इत्यत आह—सच्चिदानन्दरूपमिति । न हि तत् प्रधानवत्
जगत्कारणं, किं तु एकमेवाद्वितीयं स्वातिरिक्तजगद्वैरळ्यात् । अनृतजडदुःखात्मक-
जगत्प्रतीतौ सत्यां तद्विपरीतब्रह्म नास्तीत्यत आह—सच्चिदानन्दरूपमिदं
सर्वमिति । यो जगदनृतजडदुःखात्मकं पश्यति तस्य तद्वेतुस्वाज्ञानापाये
पूर्वमिदन्त्वेन यदनुभूतं तत् सर्वं सच्चिदानन्दरूपमेव भवतीत्यर्थः । हि यस्मात्
सद्धीदं सर्वम् । तदेव प्रपञ्चयति—सत्सदिति । व्यभिचरदपि घटादिवस्तुजातं
तद्गतसत्ता न हि व्यभिचरति, इदं सत् इदं सत् इति प्रतीतेः । जगतः सद्रूपता
अस्तु, तस्य जडत्वेन चिद्रूपता कुतः ? इत्यत आह—चिद्धीदं सर्वमिति । हि
यस्मात् इदं सर्वं चैतन्यरूपम् । तत्र हेतुः—काशते प्रकाशते चेति । यदि सत्ता
न प्रतीयेत ततः असदेव स्यात्, सन् घटः प्रतीयते इति प्रतीतेः सार्वजनीनत्वात् ।
चशब्दः समुच्चयार्थः ॥ ९ ॥

सच्चिदानन्दानुभवप्रकाशः

किं सदिति । इदमिदं नेत्यनुभूतिरिति ॥ ६ ॥

कैषेति । इयमियं नेत्यवचनेनैवानुभवन्नुवाच । एवमेव चिदा-
नन्दावप्यवचनेनैवानुभवन्नुवाच । सर्वमन्यदिति स परमानन्दस्य
ब्रह्मणो नाम ब्रह्मेति तस्यान्त्योऽयं मकारः स एव भवति तस्मान्म-
कारेण परमं ब्रह्मान्विच्छेत् ॥ ७ ॥

सत् सत् इति सत्ता व्यवस्थाप्यते, न हि तत्रानुभवो निसर्गो भवितुर्मर्हति इति मन्वानाः पृच्छन्ति—किं सत् इति । यदुक्तं सत् सत् इति तत् किं ? न हि सत् इति वक्तुं शक्यं सत्ताऽनुभवस्य असार्वत्रिकत्वात् सत्तामन्तरेण घटप्रतीतेः । इतिशब्दः प्रश्नसमात्यर्थः । उत्तरमाह—इदमिदं नेत्यनुभूतिरिति । घटोऽयं पटोऽयं इति द्विधा प्रतीतिः । यद्वा—यदिदं परिदृश्यमानं प्रपञ्चजातं तदिदं न किंतु अनिदंरूपं इत्याचार्योपदेशजैव अनुभूतिः, स्वरूपचैतन्यरूपा सा सत्येति शेषः । इतीत्युत्तरपरिसमाप्तौ ॥ ६ ॥ इदानीमनुभूतिं पृच्छन्ति—कैषेति । एषा अनुभूतिः भवतोच्यमाना न तावत् जायमाना, तथात्वे घटवदनित्यत्वापत्तेः, प्रतीत्यर्हत्वात् जायमाना वा सा का । इति प्रश्नसमाप्तौ । प्रश्नोत्तरं प्रजापतिराह—इयमियं नेति । यत्र या काचन अनुभूतिः विविधभेदगर्भिणी भवद्विरनुभूता सा कदाऽपि नेतीति अवचनेनैव आकारेङ्गिता दिभिः अनुभवन् आत्मसाक्षात्कारं कुर्वन् ब्रह्मानन्दाश्रूणि मुञ्चन् निरुत्तरेणोत्तरं उवाच, सर्वापह्ववसिद्धब्रह्ममात्रानुभूतेः वाचा वक्तुमशक्यत्वात् । यथा सत्तोक्ता तथा चिदानन्दावपि उक्तवानित्याह—एवमिति । यथा सत्ताऽनुभूतिरवचनेनोक्ता एवमेव चिदानन्दावपि अवचनेनैव अनुभवन्नुवाच यथा सच्चिदानन्दानवचनेनानुभवन्नुवाच तद्वत् स्वयंप्रकाशत्वादिधर्मान् देवैरपृष्ठानप्युक्तवान् इत्याह—सर्वमिति । सर्वमन्यदपि देवैः पृष्ठं अपृष्ठं अवचनेनैव आत्मत्वेन अनुभवन्नुवाच । किमिति ? स प्रजापतिः परमानन्दस्य ब्रह्मणो नाम नामधेयं ब्रह्मेत्यत्र अन्त्यवर्णो मकारः स एव परमानन्दब्रह्मरूपा भवति । यस्मात् एवं तस्मात् मकारेण परमं गुरूपदेशमार्गेण अन्विच्छेत् ॥ ७ ॥

ब्रह्मयाथात्म्यनिरूपणम्

किमिदम् । एवमित्यकार इत्येवाहाविचिकित्सन्नकारेणम-
मात्मानमन्विष्य मकारेणानुसंध्यादुकारेणाविचिकित्सन्नशरीरो-
ऽनिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराङ्ग भवति य
एवं वेद ॥ < ॥

ब्रह्म वा इदं ^१सर्वमत्तत्त्वाद्गुप्तत्वाद्दीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्व-
लत्वात् सर्वतोमुखत्वानृसिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्न-
• मामित्वादहंत्वादिति सततं ह्येतद्ब्रह्मोत्पत्त्वाद्दीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वा-
ज्ज्वलत्वात् सर्वतोमुखत्वानृसिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्न-
मामित्वादहंत्वादिति ॥ ९ ॥

तस्मादकारेण परमं ब्रह्मान्विष्य षकारेण मनआद्यवितारं
मनआदिसाक्षिणमन्विच्छेत् ॥ १० ॥

पुनरिदानीं देवाः ब्रह्मयाथात्म्यजिज्ञासवः पृच्छन्ति—किमिदमिति ।
वाङ्मनसातीतं इदं ब्रह्मैव अनेकप्रकारेण अवगम्य किमिल्यनेन प्रकारेण
पपच्छुरिति शेषः । तैः एवं पृष्टः प्रजापतिः अरे बुद्धिशून्यदेवसमूह इति
हीनसंबोधनेन देवान् संबोध्य तत्प्रश्नमङ्गीकुर्वन् इत्येवमाह । किमिति ? न हि
सच्चिदानन्दमात्रे ब्रह्मणि स्वाज्ञानमन्तरेण कश्चन व्यवहारोऽस्ति । ततो मया
पूर्वमविद्याऽतीतवस्त्वपेक्षया मौनेन स्थितं, अविद्याऽपेक्षया तु मकारेण
अवगम्यते इत्युक्तम् । यत एवं अतः न पूर्वोत्तरविरोध इत्यनेन प्रकारेण
अविचिकित्सन् अवोचं, अतो मया एवं वाङ्मनसातीतं ब्रह्म अवचनेनोक्तं, तत् कथं
इदानीं मकारेण अवगम्यमिति विरुद्धमुक्तमिति संशयं कुर्वन् विद्याऽविद्याविषय-
तयाऽविरुद्धं उभयमपीत्यर्थः । तस्मात् यतोऽविद्यादशायां अनेकसाधनव्यपेक्षया
ब्रह्मावगतिः भवितव्या खलु तत्र त्वंपदार्थशुद्धिकारिणा [अकारेण] इमं
आनन्दात्मानं आचार्यमुखतोऽन्विष्य तत्पदार्थशुद्धिकारिणा मकारेण प्रत्यगभिन्नं
ब्रह्म अनुसंदध्यात् अनुसंधानं कुर्यात् अकारमकारयोः संधानहेतुना उकारेणा-
विचिकित्सन् सन्देहमकुर्वन् । एवं अकारमकारयोः उकारः सन्धिः इति ऐक्यं
जानतः फलमाह—अशरीर इत्यादि य एवं वेद इत्यन्तं व्याख्यातम् ॥ ८ ॥
मकारतो ब्रह्मावलोकनोपपत्तिमाह—ब्रह्म वा इदं सर्वमिति । कुतः ?

^१ सर्वं मन्त्रत्वा—अ, अ^१ १, क.

स्वविकल्पितजगत् (त् अत्र ?) [तः अतृत्वात्] तत्र हेतुः—उग्रत्वात् उद्ग्राह-
कत्वात् जगतः सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वात् इत्यर्थः । तत्र हेतुः—वीरत्वात्
जगद्विरमणहेतुत्वात् । प्रौढत्वेन महत्त्वम् । तत्र हेतुः—विष्णुत्वात् । व्यापका-
काशवत् जडता स्यादित्यत आह—ज्वलत्त्वादिति । स्वतेजसा दीप्तस्य
जडत्वानुपपत्तेः । ज्वलदग्निवत् परिच्छिन्नं स्यात् इत्यत आह—सर्वतोमुखत्वादिति ।
विराद्वत्त्वेऽपि सर्वोपसंहारकता कुतः ? इत्यत आह—नृसिंहत्वात् । पुरुषत्वे
सति सिंहत्वात् । तत्र हेतुः—भीषणत्वादिति । सिंहस्य पश्यद्भीतिजनकत्वात् ।
भीजनकत्वेन अभद्रता स्यादित्यत आह—भद्रत्वादिति । मङ्गलैकस्वरूपत्वात् ।
तथात्वेऽपि संहारकर्तृता कुतः ? इत्यत आह—मृत्युमृत्युत्वादिति । स्वाज्ञानमेव
मृत्युः, तस्यापि मारकत्वात् । स कथं स्थितिकर्ता भवति ? अत आह—
नमामित्वादिति । सर्वेनमस्कार्यत्वात् । तथा च जातानुकम्पो भगवान्
प्राण्यनुग्रहार्थं स्थितिं करोतीत्यर्थः । किं स्वभेदेन तान् पश्यन् हितं करोतीत्यत
आह—अहन्त्वादिति । सर्वेषां आत्मरूपत्वादित्यर्थः । इत्येतैः कारणैः सततं
एतद्ब्रह्म परमानन्दरूपं मकारावगम्यम् । तत्र पूर्वोक्तहेतूनुपन्यस्यति—उग्रत्वादि-
त्याद्यहंत्वादित्यन्तं व्याख्यातम् । ब्रह्मणोऽनुशुभात्मत्वं वक्तुं एकादशपदानि
द्वादशधा विभज्य पूर्व इदानीं च हेतुत्वेनोक्तानि इत्यवगन्तव्यम् ॥ ९ ॥ यस्मादेवं
तस्मात् त्वंपदार्थाभिधायिना [अकारेण] परमं ब्रह्म अन्विष्य तत्पदार्थाभिधायिना
मकारेण च मनआद्यवितारं मनआदिकरणप्रामरक्षितारं मनआद्यसङ्गोदा-
सीनतया तद्वृत्तिसहस्रभावाभावसाक्षिणं अन्विच्छेत् ॥ १० ॥

ब्रह्मात्मैक्यज्ञानविधानम्

स यदैतत् सर्वमपेशते तदैतत् सर्वमस्मिन् प्रविशति स यदा
प्रतिबुध्यते तदेतत् सर्वमस्मादेवोत्तिष्ठति ॥ ११ ॥

तदेतत् सर्वं निरूढ्य प्रत्यूह्य संपीड्य संज्वालय संभक्ष्य
स्वात्मानमेवैषां ददाति ॥ १२ ॥

अत्युग्रोऽतिवीरोऽतिमहानतिविष्णुरतिज्वलन्नतिसर्वतोमुखोऽ-
तिनृसिंहोऽतिभीषणोऽतिभद्रोऽतिमृत्युमृत्युरतिनमाम्यत्यहं भूत्वा स्वे
महिम्नि सदा समासते ॥ १३ ॥

तस्मादेनमकारार्धेन परेण ब्रह्मणैकीकुर्यादुकारेणाविचिकित्सन्न-
शरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति
य एवं वेद ॥ १४ ॥

तदेष श्लोकः—

शृङ्गं शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत् ।

शृङ्गमेनं परं शृङ्गे तमनेनापि योजयेत् ॥ १५ ॥

सः त्वंपदार्थः तत्पदार्थो वा अध्यात्मं अधिदैवं वा यदा यस्मिन् काले
एतत् परिदृश्यमानं सर्वं स्वापप्रळयाद्यवसर उपेक्षते तदा तस्मिन् काले एतत्
सर्वं अस्मिन्नेवात्मनि रज्जौ सर्पवत् प्रविशति । स यदा प्रतिबुध्यते नित्यादि-
प्रळयादिभ्यः उत्थितो भवति तदैतत्सर्वं अस्मादेवोत्तिष्ठति ॥ ११ ॥ तदैतत्सर्वं
निरुह्य निःशेषेण आत्मसाञ्चिकीर्षुः वहनं कृत्वा प्रत्यूह्य संभूतिवैपरीत्येन वहनं
कृत्वा संपीड्य सम्यक्परिच्छेदनिर्गमनेन पीडयित्वा संज्वालय आत्मज्ञानेन
सम्यक् पाचयित्वा संभक्ष्य स्वावशेषं कवळयित्वा स्वात्मानं स्वस्वरूपं एषां
आत्मवेदिनां स्वज्ञानां ददाति ॥ १२ ॥ ब्रह्माभिन्नानुष्टुप्प्रवेशार्थमावृत्तिः स्यादित्यत्र
सर्वातीतत्त्वं विशेष इत्याह—अत्युग्रः उग्रोपाधिमतीत्य वर्तमानत्वात् । अतिवीरः
इत्यादि समानम् । अत्यहं भूत्वा अस्मत्प्रत्ययकलनामपि ग्रसित्वा स्वे महिम्नि
स्वावशेषतया समासते पुनरावृत्तिशून्यतया आसनं कुर्वते । प्राप्यस्यैकत्वं
प्रापकस्य बहुत्वं, उग्रादिश्वेकवचनत्वेऽपि क्रियापदे बहुवचनमविरुद्धम् ॥ १३ ॥
उक्तार्थं अर्थप्राधान्येन निगमयति—तस्मादिति । यस्मात् उग्रादिरूपोऽयमात्मा
मुक्तप्राप्यः तस्मात् एनं आनन्दात्मानं अकारार्धेन ब्रह्मणा एकीकुर्यात् एकतां

नयेत् । उकारेण अविचिकित्सन् अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदा-
नन्दमात्रः सः स्वराट भवति य एवं वेद इत्युक्तार्थम् ॥ १४ ॥ तत् तस्मिन्
उक्तार्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति । शृङ्गं अकारं शृङ्गार्धं मैकारं च आकृष्य
अकारमकारघटकेनोकारेण शृङ्गेणानेन योजयेत् तादात्म्यं नयेत् । पुनः शृङ्गं
उकाराख्यं एनं अकारमकारयोः संबन्धघटकं मकाराख्ये परे शृङ्गे परे ब्रह्मणि
तं मकाराभिधानं शृङ्गं अनेन संबन्धघटकेन अकारेण अपि संयोजयेत्
तादात्म्यं नयेत् इत्यर्थः ॥ १५ ॥

इति सप्तमः खण्डः

अष्टमः खण्डः

तुर्यमात्रायाः ओतत्वम्

अथ तुरीयेणोतश्च प्रोतश्च ह्ययमात्मा नृसिंहोऽस्मिन्
सर्वमयं सर्वात्माऽयं हि सर्वं नैवातोऽद्वयो ह्ययमात्मैकल एव विकल्पो
न हि वस्तु सदयं ह्योत इव सद्वनोऽयं चिद्घन आनन्दघन एवैकरमोऽ-
व्यवहार्यः केन च न द्वितीय ओतश्च प्रोतश्चैष ओंकारः ॥ १ ॥

एवं नैवमिति पृष्ठ ओमित्येवाह वाग्वा ओंकारो वागेवेदं
सर्वं न ह्यशब्दमिवेहास्ति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं
तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं ब्रह्माभयं
हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥ २ ॥

ब्रह्म विद्यादशायां अकारादिमात्रात्रयेण अवगन्तुं शक्यं इत्युक्त्वा तथा इदानीं तुर्यमात्रयाऽपि तुर्यतुर्यब्रह्म अवगन्तुं शक्यं इति वक्तुं खण्डिकेयमारभ्यते— अथेति । अथ अकारादिमात्रात्रयकथनानन्तरं तुर्यमात्रयाऽपि तुर्यः प्राप्यते इति शेषः । तुर्येण तुर्यमात्रारूपप्रणवेन ओतश्च प्रोतश्च—यथा पटः तन्तुभिः ओतः प्रोतः आतानवितानात्मकैः—एवं आङ्पूर्वाद्वैजः क्तप्रत्यये संप्रसारणे ओतः इति रूपं—ओतश्च प्रोतश्चेति चकारद्वयतः तुर्यस्याकारादिचतुर्मात्रात्रयापकत्वं द्योत्यते । हि यस्मात् अयमात्मा त्वंपदार्थो नृसिंहः, तस्मिन् तुर्यं नृसिंहाश्रये सर्वं भेदजातं विकल्पितं, अयं तुरीयः सर्वात्मा, तत्र हेतुः—हि यस्मात् अयं तुरीयः सर्व, सर्वस्य स्वविकल्पितत्वात् । नैव तुरीयः सर्वस्मिन् प्रतिष्ठितः, स्वातिरिक्तसर्वस्य अवस्तुत्वात् । यतः स्वातिरिक्तं सर्वं नास्ति अतोऽद्वयो ह्ययमात्मा । हिशब्दतः सर्वात्मनो न ह्याधेयाधारभावोऽस्तीति द्योत्यते । तत्र हेतुः एकलः इति, सर्वविलयाधिकरणत्वात् । एकल एवेत्यवधारणतः स्वातिरिक्तभेदो नास्तीति द्योत्यते । भेदोऽपि दृश्यत इति चेत्—न, भेदस्यासत्त्वात् अधिष्ठानज्ञानविकल्पो हि भेदः न हि वस्तुसत्, भेदस्य अवस्तुत्वेनासत्त्वात् । कुतो विकल्पस्यासत्त्वं ? इत्यत आह—अयमिति । अयमुक्तो भेदविकल्पः यस्मात् ओतः इव भातः वस्तुतो न ह्योतः, स्वज्ञानावधिकत्वात् । स्वज्ञानतो विकल्पक्षयतः तुर्यस्य सच्चिदानन्दमात्रावशेषतामाह—सद्भन इति, सत्तामात्रत्वात् । अयं तुरीयः चिद्भनः जडसामान्यप्रासाजडत्वात्, आनन्दघनः अखण्डानन्दस्वरूपत्वात् । सच्चिदानन्दतो भेदः स्यादित्यत्राह—एकरस इति । सच्चिदानन्दानां अखण्डैकरसत्वात् । अत एव केन च वाङ्मनसादिनाऽपि अव्यवहार्यः अनिदंस्वरूपत्वेन व्यवहर्तुं अशक्यत्वात् । तत्र हेतुः—न द्वितीयः अद्वितीयः द्वितीयवस्तुनो मृग्यत्वात् । पटे तन्तुवत् ओतश्च प्रोतश्च । चकारौ कार्यस्य कारणानन्यत्वं अवास्तवत्वं चाहतुः । एष तुरीयोङ्कारः ॥ १ ॥ अर्धमात्राप्रणवः कथं निर्विशेषत्वं तुर्योङ्कारत्वं भजतीति पृच्छन्ति—एवं नैवमिति । सच्चिदानन्दरूपं तद्विपरीतं कथं प्रणवरूपं इति देवैः पृष्ठः स प्रजापतिः नित्यानित्यरूपेण उत्तरमुक्तवान् इत्याह—ओमित्येवा-

हेति । ओं वाचा मनसा च व्याह्रियमाणं तुरीयं ओङ्कारस्वरूपं निर्विशेषतया सच्चिदानन्दमेकरसं, ततः एवं नैवं “तुर्यं वाचो मनुष्या वदन्ति” इति तुर्योङ्काररूपं उभयमप्यविरुद्धं इत्युक्तवान् । वर्णात्मकोऽयमोङ्कारः न तुर्यरूपः इत्यत आह—वागिति । वाग्वा वर्णध्वनिरूपिणी वागेव ओङ्कारः तुर्यप्रणवः । वाचो नामधेयमात्रत्वं न सर्वानुस्यूतत्वं; तत्राह—वागेवेदं सर्वमिति । तत्र हेतुः नह्यशब्दमिवेहास्ति हि यस्मात् इह अस्मिन् संसारमण्डले किमपि रूपधेयं कर्मधेयं वा अशब्दमिव नास्ति । किं तु नामधेयमिव । इवशब्दतः तुर्यतरप्रपञ्चस्य अवास्तवत्वं द्योत्यते । वाङ्मात्रस्य तुर्यता कथं? इत्यत आह—चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिन्मयमिदं सर्वमिति । ओङ्कारः चिन्मयः चिद्रूपः । चिद्रूपस्य जगद्रूपता कुतः? इत्यत्र वस्तुतो मृदतिरिक्तघटाभाववत् चिद्रिकल्पितं सर्वं जगच्चिन्मयमेव, न हि चिद्रूपादतिरिक्तमस्ति इत्यत्र—“यथैव मृन्मयः कुंभस्तद्देहोऽपि चिन्मयः” इति श्रुतेः । यस्मात् चिदेव सर्वं तस्मात् परमेश्वर एव तुर्यः नत्वन्यः कश्चिदस्ति । यतः एवं अतः सच्चिदानन्दरूपं तुर्यचैतन्यं एकमेव तत् भवति । अत एव एतदमृतं अमरणधर्मित्वात् अभयं भयकारणद्वैताभावात् एतद्ब्रह्म भूमरूपेण ब्रंहितत्वात् । तत्प्रसिद्धमित्याह—अभयं वा इति । एवं ज्ञानफलमाह—अभयं हीति । इति उक्तप्रकारेण रहस्यं अतिगोप्यमुक्तम् ॥ २ ॥

तुर्यमात्रायाः अनुज्ञातृत्वम्

अनुज्ञाता ह्ययमात्मैष ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानमनुजानाति न हीदं सर्वं स्वत आत्मवि[व]न्न ह्ययमोतो नानुज्ञाताऽसङ्गत्वादविकारित्वादसत्त्वादन्यस्यानुज्ञाता ह्ययमोकार ओमिति ह्यनुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेवेदं सर्वमनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोकारश्चिद्धीदं सर्वं निरात्मकमात्मसात्करोति तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥ ३ ॥

ओतत्वमुक्त्वा तुर्यानुज्ञातृत्वमाह—अनुज्ञातेति । व्याख्यातम् । अनुज्ञातृत्वे हेतुः—एष तुरीयः हि यस्मात् अस्य उपलभ्यमानस्य सर्वस्य स्वात्मानमनुजानाति अनुज्ञां प्रयच्छति । न हीदं सर्वं स्वतः आत्मवि[व]त्, सर्वस्य स्वात्मसत्ताऽतिरेकेण पृथक् सत्ताऽभावात् । वस्तुतः किं तुर्योऽनुज्ञाता चेत्यतः आह—नह्ययमिति । वस्तुतः ओतृत्वानुज्ञातृत्वाभावे हेतुमाचष्टे—असङ्गत्वादिति । असङ्गत्वे हेतुः अविकारित्वात् विकारवद्भिर्वागादि^१तमनुजानाति । एवं असङ्गाविकारित्वाभ्यां स्वतः ओतृत्वानुज्ञातृत्वाभावेऽपि स्वातिरिक्तं वास्तवमस्त्वित्याह—असत्त्वादिति । स्वातिरिक्ततया अन्यस्य द्वैतस्य शशविषाणवदविद्यमानत्वात् । यथोङ्कारस्योत्त्वं तथाऽनुज्ञातृत्वमपीत्याह—अनुज्ञातेति । कथं ओंकारस्य अनुज्ञातृत्वं तत्राह—ओमिति ह्यनुजानातीति । यस्मादिदं करोमि इत्यादि पृष्टः ओमित्यनुज्ञां ददाति । ओङ्कारस्य स्वार्थचैतन्यरूपेण अनुज्ञातृत्वमित्याह—चिद्धीदं सर्वं निरात्मकं आत्मसात्करोति निरात्मकं सत्ताशून्यं आत्मसत्ताप्रदानेन आत्मसात् आत्माधीनं करोति । तदधीनवचन इत्यनुवृत्तौ “विभाषा साति कात्स्न्ये” इति सातिप्रत्ययः । यस्मादेवं तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तन् भवति एतदमृतमभयं एतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यमिति व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

तुर्यमात्रायाः अनुज्ञैकरसत्त्वम्

अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा प्रज्ञानघन एवायं यस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातोऽतश्चिद्धन एव न ह्ययमोतो नानुज्ञातैतदात्म्यं हीदं सर्वं सदैवानुज्ञैकरसो ह्ययमोंकार ओमिति ह्येवानुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेव ह्यनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिदेव ह्यनुज्ञाता तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥ ४ ॥

कथं ओङ्कारस्य अनुज्ञारूपत्वं इत्यत आह—अनुज्ञैकरस इति । तत्र हेत्वर्थं प्रकटयति—प्रज्ञानघन इति । तदेवोपपादयति—यस्मादिति । यस्मात् अस्मात् स्वातिरिक्तात् सर्वस्मात् स्वाज्ञादिदृष्ट्या विद्यमानादविद्यमानाद्वा । पुरत इति कालत्रयोपलक्षणार्थम् । कालत्रयेऽपि स्वयंप्रकाशात्मना सुविभातः । अतोऽस्मात् कारणात् चिद्धन एव चैतन्यमात्रत्वात् । नह्यमोतो नानुज्ञाता ओतृत्वानुज्ञातृत्वनिराकरणतोऽनुज्ञाऽपि निराकृता स्यादित्यर्थः । स्वातिरेकेण न किञ्चिदस्ति स्वयमेव सर्वमित्यत्र हेतुमाह—एतदात्म्यं हीदं सर्वमिति । एतदात्म्यं इत्यत्र बहुव्रीह्युत्तरं भावप्रत्ययः ष्यङ्, न तु कर्मधारयोत्तरं, एष आत्मा यस्य जगतः तदेतदात्मा तद्भावः एतदात्म्यं इदं सर्वम् । हेत्वर्थमाह—सदेवेति । सद्स्वातिरेकेण असदभावात्, सर्वं सदेव नत्वन्यत् । अनुज्ञैकरसो ह्ययं ओङ्कारः ओमिति ह्यवानुजानाति इत्यादि रहस्यमित्यन्तमुक्तार्थम् ॥ ४ ॥

तुर्यमात्रायाः अविकल्पत्वम्

अविकल्पो ह्ययमात्माऽद्वितीयत्वादविकल्पो ह्ययमोङ्कारोऽद्वितीयत्वादेव चिन्मयो ह्ययमोङ्कारस्तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्यविकल्पोऽपि नात्र काचन भिदाऽस्ति नैव तत्र काचन भिदाऽस्त्यत्र हि भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैवैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥

इदानीमविकल्पत्वमाह—अविकल्प इति । अविकल्पत्वे हेतुः—अद्वितीयत्वादिति । ओङ्कारस्याप्यविकल्पत्वमाह—अविकल्प इति । स्वाधिष्ठान-चैतन्ययोगतः ओङ्कारस्य अद्वितीयत्वमाह—चिन्मय इति । वस्तुतः अविकल्पानविकल्पजातमविकल्परूपमित्याह—अविकल्प इति । सर्वमविकल्प-अविकल्पतुर्यतुरीयमित्यर्थः । कथमेवमित्यत आह—नात्र काचन भिदाऽस्तीति ।

नैव तत्र अविकल्पाविकल्पे तुर्यतुर्ये अविकल्पत्वादिधर्मः कोऽप्यस्ति तुर्यतुर्यस्य निष्प्रतियोगिकाविकल्पाविकल्परूपत्वात् । येन येन हेतुना त्वया*भेद उच्यते तेन तेन हेतुना मया भेद एव अवगम्यते इत्यत आह—अत्रेति । अत्र अस्मिन् अविकल्पाविकल्पे तुर्यतुर्ये तदतिरेकेण जाग्रजाप्रदाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तकलना सत्यत्वेन व्यावहारिकत्वेन प्रातिभासिकत्वेन वा न हि काचन भिदाऽस्ति । चकारतस्तुर्यतुर्यस्य निष्प्रतियोगिकता द्योत्यते । तथाविधे अत्र यः कोऽपि भिदामिव मन्यमानः आभासतोऽपि मन्वानः शतधा सहस्रधा भिन्नो विशकलितमतिभूत्वा सोऽयं जन्तुः मृत्योः संसारात् पुनः मृत्युं संसारं आप्नोति प्रतिजन्मायं नीचनीचतरनीचतमयोनिमधिगच्छतीत्यर्थः । तदेतदद्वयं अपह्नोतव्यद्वैतकलनाविरलं स्वप्रकाशं चिन्मात्रं महानन्दं अपरिच्छिन्नानन्दकूटं आत्मैव स्वमात्रमेव न त्वन्यत् एतदमृतमित्यादिरहस्यमित्यन्तं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

इत्यष्टमः खण्डः

—

नवमः खण्डः

अद्वयात्मजिज्ञासा

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निममंभ नो भगवन्नोकारमात्मान-
मुपदिशेति ॥ १ ॥

एवंरूपनिष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यात्मनि भेदबुद्धिनिमित्तं किमिति तदियत्ताप्रति-
पिपित्सया देवाः पुनः पृष्ठ्वन्तः इत्याह—देवा इति । देवा ह वै प्रजापति-
मब्रुवन् इति व्याख्यातम् । यजाग्रजाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनापह्वसिद्धं

इममेवोङ्काराप्रविद्योतं तुर्यतुर्यं आत्मानमुपदिशेति हे भगवन् नोऽस्मभ्यं कृपया
अनुग्रहं कुर्विष्यथः ॥ १ ॥

अद्वयात्मस्वरूपम्

तथेत्युपद्रष्टाऽनुमन्तैष आत्मा नृसिंहश्चिद्रूप एव ।
अविकारो ह्युपलब्धः सर्वस्य सर्वत्र न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव
सिद्धोऽद्वितीयः ॥ २ ॥

निर्विशेषविशेषनिमित्तबुभुत्सुभिः देवैः एवं पृष्ठः प्रजापतिः तेषां प्रश्नमङ्गी-
कृत्य तथेत्याह । उपद्रष्टेति—स्वसामीप्येन स्वातिरिक्त्यत्तां स्वमात्रतया यः पश्यति
सोऽयं उपद्रष्टा । कथमयमुपद्रष्टा इत्यत आह—अनुमन्तेति । अनुमन्ता
स्वातिरिक्तं किमपि नेतीत्यनुमोदयितेत्यर्थः । कोऽयमेवंविधः इत्यत्र—योऽयं
निष्प्रतियोगिकाविकल्पतया प्रसिद्धः स एष तुर्यतुर्यात्मा नृसिंहः स्वातिरिक्त-
भ्रमासुरर्हिसकत्वात् । तस्य सविशेषत्वाशंकायां अयं चिद्रूप एव चिन्मात्रत्वात् ।
उपद्रष्टादित्वे विकारित्वं स्यात् इत्यत आह—अविकार इति । स्वातिरिक्तं
नेतीत्युपद्रष्टुः अनुमन्तुः सर्वविकारास्पृष्टब्रह्मरूपत्वात् । यद्वा—स्वविकल्पित-
सर्वस्योपलब्धिः तदियत्तानृष्टिः अविकारः इत्यर्थः, तत्र आत्मात्मीयाभिमाना-
भावात् । आत्मात्मीयभावास्पदस्वातिरिक्तमेव नास्तीत्याह—न हीति ।
देशकालाद्यवच्छेदेन सर्वत्र न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिः सर्वस्याद्वैतात्मकत्वात् ।
द्वैतासिद्धौ न कोऽपि सिद्धिपदं भजतीत्यत आह—आत्मैवेति । आत्मसिद्धेः
अनात्मापहवपूर्वकत्वात् । यतः एवं अतः अयमात्मा निष्प्रतियोगिकाद्वितीयः
परमाद्वैतत्वात् ॥ २ ॥

ब्रह्माभिन्ना माया

मायया ह्यन्यदिव । स वा एष आत्मा पर एषैव सर्वम् ।
तथा हि प्राज्ञे सैषाऽविद्या जगत् सर्वम् । आत्मा परमात्मैव । स्वप्रकाशो-
ऽप्यविषयज्ञानत्वाज्जानन्नेव ह्यन्यत्रान्यन्न विजानात्यनुभूतेः ॥ ३ ॥

एवं चेत् स्वातिरिक्तभेदप्रतीतेः किं मूलं इत्यत आह—माययेति । मायया स्वरूपशून्यया स्वान्यद्वैतमिव, न वस्तुतः, द्वैतस्य निष्प्रतियोगिका-भावरूपत्वात् । स्वाज्ञदशायां यद्यत् द्वैतजातं विभातं तत्तत्सर्वं एष परमात्मैव । एषैवेत्यत्र एष एव सर्व आधाराधेययोरैकत्वात्, “हरिरिव जगत् जगदेव हरिः” इति स्मृतेः । द्वैतस्य संसारावस्थायामनुभूतत्वात् सत्यता स्यादिति चेत्—न; ¹संसारिस्वापादावदर्शनात् । नहि द्वैतं सत्पदमर्हति । यदुक्तं तदुपपादयति—तथा हीति । संसारदशायामपि तथैवोपलभ्यते । सुषुप्त्यवस्थामापने प्राज्ञे न हि द्वैतमुपलभ्यते । द्वैतस्याविद्यमानत्वात् अनुपलब्धिः युक्तैत्यर्थः । तथा सति कथं द्वैतमुत्तिष्ठति इत्यत आह—सैषेति । या स्वरूपशून्या सैषा अविद्या अहमज्ञः इत्यादिप्रत्यक्षसिद्धा स्वाज्ञानरूपिणी स्वज्ञानावसाना वटबीजसमा कार्यरूपेण चेतनाचेतनात्मकजगद्रूपतया दृश्यते । वस्तुतः इयं अविद्यमानैत्यर्थः । स्वापादावप्यविद्याकार्यानुपलब्धा परमात्मनो भिन्न इत्यत आह—आत्मा परमात्मैवेति । “एष सर्वेश्वरः” इति श्रुतितः यदुक्तं प्राज्ञेश्वरयोरैक्यं तदेवोपपादयति—स्वप्रकाश इति । यथा स्वप्रकाशोऽपि सर्वेश्वरः प्रळयादौ अविषयज्ञानत्वात् स्वाज्ञदृष्टया अन्यत्र अन्यदस्तीति जानन्नपि स्वदृष्टया स्वातिरिक्तं किमपि न जानाति तथा स्वयंप्रकाशोऽपि प्राज्ञः स्वापादादौ स्वाज्ञानवृत्तिं जानन्नपि स्वप्रादिव्यापृतिहेतुविक्षेपवृत्तिं न जानाति विषयाभावान्न जानातीत्यर्थः । अज्ञस्य ज्ञत्वं कुतः ? इत्यत्र विषयाभावेऽपि अनुभूतेः सत्त्वात् । अन्यथोत्थितस्य एतावन्तं कालं मुखमहमस्वाप्सं न किञ्चनावेदिषं इति परामर्शो न स्यात् इत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

मायास्वरूपम्

माया च तमोरूपाऽनुभूतिः । तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मैव दृष्टाऽस्य सत्त्व-मसत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन ॥४॥

¹ असंसारि—उ १.

दर्शनादर्शनात्मकमिदं सर्वं यथा जागरणादौ प्रतीयते तथा स्वापादावपि प्रतीयतां आविद्यकाविशेषात् इत्यत आह—माया चेति । शक्तिद्वयात्मिकेयं माया स्वापादाविक्षेपविरळाऽपि आवरणात्मिका (न) दृश्यते जागरणादौ विक्षेपवृत्तितया दृश्यत इत्यर्थः । विक्षेपावरणात्मिकेयं कथं आवरणरूपैव इत्यत आह— अनुभूतिरिति । स्वापादाविक्षेपानुभवमन्तरेण आवरणानुभवस्य सिद्धत्वात् । तत्र विप्रतिपन्नस्य किञ्चिदालम्बनं भवति । तदेतद्दृश्यं जडं महामोहात्मकं स्वाज्ञानावरणं अनन्तं आविज्ञानस्थायित्वादानन्त्यं आपेक्षिकम् । अत एव एतद्वास्तवमिति चेत्—न ; नरविषाणवत् दुर्लभत्वात् । प्रतीयमानत्वे सति कालत्रयेऽप्यविद्यमानत्वं मायातत्कार्यलक्षणमिति संप्रदायविदो वदन्ति । श्रुतिस्तु तत्र सहते कालत्रयासत्त्वमेव महीकरोति “सन्मात्रमसदन्यत्”, “ब्रह्ममात्रमसन्नहि”, इत्यादि । इदं रूपं अस्य मायाकार्यस्य अभिव्यञ्जिका कारणं माया इत्यनुवर्तते । यदिदं मायातत्कार्यमात्मनि वर्तते ततः मुमुक्षुभिः एतन्निवर्तने महान् प्रयत्नः करणीयः । न चासौ क्रियमाणोऽपि सिध्यति । न हि शतक्रतुरप्याकाशं मूर्तीकर्तुं पारयति । न हि पारमहंस्यधर्मपूगवदनुष्ठितवेदान्तश्रवणादिकमपि फलवत् भवितुमर्हति इत्यत आह—नित्येति । नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मैव द्रष्टा । नहि निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रे स्वाविद्यातत्कार्यमस्ति । नहि प्रचण्डमार्ताण्डं तमःस्तोमः स्पृशति । ततः सेयं चिन्मात्रानित्यनिवृत्तेव निवृत्ता । न हि वस्तुतो विद्यमाना सती निवर्तते, अविद्याया अविद्यमानत्वात् “अविद्यमानैवाविद्या वस्तुतत्त्वविचारिणाम्” इति स्मृतेः । व्यावहारिकादिदृष्ट्या स्वाविद्यानिवृत्तिसत्त्वात् मोक्षोद्योगः सफलो भवितुमर्हति । मूढैरात्मैव द्रष्टेयवधृतं, अहं अज्ञो मनुष्यः इत्याद्यनुभवात् । अस्य आविद्यकप्रपञ्चस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति, व्यावहारिकादिदृष्ट्या सत्त्वं पारमार्थिकदृष्ट्या असत्त्वं, तत् कथं ? इत्यत आह—सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यामिति । यत्र इदं कार्यं निष्पन्नं इति बुद्धिः जायते तत्र सिद्धत्वेन सत्त्वं दर्शयति । सिद्धत्वासिद्धत्वमपि किं निमित्तं इत्यत आह—स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेनेति । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यं स्वतन्त्रत्वं, तद्विपरीतं अस्वातन्त्र्यम् ॥ ४ ॥

दृशिहतापिन्युपनिषत्.

मायाकार्यम्

सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव । तद्यथा वटबीज-
सामान्यमेकमनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् घटान् सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र
पूर्णं सत्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि
दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव
भवति ॥ ५ ॥

यस्याः स्वाज्ञस्वज्ञदृष्टिभ्यां मायायाः स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वे भवतः सैषा म
वटबीजसामान्यवत् गजसर्षपतुल्यासु वटधानासु मिथो भिन्नासु कार्याक
रूपासु वटधानासामान्यमकार्यमेकं तद्वत् । अविद्याबीजसामान्यस्वरूपमाह-
अनेकेति । अनेकवटशक्तिः सर्वत्र अनेकवटोत्पादनसामर्थ्यं एकैव सर्वत्रैकरूपं
नत्वनेका । तत् तत्र वटबीजशक्तेः एक्ये व्यवस्थिते स्वाविद्यायामपि तद्
दृष्टान्तः । यथा दृष्टान्ते वटबीजसामान्यं उक्तं एकं निर्भेदं अनेका
अनन्तान् स्वाव्यतिरिक्तान् सबीजान् घटान् उत्पाद्य तत्र तत्र बीजेषु
सत् पूर्वभावमेत्य तिष्ठति एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्रा
चतुर्विधप्राणिस्थूलसूक्ष्मादिशरीराणि दर्शयित्वा अभिव्यक्तीकृत्य प्राणाधारता
यामकतया जीवेशावाभासेन करोति । न केवलं तावेव करोति, किं तु मा
चाविद्या च स्वयमेव भवति । चकारद्वयं मायाऽविद्याऽतिरेकेण अनेकभिदां
सहते ॥ ५ ॥

आत्मत्रैविध्यम्

सैषा चित्रा सुदृढा ब्रह्मङ्कुरा स्वयं गुणभिन्नाऽङ्कुरेष्वपि
गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता तस्मादात्मन एव
त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि ॥ ६ ॥

^१ स ति—अ, अ १, क. संति—अ २.

जीवेदादिभिः क्रियाद्विविध्यमस्तु, तथा सति कथं कार्यवैषम्यं इत्येत आह—
 सेवेति । सर्वभेदज्ञान्यतया योक्ता सैषा एकाऽपि स्वभावानेकशक्तितया चित्रा
 अमन्ताकीटिजन्मनानावासनाभिः सुदृढा बह्वङ्कुरा विविधकार्यरूपेण नानाऽ-
 ङ्कुराकारा । यदि स्वयं कास्मगतया ब्रह्मवदेकरूपा तदा कथं चित्रता इत्येत आह
 —स्वयमिति । गुणसाम्यप्रकृत्यात्मना स्वयमेकाऽपि विविधकल्पाश्रयसत्त्वादि
 गुणत्रयतो भिन्ना भेदसुपंगता स्वयं गुणभिन्ना अङ्कुरेष्वपि कार्येषु गुणाभिन्ना
 गुणैः भेदं विंता । तस्याः प्रधानकार्याण्याह—सर्वत्रेति । सर्वत्र जगतः स्रष्टा
 ब्रह्मा, तत्पालको विष्णुः, तत्संहारकृच्छिवः; इति प्रधानरूपाणि यस्याः सा
 ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी । जडप्रकृतेः कार्यहेतुत्वं कुतः ? इत्येत आह—
 चैतन्यदीप्तेति । अग्निप्रतप्तायःपिण्डवत् स्वाधिष्ठानचैतन्यदीप्ता ब्रह्मदिप्रधान-
 कार्यवती । यस्मादियं अग्निप्रतप्तायःपिण्डवत् स्वाधिष्ठानचैतन्यदीप्तेत्युक्ता—
 न ह्ययःपिण्डो दहति किं तु अयःपिण्डतया गृहीतोऽग्निरेव दहति, एवं
 अयमात्माऽपि अविद्यावशात् अविद्यात्वेन गृहीतः सर्वकार्यक्षमो भवति—
 तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं ब्रह्मविष्णुशिवरूपेण त्रिविधत्वम् । सर्वत्रेति
 देशकालवस्तुसर्वस्वोपलक्षणार्थम् । योनित्वं कारणत्वम् । अपिशब्दादुक्तमनुक्तं
 च व्यवहारजातं आत्मचैतन्यप्रकाशतया क्रियमाणम् ॥ ६ ॥

जीवेशभेदः

अभिमन्ता जीवो नियन्तेश्वरः । सर्वाहंमानी हिरण्य-
 गर्भस्त्रिरूप ईश्वरवद्व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ह्येष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा ।
 सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथाऽप्यल्पाः ॥७॥

आत्मन एव जीवेशावाभासेन करोतीत्युक्तं, तयोः किं स्वरूपं इत्येत
 आह—अभिमन्तेति । कार्यकरणसंघाताभिमाना जीवः प्राणानां धारयिता
 नियम्यः । चराचरात्मकजगतो नियन्ता ईश्वरः । अहंमानी पूर्णाहंभावो
 निरावृतस्वतत्त्वः हिरण्यगर्भ एवेश्वर इत्याशंक्य नेश्वरोऽयमित्याह—सर्वेति ।

जीववत् सर्वस्मिन् कार्येऽहमित्यभिमानवान् ब्रह्मादिरूपेण त्रिरूपः । किं निमित्तेयमस्मिन्नीश्वरबुद्धिः इत्यत आह—ईश्वरवद्व्यक्तचैतन्य इति । यथा साक्षादीश्वरः सच्चिदानन्दात्मा तद्वदयमपीत्यर्थः । किं तु व्यष्टयभिमानीजीववदस्य समष्टयभिमानीत्वात् ईश्वरावरत्वं, ईश्वरस्तु सर्वत्र आत्मात्मीयाभिमतिविरुद्धः, न कदाऽप्ययं जीवकोटौ प्रविशति । यतः एवं अतः अयं हिरण्यगर्भः जीवः ईश्वरश्च इत्युभयथाऽपि वक्तुं शक्यते । इदानीं अस्मिन्नीश्वरगुणमाह—सर्वग इति । हि यस्मात् एष हिरण्यगर्भः सर्वव्यापी अतोऽयं ईश्वरः । इदानीमस्य स्वरूपमाह—क्रियाज्ञानात्मेति । बाह्यान्तःकरणाभिमानीत्यर्थः । यथा मधुब्राह्मणे आम्नातम्—“इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु” इत्यादि । तथा सर्वं सर्वमयं कार्यं कारणं च अचेतनं, किंतु चेतनमपीत्याह—सर्वं इति । सर्वे जीवाः प्राणानां धारणात् सर्वमयाः सर्वात्मकत्वात् । न च ज्ञानप्रज्ञाप्रदाद्यन्यतमावस्थायामिति मन्तव्यम्, किं तु ज्ञानप्रज्ञाप्रदादिसर्वावस्थासु । तत्र को वा हिरण्यगर्भः ? के वा जीवाः ? इत्यत आह—तथाऽपीति । यद्यपि सर्वे सर्वस्वरूपाः तथाऽपि हिरण्यगर्भेश्वरवत् सर्वकारणकार्यात्मबुद्धिविकलान्तःकरणाभिमानीनः अल्पाः, ईश्वरादेः निरभिमानत्वादनल्पत्वमित्येतदुपपन्नम् ॥ ७ ॥

आत्मनः सृष्टौ प्रवेशः

स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा
प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव तस्मादद्वय एवायमात्मा
सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विमुरद्वयानन्दः
परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरैतैरवगतः ॥ ८ ॥

प्रसक्तानुप्रसक्तं च प्रतिपादितं, प्रकृते तैः यत् पृष्टं तन्निगमयति—स वा इति । यो हि जीवेशहिरण्यगर्भादिशब्दाभिधेयः उक्तः स वा एष परमात्मैव

^१ देवतां च सृ—अ, अ १, अ २, उ १.

स्वाविद्याव्यष्टिसमष्टिस्थूलार्धंशावष्टंभतः कार्यकारणात्मकपञ्चीकृतापञ्चीकृतभूतानि क्रियाज्ञानशक्तिरूपाणि बाह्यान्तःकरणसहितानि सूक्ष्मशरीराणि विराजं स्थूल-भूतेन्द्रियशरीरजातं सावरणाविद्याऽण्डगोळकरूपं तत्रात्मात्मीयाभिमानयोगा-योगाभ्यां विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तप्रयोजनकं वागादिकरणकलापाधिष्ठा-त्र्यग्न्यादिका देवताः अन्नादिपञ्चकोशान् प्रत्यगादिप्रकाशावरणप्रयोजकान् चकारा-दन्यदपि व्यक्ताव्यक्तरूपं सृष्ट्वा उत्पाद्य स्वेन रूपेण सर्वत्र प्रविष्टोऽपि स्वोत्पादि-तेषु प्रविश्य स्वयं अमूदो निरावृतोऽपि मूढ इव व्यवहरन्नास्ते स्वातिरिक्तविश्वोत्पत्त्यादिलीलां कुर्वन् वर्तत इव वर्तते । ईश्वरेणैवं वर्तितत्वात् तद्वास्तवमित्यत आह—माययैवेति । न तु वस्तुतः । एवं कल्पनाहेतुमायायाः शशविषाणवदवस्तुत्वात् तत्कार्यकल्पनाया अपि स्वकारणतुल्यत्वाच्च यदे-तदुक्तमनुक्तं चैतत्सर्वं यदि प्रसक्तं तदत्यन्ताभावरूपं इत्यत्र—

सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्व एव हि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्लमम् ॥

इति,

मायाऽविद्याऽज्ञानविश्वाभावान्तःकरणादयः ।
ब्रह्मातिरिक्तपर्याया ह्यत्यन्ताभावरूपिणः ॥

इति श्रुतेः, परमाक्षरोक्तेश्च । यस्मादेवं तस्मात् अद्वय एवायमात्मा स्वाति-रिक्तानात्मापह्ववसिद्धात्मनो निष्प्रतियोगिकाद्वैतरूपत्वात् । निष्प्रतियोगिका-द्वितीयात्मसिद्धौ किं मानं इत्यत्र श्रुतिरेव मानमित्याह—सन्मात्र इत्यादि । सन्मात्रः असदपह्ववसिद्धत्वात् । तथा च वक्ष्यति—“सन्मात्रमसदन्यत्” इति । सन्मात्रत्वं आगन्तुकमित्यत आह—नित्य इति । प्रच्युत्युपलक्षित- [ता]सत्तावैरळ्यात्, पारमार्थिकनित्य इत्यर्थः । तथा अशुद्धतूलाविद्यावैरळ्यात् शुद्धः । जडाविद्यायोगतो जडत्वं स्यादित्यत आह—बुद्ध इति । जडमायायोगस्य दुर्लभत्वात् स्वयंप्रकाशः इत्यर्थः । बोधवृत्तियोगादसत्यत्वं स्यादित्यत आह—सत्य इति । असत्यवृत्त्यसंभवात् पारमार्थिकसत्य इत्यर्थः । स्वाविद्यातत्कार्यतो बद्ध इत्यत आह—मुक्त इति । यदि स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्ताऽविद्या स्वज्ञदृष्ट्या मुक्त

इत्यर्थः । तथा निरञ्जनः स्वातिरिक्ताञ्जनायोगात् । तथा विभुः त्रिपरिच्छेद-
शून्यत्वात् । तथा अद्वयानन्दः अखण्डानन्दरूपत्वात् । तथा परः सर्वस्मात्
परत्वेन निरतिशयत्वात् । प्रत्यगेकरसः प्रत्यग्रसाभिन्नपररसरूपत्वात् । एवं
प्रत्यगेकरसः परमात्मा कथमवगम्यते इत्यत आह—प्रमाणैरैतैरवगत इति ।
प्रमाणभूतेशाद्यष्टोत्तरशतवेदान्तैरेव स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितातदपह्ववमुखेनैव अवगतः
न विपर्यय इत्यर्थः ॥ ८ ॥

सत्तामात्रं ब्रह्म

सत्तामात्रं हीदं सर्वम् । सदेव पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्म । न ह्यत्र
किञ्चनानुभूयते । नाविद्याऽनुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्य-
विक्रियेऽद्वये । पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत् । सत्यं हीत्थं
पुरस्तादयोनि स्वात्मस्थमानन्दचिद्धनं सिद्धं ह्यसिद्धम् ॥ ९ ॥

चराचरात्मकप्रपञ्चे सति कथं एवं अवगतः इत्यत आह—सत्तामात्रं
हीदं सर्वमिति । इदं परिदृश्यमानं जगत् सत्तामात्रं हि जगतः स्वसत्ताऽतिरिक्त-
सत्तावैरळ्यात् । इदं सत्तामात्रमस्तु, ब्रह्मणः किमायातमित्यत आह—सदेव
पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्मेति । यस्मात् इदं जगत् उत्पत्तेः पूर्वं सदेकस्वभावं
तस्मात् इदं ब्रह्मरूपं इति सिद्धम् । न हि पूर्वं ब्रह्मान्तरेण किञ्चिदासीत् । न चेदं
पूर्वस्वभावं परित्यजति, स्वप्रकृतिवैपरीत्यस्य भावानामदृष्टचरत्वात्,

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः ।

प्रकृतेरन्यथाभावो न कथं चिद् भविष्यति ॥

इति श्रीगौडपादाचार्योक्तेः । तर्कसहस्रमपि प्रत्यक्षपराहृतमित्यत आह—न हीति ।
न ह्यत्र अस्मिन् ब्रह्मणि किञ्चन किञ्चिदपि द्वैतं तदुज्जीवकप्रत्यक्षादिर्वा अनुभूयते ।
स्वात्मावगत्युपायतया विद्या अङ्गीकार्या इत्यत आह—नेति । स्वानुभूति-
प्रमाणसिद्धे स्वात्मनि न हि स्वाविद्या तत्कार्यं तत्प्रतियोगिसाधनसंपत्तिर्वा

सहसा प्रभवति । अविद्याया असत्त्वे हेतूनुपन्यस्यति—स्वप्रकाश इत्यादि । यत् परप्रकाशापेक्षं यत् साक्ष्यं यत् सक्रियं यत् द्वैतजातं तत्र अविद्या तत्कार्यं वा विलसतु । न हि तत्प्रतियोगिनि साधनान्तरमनपेक्ष्य स्वयंप्रकाशे स्वाब्जदृष्टि-प्रसक्तसाक्ष्यसत्त्वे तन्निरूपितसर्वसाक्षिणि विक्रियाजातविरले परमाद्वये स्वाविद्या तत्कार्यं असत्प्रपञ्चजातं वा प्रभवति, सन्मात्रातिरिक्ताविद्यातत्कार्यस्य असत्त्वात् । अहो स्वाज्ञलोकाः प्रत्यक्चक्षुषा वस्तुयाथात्म्यं पश्यतेत्याह— पश्यतेति । हे देवाः यूयं पश्यत प्रत्यक्चक्षुषा अवलोकयत । कदेत्यत्र इहापि । पुरा भवदनुभूतसंसारदशायामपि घटोऽस्ति पटोऽस्ति इति यद्यत् अस्तित्वेन अभिमतं तत्तत् सन्मात्रं सत्तासामान्यरूपं यत् तद्विपरीतं नेति नेति इत्यवधृतं तत् असदेव शशविषाणकल्पम् । यतः एवं अतः निष्प्रतियोगिकसन्मात्रमेव ब्रह्म तदतिरिक्तं न ह्यस्ति । यद्यस्तीति भ्रान्तिः तदा तदसदेव इत्यत्र—

चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं रसम् ।

सर्ववर्जितचिन्मात्रं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥

इति श्रुतेः । उक्तार्थे हेतुमाह—सत्यमिति । हि यस्मात् इत्थं अविशेषितघट-पटादिभेदजातं सत्तासामान्यमेव सत्यं अनृतघटादिप्रपञ्चापह्ववसिद्धत्वात् । तत् किं सर्वकारणं इत्यत आह—पुरस्तादयोनीति । पुरस्तात् प्रपञ्चसृष्टेः प्रागिति कालत्रयोपलक्षणार्थम् । सर्वकालेऽप्येतत् अयोनि अकारणं, कार्यसामान्यस्य वस्तुतः शशविषाणवदसत्त्वात् अयोनित्वं निरङ्कुशं इत्यर्थः । अस्त्वेतदयोनि, तदधिकरणं किं इत्यत आह—स्वात्मस्थमिति । स्वे महिम्नि स्वात्मन्येव निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया तिष्ठति, न तस्याधिकरणं किञ्चिदस्तीत्यर्थः । स्वान्यत्र निवासस्थलाभावात् स्वस्मिन् स्वस्थित्या गुरुभारपीडितत्वाच्च बहुळतरदुःखं स्यादित्यत आह—आनन्दचिद्धनमिति । भूमब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वे मूर्तत्वे च स्यादेव भवदुक्तदोषद्वयं, न हि तदस्ति परिच्छिन्नमूर्तामूर्तकलनाबाह्यत्वात्, सच्चिदानन्दघनं तदित्यर्थः, “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति श्रुतेः । यदैवं निष्पन्नं तदा अनित्यत्वं स्यादित्यत आह—सिद्धं ह्यसिद्धमिति । स्वत एव

सिद्धं साधनान्तरेण असिद्धम् । यतः स्वेनैव निष्पन्नं अतः निष्प्रतियोगिक-
नित्यमित्यर्थः । सन्मात्र इति पुँल्लिङ्गात्वेनोपक्रम्य सदित्यादिना नपुंसकत्वेन
निर्दिष्टम् । पुँल्लिङ्गतो मन्त्रराजार्थः परमात्मा नृसिंहो विशेष्यते, नपुंस-
कलिङ्गतः प्रणवार्थतुर्यतुरीयं ब्रह्म । तयोरपि स्वरूपतः एकत्वात् न
विरोधः ॥ ९ ॥

सर्वस्य आत्ममात्रत्वम्

तद्विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगतं सर्वमत एव ।
शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखस्वरूप आत्मा । न ह्येतन्निरात्मकमपि
नात्मा पुरतो हि सिद्धः । न हीदं सर्वं कदाचित् । आत्मा हि
स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एक एव साक्षी स्वप्रकाशः ॥ १० ॥

तत् तदेव ब्रह्म मूलाविद्यासूक्ष्मांशयोगतो विष्णुः स्थितिहेतुत्वात् ।
तद्बीजांशयोगतः ईशानो नियन्ता संहारहेतुत्वात् । तत्स्थूलांशयोगतो ब्रह्मा
चतुराननः सृष्टिहेतुत्वात् । अन्यदपि उक्तेभ्यो व्यतिरिक्तं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं
स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तसर्वगतं सर्वं अत एव यतः सर्वगतं ब्रह्म । निर्विशेषं सर्वगतं
सर्वमिति मेरुसर्षपयोरिव वैषम्यं स्यादिति चेत् स्वाज्ञानसत्त्वासत्त्वाभ्यां
सर्वमप्युपपन्नं इति मन्तव्यम् । वस्तुतः सर्वदोषवैरळ्यात् शुद्धः । बाधकाज्ञान-
सत्त्वात् शुद्धत्वं कथं इत्यत आह—अबाध्यस्वरूप इति । बाधकाज्ञानाभावात्
शुद्धत्वं सिद्धमित्यर्थः । शुद्धत्वादेव बुद्धः पूर्णबोधरूपत्वात् । बोध्रादप्यानन्दरूपो
भिद्यत इत्यत्र यो हि बुद्धः स एव सुखस्वरूपः । न हि परमात्मा जीवः इति
मन्तव्यः किं तु अहंप्रत्ययगोचरः प्रत्यगेव शुद्धः । इत्यादिना त्वंपदारथो वर्णितः,
किं तेनेष्टसिद्धिः इत्यत आह—न ह्येतन्निरात्मकमपि नात्मेति । इदं शशविषाणादिकं
निरात्मत्वेन प्रसिद्धमपि हि यस्मात् एतदात्मा न भवतीति चेन्न; निरात्मकस्या-
प्यात्मनि अध्यस्तत्वेन घटवत् दृश्यत्वात् । न ह्यध्यस्तमधिष्ठानातिरिक्तमस्ति ।

अध्यस्तवस्तु अधिष्ठानरूपमित्यर्थः । निरात्मकस्याप्यात्मत्वे हेतुमाह—पुरतो हि सिद्ध इति । हि यस्मात् सर्वस्मात् पुरतो निष्पन्नो वर्तते । सिद्धत्वं सदसतामपि समानमित्यत आह—न हीदं सर्वं कदाचिदिति । यथा परमात्मा सिद्धः तथा इदं सदसदात्मकं जगत् न हि कालत्रयसिद्धम् । यदादावन्ते च न विद्यते तन्मध्ये भातमपि नास्त्येव । उत्पत्तेः प्राक् प्रलयानन्तरं च जगन्नोपलभ्यते । तत् स्थितिकाले भातमपि न हि तद्विद्यते, “यन्नादौ यच्च नास्त्यन्तै तन्मध्ये भातमप्यसत्” इति स्मृतेः । तथा जगदिव आत्माऽपि नास्तीत्यत आह—आत्मेति । हि यस्मात् आत्मा स्वमहिमस्थः न जडवत् परतन्त्रः । अत एव निरपेक्षः परापेक्षाशून्यः पूर्णानन्दरूपत्वात्, न ह्यनन्दाभिभ्यक्तिहेतुतया सापेक्षो भवति । यः एवंविधः सः आत्मा एक एव स्वद्वितीयहेत्वभावात् । प्रसक्तसाक्ष्यजातापेक्षया अयं साक्षी, वस्तुतः साक्षित्वमप्यस्य न तात्त्विकमित्यर्थः । स्वप्रकाशः स्वेनैव प्रकाशितत्वात् ॥ १० ॥

आत्मतः सर्वसिद्धिः

किं तन्नित्यम् । आत्माऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यम् । एतद्धीदं सर्वं साधयति । द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रियः सिद्धो निरवद्यो बाह्याभ्यन्तरवीक्षणात् सुविस्फुटस्तमसः परस्तात् ॥ ११ ॥

इदानीं लब्धावसराः देवाः पृच्छन्ति—किं तन्नित्यमिति । तत् पूर्वोक्तं ब्रह्म किं नित्यत्वधर्मवत्, किं धर्मधर्मिभेदविशिष्टं, इदमेव सच्चिदानन्दत्वादीनामप्युपलक्षणार्थम् । एवमुक्तः प्रजापतिराह—आत्मेति । अनात्मापह्वसिद्धोऽयं आत्मा अत्र अस्मिन् आत्मनि एव हि यस्मात् नित्यत्वादिधर्मजातमस्ति नास्तीति वा न विचिकित्स्यं, आत्मनो निष्प्रतियोगिकत्वेन निर्धर्मकत्वात् । यद्येवं निर्विशेषः परमात्मा कथं अस्माभिः अवगन्तुं शक्यः इत्यत आह—एतद्धीति । हि यस्मात् एतत् आत्ममात्रगोचरज्ञानं तत्तच्चित्तशुद्धिसापेक्षं सर्वं साधयति । तत् कथं इत्यत्र घटपटादेः द्रष्टुः अन्तःकरणविशिष्टस्य द्रष्टा अवलोकयिता । एवं द्रष्टृत्वे सुखदुः-

खसंबन्धः स्यादित्यत आह—साक्षीति । यथा लौकिकः साक्षी तथाऽयं तद्गतसुखदुःखरहित इत्यर्थः । साक्षित्वे साक्ष्यगतविक्रिया स्यादित्यत आह—अविक्रिय इति । साक्षिणो निरवयवत्वेन विक्रियाशून्यत्वात् । विक्रियाशून्यत्वे स्वस्यासत्त्व स्यादित्यत आह—सिद्ध इति । सर्वदा आत्ममात्रतया निष्पन्नत्वात् । जीवोऽपि तथेत्यत आह—निरविद्य इति । अविद्यातत्कार्यशून्यत्वात् जीवात्मनोश्चैतन्यस्य तुल्यत्वे को विशेषः इत्यत आह—बाह्येति । सर्वत्र सर्वदा सर्वमहमस्मि इति युगपत् बाह्यान्तरवीक्षणात् अज्ञलोकनात्, नैवं जीवोऽवलोकयति । एवं जीवदृष्ट्या स्वाविद्याद्वयतत्कार्यकबळिते प्रपञ्चे कथं अयमहमस्मि इत्यात्मा अवगन्तुं शक्यः इत्यत आह—सुविस्फुट इति । गोमहिष्यादिभेदवत् अयमात्मा अयं जीवः इति स्फुटं अवगन्तुं शक्यत्वात् । सुविस्पष्ट इति वा पाठान्तरम् । तत्र प्रतीचो विस्पष्टत्वेन प्रतीयमानत्वात् इति नार्थभेदः । तत्र हेतुः—तमसः परस्तान् ॥ ११ ॥

देवानां आत्मदर्शनम्

ब्रूतैष दृष्टोऽदृष्टो वेति । दृष्टोऽव्यवहार्योऽप्यल्पः ॥ १२ ॥

स्वाविद्यापदतत्कार्यतमसः परतः विद्यमानं परमात्मानमुद्दिश्य देवान् प्रत्याह भगवान् प्रजापतिः । किमिति ? हे देवाः यूयं ब्रूत वदत । किमिति ? मयोपदिष्ट एषः आत्मा भवद्भिः यथावत् दृष्टोऽदृष्टो वेति । प्रजापतिना एवं पृष्टाः देवाः ऊचुः—अव्यवहार्योऽपि सर्वव्यवहारा[न]र्हतया भवदुपदिष्टः आत्मा अस्माभिः दृष्टः आत्मतया अवलोकितः । एवंविदितोऽप्यस्मद्बुद्धि-विषयतया अल्पः, न हि नालपोऽपरिच्छिन्नोऽस्माभिः द्रष्टुं शक्यः ॥ १२ ॥

आत्मनः अनल्पत्वनिरूपणम्

नाल्पः साक्ष्यविशेषोऽनन्योऽसुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा सर्वज्ञोऽनन्तोऽभिन्नोऽद्वयः । सर्वदा संवित्तिर्मायया नासंवितिः स्वप्रकाशे । यूयमेव दृष्टाः ॥ १३ ॥

एवं तेषां विपरीतज्ञानमवलोक्य प्रजापतिः देवान् प्रत्याह—नाल्प इति । भवत्कृते मद्दुपदिष्टात्मा नाल्पः परिच्छेदत्रयातीतत्वात् । तत्र हेतूनुक्तानुक्तानप्युपन्यस्यति—साक्षीत्यादिना । साक्षी भवद्बोद्धा अवलोकनः । तदवलोकने कश्चनातिशयः स्यादित्याह—अविशेष इति । साक्ष्यनिरूपितसाक्षिताऽपाये साक्षिणो ब्रह्ममात्रतया निर्विशेषत्वात् । न हि साक्ष्यप्यन्यो भवितुमर्हति । अनन्यः भवदव्यतिरिक्तत्वात् । न चैवं संसारधर्मेत्याह—असुखदुःख इति । अन्तःकरणकार्यसुखदुःखबाह्यत्वात् । तत्र हेतुः—अद्वय इति । सापेक्षद्वैताभावात् । निष्प्रतियोगिकाद्वितीयत्वे हेतुः—परमात्मेति । पराक्सापेक्षप्रयक्कलनाऽभावात् । मूलबीजांशयोगतः सर्वज्ञः सर्ववित्त्वात् “यः सर्वज्ञः सर्ववित्” इति श्रुतेः । यद्वा—मदतिरेकेण सर्वं नेतीति यो ज्ञाता सोऽयं सर्वज्ञः परमात्मेत्यर्थः । अत एव अनन्तः त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वात् । ततोऽयं अभिन्नः भिदागन्धासहत्वात् । यदुक्तं तदेव निगमयति—अद्वय इति । निष्प्रतियोगिकत्वात् । अद्वयत्वादेव सर्वदा संवित्तिः कालत्रयेऽपि संविन्मात्ररूपत्वात् । एवमनुभवतः किं न दृश्यते इत्यत आह—माययेति । मायया मायानिमित्तः अहमज्ञ इत्यनुभवः । तत्र हेतुमाह—नासंवित्तिरिति । न हि संविन्मात्रे स्वाज्ञानं तिष्ठतीत्यर्थः । द्रष्टृदृश्ययोगादल्पता स्यादित्यत आह—यूयमेव दृष्टा इति । युष्माभिरेव अयमात्मा दृष्ट इति न तु युष्मद्ब्रह्मतिरिक्तः ॥ १३ ॥

द्वितीयाभावोपदेशः

किम् । अद्वयेन द्वितीयमेव न यूयमेव ॥ १४ ॥

इदानीमाक्षिपन्ति किं केन प्रकारेण द्रष्टार एव दृश्यस्वरूपाः । उत्तरमाह—अद्वयेन अद्वयत्वेन हेतुना दृश्यस्वरूपं किं दृष्टवन्त इति । ननु अनेनैव हेतुना वस्तुनोऽप्यसत्त्वं किमिति स्वीक्रियत इत्यत आह—द्वितीयमेवेति । न तु द्वितीयमेव वस्तु नास्ति, न तु वस्त्वपि विद्यते । यद्वा—द्वयत्वोपपादनं द्वितीयमेव, न द्वितीयं, नह्यसति द्वितीये द्वयं भवति, किं तु अद्वयं, यतोऽद्वयं ततो यदुक्तं यूयमेवेति सुस्थितं तदिति निगमयति यूयमेव व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

ब्रूहेव भगवन्निति देवा ऊचुः । यूयमेव । दृश्यते चेन्नात्मज्ञाः ।
 असङ्गो ह्ययमात्माऽतो यूयमेव स्वप्रकाशाः । इदं हि तत् संविन्मय-
 त्वाद्यूयमेव ॥ १९ ॥

इदानीमेवं बोध्यमाना अपि अनाद्यविद्यावासुनावशादन्यथाभावं प्रतिपन्नाः
 पृच्छन्ति—ब्रूहेव । कथं ? अनेकसंसारधर्मवर्णा वयं तद्विलक्षणब्रह्मस्वरूपा
 इत्येतद्यथोपपन्नं भवति तथैव हे भगवन् अस्माकं ब्रूहि इति देवा ऊचुः ।
 पुरोक्तमेव प्रजापतिराह—यूयमेवेति । उक्तस्य किं उत्तरं इत्यत आह—दृश्यते
 चेन्नात्मज्ञा इति । भवद्भिः आत्मनो भिनैरात्मा दृश्यते चेत् ततो भवन्तो
 नात्मज्ञाश्च, करणग्रामागोचरात्मनो करणग्रामविषयतया गृहीतत्वात् शुष्माक-
 मज्ञत्वं सिद्धमित्यर्थः । स्वात्माऽपि करणग्रामसङ्ग इत्यत आह—असङ्गो
 ह्ययमात्मेति । हि यस्मात् अयं भवतामात्मा स्वभावतोऽसङ्गः भवतां कर्तृत्वादि-
 धर्मविशिष्टतया प्रतीयते । एवंमात्मा अन्यथा दृष्टः । कीदृशाः वयं इत्यत
 आह—यूयमेव स्वप्रकाशा इति । भवतां साधनान्तरनैरपेक्ष्येण करणग्रामवृत्ति-
 सहस्रप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन तद्वाभावप्रकाशकत्वात् । इदं सर्वं संविदेकस्वभावमिति
 पूर्वं प्रतिज्ञाय इदानीमस्माकं स्वयंप्रकाशत्वं ब्रूषे, तदिदं पूर्वोत्तरविरुद्धं इत्यत
 आह—इदं हीति । यदिदं भवतां स्वप्रकाशत्वं तदेव हि संविद्रूपत्वं, अतो न
 प्रतिज्ञाहानिः । स्वप्रकाशसंविदेरेकार्थत्वे हेतुमाह—संविन्मयत्वादिति । ततः
 संविद्यसङ्गोदासीनाः यूयमेव ॥ १९ ॥

देवानां आत्मतत्त्वज्ञानख्यापनम्

नेति होचुः । हन्तासङ्गा वयमिति होचुः । कथं पश्यन्तीति
 होवाच । न वयं विद्म इति होचुः । ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति

होवाच । न च संविन्मया एतौ हि । पुरस्तात् सुविभातमव्यव-
हार्यमेवाद्भ्यम् । ज्ञातो वैष विज्ञातः । विदिताविदितात् पर
इति होचुः ॥ १६ ॥

प्रजापतिनांक्ता एवमन्यन्त । किमिति ? पूर्वं अस्माभिः कर्तृत्वादिकं
आत्मनि गृहीतं, इदानीं तत्त्यागपूर्वकं स्वयंप्रकाशतां गताः । तत्रात्मानं वयं
जानीम इति आत्मनि कर्तृत्वाभावेऽपि केवलस्वयंप्रकाशताऽङ्गीकारे तत्रासंभवं
मन्यमाना आहुः—नेति । नास्माकं स्वयंप्रकाशतेति होचुः स्वयंप्रकाशताऽभावेऽपि
असङ्गत्वं विद्यत इत्याहुः, हन्त असङ्ग वयमिति होचुः । एवमुक्तवतो देवान्
स्वयंप्रकाशत्वं बुबोधयिषुः प्रजापतिराह—कथमिति । भवन्तः स्वात्मानं केन
प्रकारेण पश्यन्तीति होवाच । प्रजापतिनैवमुक्ता देवा ऊचुः । किमिति ?
करणध्रामागोचरं आत्मानं न वयं विद्मो जानीमः इति । ततो यूयमेव
स्वप्रकाशा इति होवाच इत्युक्तार्थम् । संविद्विकाराणां अस्माकं कथं संविद्रूपता ?
इत्यत आह—न च संविन्मया इति । नैव वयं संविद्विकारा इत्यर्थः । कथं
एतदवगम्यत इत्यत आह—एतौ हीति । धात्वर्थनिर्देशोऽयं न धातुनिर्देशः
ईक्षतेरिति वत्, आत्मावगतौ । परमार्थमुपदिशति—पुरस्तादिति । स्वातिरिक्त-
भ्रमतः पुरस्तादिति कालत्रयोपलक्षणार्थम् । कालत्रयेऽपि ब्रह्म स्वातिरिक्तापह-
वसिद्धं स्वमात्रतया सम्यग्विभातीति सुविभातम् । तत् किं व्यवहारार्हं ? नेत्याह
—अव्यवहार्यमेवेति । निर्विशेषचिन्मात्रावगतेः सर्वव्यवहारापहवपूर्वकत्वात् ।
उक्तार्थं हेतुः—अद्भ्यमिति । निष्प्रतियोगिकाद्वैतरूपत्वात् । एवं देवानां परमार्थ-
तत्त्वमुपदिश्य पुनरिदानीं पृच्छति—ज्ञातो वा भवद्विरात्मेति । वाशब्दद्योतित-
पक्षान्तरमाह—विज्ञात इति । विशब्दो निषेधार्थः । न हि भवद्विः विज्ञात
इत्यर्थः । एवं प्रजापतिना पृष्टाः देवाः स्वात्मनः स्वरूपमवगतानवगतकलना-
विरलमाहुरित्याह—विदिताविदितात् पर इति । ज्ञातादज्ञातादपि व्यतिरिक्तोऽय-
मात्मा । वयं तदुभयमपि वक्तुमशक्ता इति होचुः, “अन्यदेव तद्विदितादथो
अविदितादधि” इति श्रुतेः ॥ १६ ॥

ब्रह्मात्मैक्योपदेशः

स होवाच तद्वा एतद्ब्रह्माद्वयं बृहत्त्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रमात्मैवाव्यवहार्यं केन च । तदेतदात्मानमोमित्यपश्यन्तः पश्यत । तदेतत् सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यो सत्यम् । तदेतत् पण्डिता एव पश्यन्ति ॥ १७ ॥

प्रजापतिः अवगतप्रायान् देवान् मन्वानः पुनराह—स होवाचेति । किमिति ? यदेतन्मया उच्यमानं तत् (?) द्वैतमेव भवद्विरवगतं न हि तत्र संशयोऽस्ति । किं तत् ? ब्रह्म अद्वयं, तत्र हेतुः—बृहत्त्वात् स्वमात्रतयोपबृंहणात्, ब्रह्मेति बृहिघातोरथाविगमात्, उक्तार्थमेतत् नित्यं इत्यादिपदपञ्चकं, सूक्ष्मं करणप्रामा-गोचरत्वात् परिपूर्णं परिच्छेदत्रयशून्यत्वात्, अद्वयं उक्तार्थं, सदानन्दचिन्मात्रं मिथ्यादुःखजाड्यापहवसिद्धत्वात् आत्मैव अनात्मापहवसिद्धं आत्ममात्रं अव्यव-हार्यं येन केनापि व्यवहर्तुमशक्यत्वात् । अव्यवहार्यतया यदुक्तं तत् तच्छब्दार्थः । एतच्छब्दस्तु सर्वप्रत्ययसाक्षिणं परामृशति तदेतच्छब्दार्थं प्रत्यगभिन्नपरमात्मानं ओमिति तुर्योङ्काराप्रविद्योततुर्यतुरीयं ब्रह्मास्मीति अपश्यन्तः अनवलोकयन्तः सन्तः पश्यत अवलोकनं कुरुत । तत् शाल्त्रैकगम्यं एतत् मयोक्तं यच्छ्रुत्या-चार्योक्तं तदेव सत्यं अविताथार्थत्वात् । तदेव व्याकरोति—सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवेति । स्वारोपिताब्रह्मताऽनात्मताशान्त्यर्थं व्यतिहारेणोपदेशः । एवमा-त्मनो ब्रह्मत्वे ब्रह्मण आत्मत्वे च न कदाऽपि विचिकित्स्यं असंशयितव्यं इति अनेन प्रकारेण निश्चित्य तत ॐ ओङ्काराप्रविद्योततुर्यतुरीयं प्रत्यक्परविभागैक्य-कलनाविरलं स्वमात्रमवशिष्यते इति यत्तदेव सत्यम् । यदेतत्प्रत्यक्परैक्य-निष्पन्नार्थतुर्यतुरीयं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पण्डिताः सम्यज्ज्ञानिन एव पश्यन्ति । यत् सर्वापहवसिद्धब्रह्ममात्रदर्शनं एतद्भि पाण्डित्यं यत् पण्डिताव-गतिसिद्धम् ॥ १७ ॥

आविद्यकविशेषनिषेधः

एतद्धचशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमवक्तव्यमनादातव्यम-
गन्तव्यमविसर्जयितव्यमनानन्दयितव्यममन्तव्यमबोद्धव्यमनहंकर्तयि-
तव्यमचेतयितव्यमप्राणयितव्यमनपानयितव्यमव्यानयितव्यमनुदान-
यितव्यमसमानयितव्यमनिन्द्रियमविषयमकरणमलक्षणमसङ्गमगुणम-
विक्रियमव्यपदेश्यमसत्त्वमूर्जस्कमतमस्कममायमभयमप्यौपनिषदमेव
सुविभातं सकृद्विभातं पुरतोऽस्मात् सर्वस्मात् सुविभातमद्वयं पश्यत
हंसः सोऽहमिति ॥ १८ ॥

तत्र स्वाज्ञसमर्पितविशेषापह्वमाह— अशब्दमित्याद्यसमानयितव्यमि-
त्यन्तेन । सविषयज्ञानेन्द्रियपञ्चककर्मैन्द्रियपञ्चकान्तःकरणचतुष्टयप्राणादिपञ्चक-
कलना अस्ति नास्तीति विभ्रमोऽपि न हि तुर्यतुर्ये विद्यते, तुर्यतुर्यस्य निष्प्रति-
योगिकाद्वैतरूपत्वात् । प्रातिस्विकेन निषेधमुक्त्वा युगपन्निषेधमाह— अनिन्द्रिय-
मित्यादिना । अनिन्द्रियं ज्ञानकर्मैन्द्रियतद्भृत्तिजातवैरळ्यात् । अविषयं
भूतपञ्चकतत्कार्यभौतिकास्पृष्टत्वात् । अकरणं बाह्यान्तःकरणप्रामविवर्जितत्वात् ।
अलक्षणं जहदादिलक्षणागम्यत्वात् । असङ्गं देहेन्द्रियादिसंबन्धाभावात् ।
अगुणं सौष्टवादिगुणवैरळ्यात् । अविक्रियं स्वाङ्गचलनादिरूपक्रियावैरळ्यात् ।
अव्यपदेश्यं नामरूपाभावात् । असत्त्वं अरजस्कं अतमस्कं इति सत्त्वादि-
त्रिगुणशून्यं निर्गुणत्वात् । अमायं अकपटं यथाभूतार्थरूपत्वात् । अभयं भयमूल-
द्वैतासंभवात् । स्वातिरिक्तद्वैतसामान्याभावे अपि औपनिषदमेव ईशाद्यष्टोत्तर-
शतोपनिषदर्थश्रवणादिनिष्प्रज्ञानैकगम्यत्वात् । स्वेन रूपेण सुविभातं स्वमात्र-
तया भातत्वात् । सकृद्विभातं स्वावृत्तित्रयरहितं सत् सकृच्चरमसाक्षात्कारतया भात-
त्वात्, पुनः प्रतीयन्तरनिरपेक्षमित्यर्थः । अस्य स्वाविद्यापदतत्कार्यस्य पुरतो-
ऽस्मात् सर्वस्मात् सुविभातम् । अद्वयं उक्तार्थं पश्यत । दर्शनप्रकारमाह— हंसः
सोऽहमिति । हं त्वंपदार्थः, सः तत्पदार्थः, व्यतिहारस्तयोः एकत्वप्रदर्शनार्थः ॥

देवानां अद्वयात्मानुभवनिर्धारणम्

स होवाच किमेष दृष्टो वेति । दृष्टो विदिताविदितात् पर इति होचुः । कैषा । कथमिति होचुः । किं तेन । न किञ्चनेति होचुः । यूयमेवाश्चर्यरूपा इति होवाच । न चेत्याहुः । ओमित्यनुजानीध्वं ब्रूतैनमिति । ज्ञातोऽज्ञातश्चेति होचुर्न चैवमिति होचुरिति । ब्रूतैवैनमात्मसिद्धमिति होवाच । पश्याम् एव भगवो न च वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुमो नमस्तेऽस्तु भगवन् प्रसीदेति होचुः । न भेतव्यं पृच्छतेति होवाच । कैषाऽनुज्ञेति । एष एवात्मेति होवाच । ते होचुर्नमस्तुभ्यं वयं त इति । इति ह प्रजापतिर्देवाननु-
शशासानुशशासेति ॥ १९ ॥

देवान् प्रत्येवमुक्त्वा स प्रजापतिः उवाच ह किल । किमिति ? किमेष दृष्टोऽदृष्टो वेति । दृष्टो विदिताविदितात् परः इति होचुः इत्ययमर्थः केनोपनिषद्विवरणे सम्यक् प्रपञ्चितः । तैरेवमुक्तः प्रजापतिराह—कैषेति । एषा स्वात्मसंवित् क कुत्र वर्तते । प्रजापतिना एवं बुद्धिपरीक्षाऽर्थं पृष्टाः प्रजापत्यनुग्रह सिद्धस्वानुभूतिं प्रकटयन्तः उत्तरं ददुरित्याह—कथमिति होचुरिति । कथं केन प्रकारेण स्वमहिमस्थां संविदमुद्दिश्य तदाधारं पृच्छतीति शेषः । पुनरपि तेषां बुद्धिपरीक्षाऽर्थं प्रजापतिः पृच्छति—किं तेनेति । तेन स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितेनात्मना साक्षात्कृतेन किं प्रयोजनमिति प्रजापतिना पृष्टा देवाः ब्रह्मभावापत्त्यनन्तरं न किमपि प्रयोजनान्तरं अस्तीत्याहुरित्याह—न किञ्चनेति होचुरिति । तैरेवमुक्तः पुनः प्रजापतिराह—यूयमेवेति । हे देवाः यूयमेव आश्चर्यरूपाः स्वात्मैवाश्चर्यरूपः, ‘आश्चर्यो वक्ता’ इत्यादि, “आश्चर्यवत् पश्यति” इत्यादि च श्रुतिस्मृतिप्रकटितपरमात्मैव आश्चर्यरूपः, स एव भवन्त इत्यर्थः । इति होवाच प्रजापतिः । तेनैवमुक्ताः तत्त्वंपदार्थभेदमपश्यन्त इवोत्तरमाहुरित्याह—नचेत्याहु-

रिति । नैवात्र द्वयमस्ति येन वयं तत्स्वरूपं, किं तु तत्स्वरूपमेवेति । तैरैवमुक्तः पुनराह—ओमित्यनुजानीध्वमिति । यदि भवतां एवं परमार्थनिश्चयस्तदा नचेत्येवमादिनकारं परित्यज्य ओमित्येवानुज्ञां भवन्तः कुर्वन्तु । इतः परं भवन्तः स्वानुभवं वदन्तिवत्याह—ब्रूतेति । यथा भवद्विरवगतं तथा निःशङ्कं ब्रूत कथयत । एवं प्रजापतिनोक्ताः स्वाचार्यप्रजापतिहृदयभूमानन्दं जनयितुमेवमाहुः—ज्ञातोऽज्ञातश्चेति । यथा भवद्विररूपदिष्टः तथा अस्माभिरप्यवगतः । न चात्र कर्मकर्तृभावोऽपि अव्युत् इत्यर्थः । न चैवं, वस्तुतस्तु ज्ञातोऽज्ञातोऽपि नैव, विधिनिषेधप्रत्ययगम्यत्वात् इति होचुः । तैरैवमुक्तः प्रजापतिराह— ब्रूतैवैनमात्मसिद्धमिति होवाचेति । एवं मयोपदिष्टमात्मानमनात्मापह्ववतः आत्ममात्रतया सिद्धमेव ब्रूतेति होवाच । एवं प्रजापतिना आक्षिप्ताः स्वानुभव-सर्वस्वं प्रकटयन्तीत्याह—पश्याम एवेति । हे भगवो भगवन् योऽनात्मापह्वव-सिद्धस्वात्मा निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यामः एव । पुनरेवकारव्यावर्त्यमाहुः—न च वयं स्वातिरेकेण पश्यामः स्वात्ममात्रदर्शनस्य स्वातिरिक्तदर्शनापह्वव-पूर्वकत्वात् । तथाऽपि तत्स्वरूपं वक्तुं शक्यमित्यत्राहुः—नैवेति । त्वदुपदिष्ट-निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषमात्मानं नैव वयं वक्तुं शक्नुमः । इतः परं वक्तव्यमवक्तव्यं वा न किञ्चिदस्तीति मन्वानाः स्वोपदेष्टुः प्रजापतेः नमस्कारं कृतवन्त इत्याह—नम इति । नमस्ते तुभ्यं स्वाचार्याय पित्रे च अस्तु हे भगवन् प्रसीद प्रसन्नो भव इति होचुः । प्रजापतिरपि सर्वदा तेषु प्रसन्नः सन् पुनस्तेषां बुद्धिदाढ्यमव-लोकयितुं प्रसीदेति तदुक्तं स्वीकृत्याह—न भेतव्यं पृच्छतेति होवाचेति । भवद्विर्न भेतव्यं भयं न करणीयं, पुनरात्मविषये प्रश्नं पृच्छत । एवमुक्ताः देवाः प्रजापतिमाहुः कैषाऽनुज्ञेति पृच्छतेत्येषाऽनुज्ञा स्वात्मव्यतिरिक्ता किं तयेति । प्रजापतिरपि तेषां दृढानुभवमवलोक्य संतुष्ट एवमाह—एष एवात्मेति होवाचेति । यो मयोक्तः ओङ्काराप्रविद्योततुर्यतुरीय एष एवाविकल्पाविकल्पात्मा भवद्विः स्वावशेषतया विदितः । एवं प्रजापतिनोक्ताः देवाः प्रजापतेरानन्दं अभिवर्धयन्त इति होचुः—वयं भवच्छिष्याः पुत्राश्च, महागुरवे पित्रे च तुभ्यं नमोऽस्तु । एवं श्रुतिराह—प्रजापतिर्देवाननुशशासेति । व्यष्टिसमष्ट्यात्मक-

प्रणवरूपाविद्यापदतत्कार्यजाग्रज्जाग्रदादिपञ्चदशावस्थातद्व्यष्टयारोपापवादाधि-
करणविश्वविश्वदितुर्यप्राज्ञान्ततत्समष्टयारोपापवादाधिकरणविराड्विराडादितुर्य-
बीजान्ततदुभयैक्यारोपापवादाधिकरणोत्रोत्राद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्तकलनाप्रपञ्च-
नपूर्वकं तदपह्ववसिद्धं तुर्यतुरीयं ब्रह्म अविकल्पविकल्पं उग्रमित्याद्यहमित्यन्तानुष्ठुभैव
लभ्यं ब्रह्म स्वमात्रमित्यनेनैव प्रकारेण प्रजापतिः देवाननुशासः । पारमार्थिक-
ज्ञानोपदेशेन अनुशासनं कृतवान् । इतिशब्दो विद्यासमास्यर्थः ॥ १९ ॥

उक्तार्थानुवादकमन्त्रः

तदेष श्लोकः—

ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम् ।

अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेदिति ॥ २० ॥

तत् तत्रोपनिषदर्थे एष श्लोको मन्त्रो भवति स्वाज्ञदृष्टया परिच्छेदप्रसक्तौ
ओतं सर्वत्र तुर्यतुर्यं ततं ओतेन तुरीयोङ्कारेण जानीयात् । किं तदोतमात्रं ?
तत्राह अनुज्ञातारं सर्वसाक्षिणमपि जानीयात् । ततोऽप्यान्तरं प्रत्यगभिन्न-
परमात्मानं परागभावसापेक्षप्रत्यग्भावापाये निष्प्रतियोगिकाद्वयं स्वमात्रमिति
अनुज्ञां लब्ध्वा साक्षात्कृत्य तत उपद्रष्टारं तुर्यतुरीयं स्वमात्रमित्याव्रजेत् ॥ २० ॥

इति नवमः खण्डः

तुरीयोङ्कारविद्योतं मन्त्रराजार्थभासुरम् ।

नृसिंहाख्यं त्रिपाद्ब्रह्म हृदये मे विजृम्भताम् ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

तापनीयोपनिषदो व्याख्येह लिखिता मया ।

प्रकृतोपनिषद्ब्रह्माख्याग्रन्थस्तु द्विसहस्रयुक् ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे सप्तविंशतिसङ्ख्यापूरकं
नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

रामतापिन्युपनिषत्

पूर्वतापिनी

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

प्रथमोपनिषत्

रामनामार्थप्रकाशनम्

चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ॥ १ ॥
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः ।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा ॥ २ ॥
रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः ।
राक्षसान् मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा ॥ ३ ॥
प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम् ।
धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ॥ ४ ॥
तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात् ।
तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥ ५ ॥

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥ ६ ॥

श्रीरामतापनीयार्थं भक्तध्येयकळेवरम् ।
विकळेवरकैवल्यं श्रीरामब्रह्म मे गतिः ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तयं श्रीरामतापिनीयोपनिषत् पूर्वोत्तरतापिनीभ्यां
सोपायसविशेषनिर्विशेषब्रह्मस्वरूपप्रकटनपूर्वकं ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते ।
अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । मुमुक्षुनुपलभ्य अवान्तररूपेण प्रवृत्तेयं
पूर्वतापिनीश्रुतिरिति यत्तत् सविशेषब्रह्मविद्यास्तुत्यर्थं आदौ स्वाज्ञस्वज्ञदृष्टि-
माश्रित्य रामनामार्थं प्रकाशयति—चिन्मय इत्यादिना । चिन्मये चिन्मात्रे हरौ
स्वाज्ञानतत्कार्यहारिणि विष्णौ सर्वव्यापके

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

इति स्वप्रतिज्ञापरिपालनार्थं अस्मिन् दशरथे कश्यपप्रजापत्यवतारे निष्ठाद्वय-
परिपालनाय जाते आविभूते सत्यथ बाललीलया रघोः कुले अखिलं स्वजनवर्गं
यो राति आनन्दयति यो महीस्थितः सन् स्वतेजसा स्वविभूत्या च
राजते ॥ १ ॥ एवं भूरादिसर्वलोकेषु स एव रामः इति विद्वद्भिः तथाथात्म्यज्ञैः
प्रकटीकृतो भवति । भङ्गाद्यन्तरेण रामनामार्थं निर्दिशति—राक्षसा इति ।
विराधादिराक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतः स्वपापकृत्यतो वा ॥ २ ॥
पुनः अभिरामेण सर्वलोकमनोरमणरूपेण वा रामनाम भुवि ख्यातं स्यादित्यर्थः ।
राक्षसा इत्यत्र रेफाणो गृह्यते, मरणं यान्ति इत्यत्र मकारः, वर्णद्वययोगे रामो
भवति । पुनः प्रकारान्तरेण रामनामोद्धरति—राक्षसानिति । यथा राहुः
चन्द्रं निष्प्रभं करोति ॥ ३ ॥ तथा अयं मर्त्यरूपेण राक्षसान् प्रभाहीनान्
कृत्वा अथ राज्याह्वाणं महीभृतां सतां स्वचरित्रेण सर्वप्राणिस्वाश्रमोचित-
धर्ममार्गं उपदिशन् स्वातिरिक्ताश्रयासंभवप्रबोधसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्ररूपे

यो राजते यः स्वे महिम्नि महीयते स राम इति स्वनाम्ना ज्ञानमार्गं प्रकाशयन् ॥ ४ ॥ स्वमूर्तिध्यानेन स्वातिरिक्तपदार्थवैराग्यं जनयन्, स्वपूजनतो ब्रह्माद्यैश्वर्यं दिशन् योऽवतिष्ठते तस्य रामाख्या सर्वत्र रातीति भुवि स्यात् । अस्य रामाख्या कथमित्यत्र राक्षसान् मर्त्यरूपेण राहुः मनसिजं राज्यार्हाणां महीभृतामिति रेफमकारयोजनतो रामाख्या स्यादित्यर्थः । लोकदृष्ट्या एवं नाम प्रकाशयित्वा वस्तुदृष्ट्या अस्य नामार्थं निर्दिशति—अथेति ॥ ५ ॥ सर्वापह्व-सिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसानतया मनो युञ्जन्त इति योगिनः सम्यज्ज्ञानि-नोऽनन्ते परिच्छेदत्रयापह्वसिद्धे नित्यभूमानन्दे चिदात्मनि चिन्मात्रे तन्मात्रावशेषतया रमन्त इति रामपदेन असौ भगवान् परं ब्रह्माभिधीयते, “राम एव परं ब्रह्म” इति श्रुतेः ॥ ६ ॥

उपासकार्थं निर्विशेषस्य रूपकल्पना

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ ७ ॥

रूपस्थानां देवतानां ^१पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना ।

द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ॥ ८ ॥

अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः ।

सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ॥ ९ ॥

शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा ।

कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनाऽऽदिकल्पना ॥ १० ॥

अनेन मन्त्रेण रामस्य निर्विशेषत्वमवगम्यते, तथाविधस्य सविशेषत्वं कुतः? इत्यत आह—चिन्मयस्येति । चिन्मयस्येत्यादिविशेषणविशिष्टब्रह्मणो

^१ पुंस्त्वं गात्रादि—अ, १.

त्रिविशेषत्वेन विकल्पासहत्वेऽपि भक्तपटलस्वपदास्त्युपायार्थं रूपादिविशेष-
कल्पना, न स्वत इत्यर्थः ॥ ७ ॥ उपासकस्वपदासिनिमित्तकल्पनां प्रपञ्चयति—
रूपेति । निर्विशेषब्रह्ममात्रस्वरूपे रामे स्वाज्ञादिदृष्ट्या भेदाभेदरूपेण तिष्ठन्तीति
रूपस्थाः तासां देवतानां सीतारामतदंशभेदेन द्विचत्वारिषडष्टानां सशक्तिकानां
पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना तदधिकरणरामोपासनार्थैव । सीतया सह द्वित्वं,
लक्ष्मणादिभिः चतुस्सङ्ख्याविशिष्टत्वं, सुग्रीवविभीषणादिभिः षट्संख्यापूरकत्वं,
शृष्ट्यादिसचिवैः अष्टसंख्यापूरकत्वम् । तासूँ सीतारामांशविकल्पितानां
नरवानरराक्षसभेदेन सेनासङ्ख्या निगद्यते । एकैकस्यामिह सेनाऽधिपा दश द्वादश
षोडश अष्टादश हस्ता वर्तन्ते इति कथिताः, “महापद्मशतं हस्तं” इति
गणितशास्त्रप्रसिद्धेः ॥ ८ ॥ कस्याश्चित् देवतायाः शङ्खादिसङ्ख्याभिः युताः
सहस्रान्ताः परिवाराः सन्ति ॥ ९ ॥ आदौ रामे बहुदेवताकल्पना ततस्तासां
वर्णकल्पना वाहनकल्पना एकैकार्यनिर्वाहकशक्तिकल्पना अगण्यसेनाकल्पने-
त्येवं ब्रह्मण्येवं हि रामे पञ्चधा कल्पना विकल्पिता । एवं पञ्चधाकल्पना
निर्विशेषब्रह्मणो रामस्येत्यत आह—कल्पितस्येति । भक्तपटलस्वपदास्त्युपाय-
तया कल्पितस्य शरीरस्यैव सेनाऽऽदिकल्पना, स्वस्य निरुपाधिकत्वेन
निर्विकल्पत्वात् ॥ १० ॥

मन्त्रजपयन्त्रपूजयोः रामप्रसादकरत्वम्

ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञितः ।

जप्तव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति ॥ ११ ॥

क्रियाकर्मेज्याकर्तृणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ ।

मननात् त्राणना[तारणा]न्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः ॥ १२ ॥

सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना ।

विना यन्त्रेण चेत् पूजा देवता न प्रसीदति ॥ १३ ॥

इत्थंभूतरामप्रसादहेतुः कः ? इत्याशङ्क्य तद्वाचको मन्त्रः षडक्षरादिः तत्पूजापीठं चेत्याह—ब्रह्मादीनामिति । रामस्य सर्वदेवात्मकत्वेन रामान्वर्थ-संज्ञितो मन्त्रो ब्रह्मादीनामपि वाचक एव । यतो मन्त्रानुष्ठानं विना देवो न प्रसीदति अतो मन्त्रिणा मन्त्रैकशरणेन अयं मनुः जप्तव्यो भवति ॥ ११ ॥ मन्त्रार्थं व्युत्पादयति—क्रियेति । क्रिया व्यापारः, द्वितीयान्तोपात्तं कर्म, इज्या यज्ञः, कर्ता यजमानः, तेषां महातात्पर्यं यत्र पर्यवस्यति तमेतमर्थं अयं मन्त्रो बदति मन्त्रार्थस्य प्रत्यगभिन्नगुणानि पर्यवसितत्वात् । अथ सर्ववाच्यवस्तुनो रामचन्द्रस्य यो वाचको भवति स्वमननमात्रतो मन्तारं स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रमवारिधेः तारणात् मन्त्र इति व्युत्पत्तिः युज्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥ इतश्च देवताप्रसादहेतुः देवपूजा इत्याह—स इति । शुद्धाद्वैततया अभयस्यास्य देवस्य यो विग्रहः सोऽयं यन्नकल्पनारूपो भवति । यथा यन्त्रपूजया देवता प्रसीदति तथा विग्रहपूजया न प्रसीदतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

इति प्रथमोपनिषत्

द्वितीयोपनिषत्

रामबीजस्य सर्वात्मकत्वम्

स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते ।

जीवत्वेन समो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च ॥ १ ॥

कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमोगुणैः ।

यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥ २ ॥

तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।

रेफारूपा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्त्र एव चेति ॥ ३ ॥

स्वस्य स्वबीजात्मना सर्वकारणत्वमाह—स्वभूरिति । हेत्वन्तरं विना स्वयमेव भवतीति स्वभूः ज्योतिर्मयः प्रकाशमात्रत्वात् “प्रकाशः पर्यवस्यति” इति श्रुतेः । अनन्तरूपी स्वाज्ञदृष्ट्या अनेकरूपी सर्वात्मकत्वात् । एवं स्वेनैव भासते स्वयंप्रकाशत्वात् । यस्य सृष्टिस्थित्विप्रळयवतः स्वातिरिक्तप्रपञ्चस्य जीवत्वेन कार्योपाधिना ईश्वरोपाधिकारणत्वेन चिच्छक्त्या प्रतीचा तद्भास्य-रजस्सत्त्वतमोगुणैर्वा सम इत्यत्र मानं आमिति । ओङ्कारस्य अभिधानाभिधेय-रूपेण सर्वसमत्वात् “सम एभिः सर्वैः” इति श्रुतेः । रामरहस्ये वटबीज-दृष्टान्तश्रुतिः व्याख्याता । रां इति रामबीजे रेति व्यञ्जनतो ब्रह्मेत्युच्यते, तदुपरि श्रूयमाणाकारतो विष्णुः, मकारतः शिवः इति रेफारूपाः त्रिमूर्तयः स्युः । तत्रत्यदीर्घः छान्दसः । सरस्वतीलक्ष्मीगौरीभेदेन क्रियाज्ञानेच्छाभेदेन वा शक्तयः तिस्त्र एव चेति । द्वितीयोपनिषत्समान्यर्थश्च चशब्दः ॥ १-३ ॥

इति द्वितीयोपनिषत्

तृतीयोपनिषत्

सीतारामयोः मन्त्रयन्त्रादिपूज्यत्वम्

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त ।
स्थितानि च प्रहितान्येव तेषु ततो रामो मानवो माययाऽघात् ॥ १ ॥
जगत्प्राणायामनेऽस्मै नमः स्यान्नमस्त्वैक्यं प्रवदेत् प्राग्गुणेनेति ।

भगवत्प्रसादहेतुतया मन्त्रादिरुक्तः, तत्र पूज्यौ कौ ? इत्यत आह—
 सीतारामाविति । आभ्यां सीतारामाभ्यां चतुर्दशभुवनोपलक्षितानन्तकोटि-
 ब्रह्माण्डानि जलाशयबुद्बुदानीव मुहुर्मुहुः जन्मस्थितिभङ्गकलनामनुभवन्ति ।
 अत्र यन्त्रे तावेव तन्मयौ यन्त्ररूपिणौ सीतारामौ पूज्यावित्यर्थः । ततो यो
 रामो मायया मानवो भूत्वा समस्तं जगत् अघात् अपोषयत् अस्मै जगत्प्राणाय
 जगदात्मने नमः स्यात् नमोऽस्तु, आवयोः ऐक्यमस्त्वित्यर्थः । कुतो नमः-
 शब्दस्त्वैक्यवाचीत्यत आह—“ नमस्तु जीवपरयोर्वाच्यार्थत्यागपूर्वकम् ” लक्ष्ययोः
 शुद्धत्वेन ऐक्यमेव वदेत् । केन हेतुनेत्यत्र जीवपरयोः प्राग्गुणेन सच्चिदानन्द-
 रूपेणेत्यर्थः । इतिशब्दस्तृतीयोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥

इति तृतीयोपनिषत्

चतुर्थोपनिषत्

रामषडक्षरार्थः

जीववाची नमो नाम चात्मा रामेति गीयते ।

तदात्मिका या चतुर्थी तथा चायेति गीयते ॥ १ ॥

मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः ।

फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥ २ ॥

यथा नामी वाचकेन नाम्नो योऽभिमुखो भवेत् ।

तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥ ३ ॥

^१बीजशक्तिं न्यसेद्दक्षवामयोः स्तनयोरपि ।

कीलो मध्ये विना भाव्यः स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥ ४ ॥

सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारणः क्रमः ।

अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना समः ॥ ५ ॥

^२स त्वनुष्णगुविश्वेदग्नीषोमात्मकं जगत् ।

उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिणीया यथा ॥ ६ ॥

प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः ।

द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ॥ ७ ॥

प्रसन्नवदनो जेता धृष्टचष्टकविभूषितः ।

प्रकृत्या परमेश्वर्या जगद्योन्याऽङ्किताङ्कभृत् ॥ ८ ॥

हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता ।

श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजाऽऽत्मजः ॥ ९ ॥

दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्पाणिना पुनः ।

हेमाभेनानुजेनैव तथा कोणत्रयं भवेत् ॥ १० ॥

तथैव तस्य मन्त्रस्य यश्चाणुश्च स्वडेन्तया ।

एवं त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः ॥ ११ ॥

“नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्” इत्यत्र तत्त्वंपदलक्ष्ययोः ऐक्यं सूत्रितं, सोपायं तत्प्रपञ्चनाय चतुर्थोपनिषदारभ्यते । तत्रादौ श्रीरामषडक्षरार्थकथनेन प्रत्यक्परैक्यं प्रकटयति—जीवेति । अस्यार्थः रामरहस्ये प्रपञ्चितः ॥ १ ॥ एवं प्रत्यक्परैक्य-मुक्त्वा मन्त्रार्थयोः एकत्वानुसन्धानं प्रत्यग्ब्रह्मावगत्युपाय इत्याह—मञ्ज

^१ बीजशक्ती—क.

^२ सत्त्वनुष्णु—क. सत्त्वनुष्णु—अ, २.

इति ॥ २ ॥ मन्त्रो मन्त्र्यभिमुखो भवेत् इति सद्गृहान्तमाह—यथेति ॥ ३ ॥
 मन्त्रानुष्ठानस्य देवताऽऽभिमुख्यहेतुतया बीजादितन्यासस्थलं च सर्वमन्त्र-
 साधारणतयाऽऽह—बीजेति ॥ ४ ॥ रामस्य मन्त्रासनत्वं तत्राविर्भवं चाह—
 अत्रेति । अत्र मन्त्रे तेजसा वह्निना समः ॥ ५ ॥ स तु स
 एव अनुष्णगुः चन्द्रसमः स्वाभक्तभक्तापेक्षया उष्णानुष्णद्युत्तित्वे अनुष्ण-
 गुरिति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । “हरिरेव जगत् जगदेव हरिः
 हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः” इति स्मृत्यनुरोधेन विराड्भावमेत्य
 विश्वरूपश्चेत् इदं जगत् अग्नीषोमात्मकं भवति । तत्र प्राण्यदृष्टवशात् जंगति
 सीतया सह उत्पन्नवत् भातीत्याह—उत्पन्न इति ॥ ६-७ ॥ धृष्टयष्टकविभूषितः
 धृष्टयाद्यष्टमन्त्रिभिः परिवृत इत्यर्थः । पार्श्वद्वयस्थितसीतालक्ष्मणाभ्यां स्थितं
 त्रिकोणवत् भान्तं देवाः स्तुवन्तीत्याह—प्रकृत्येति ॥ ८-१० ॥ यथा
 रामलक्ष्मणसीतास्त्रिकोणवत् स्थिताः तथैव तस्य राममन्त्रस्य पार्श्वद्वये स्वापेक्षया
 लक्ष्मणस्य कनीयस्त्वेन अणुत्वं “एषोऽणुरात्मा” इति श्रुतेः । यश्च राममनुः
 अणुश्च लक्ष्मणमनुः स्वं स्वकीयसीतामनुः सर्वे डेन्तया चतुर्थ्यन्तेन युताः एवं
 मन्त्ररूपेणापि ॥ ११-१४ ॥

देवकृतरामस्तुतिः

स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम् ।

कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥ १२ ॥

नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः ।

रमाधराय रामाय श्रीरामा^१यात्ममूर्तये ॥ १३ ॥

जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने ।

भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥ १४ ॥

^१ यार्त—उ.

रामभद्र महेश्वास रघुवीर नृपोत्तम ।

भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥ १५ ॥

त्वमीश्वर्या दापयाथ संप्रत्याश्वरिमारणम् ।

कुर्विति स्तुत्य देवाद्याः तेन सार्धं सुखं स्थिताः ॥ १६ ॥

रक्षां देहि श्रियं च ते उभे अपि देहीत्यर्थः ॥ १५ ॥ त्वं ईश्वर्या
सीतया श्रियं दापय । आशु झटिति नः शत्रुमारणं कुरु ॥ १६ ॥

ऋषिकृतरामस्तुतिः

स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः ।

रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिर्वृत्यर्थमाददे ॥ १७ ॥

स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः ।

तद्व्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च ॥ १८ ॥

विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम् ।

हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया ॥ १९ ॥

पूजितो वायुपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम् ।

आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

स तु रामे शङ्कितः सन् प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः ।

विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत् ॥ २१ ॥

सप्तसालान् विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा ।

तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ सरामस्तस्य पत्तनम् ॥ २२ ॥

जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात् ।

तदा वाली निर्जगाम तं वालिनमथाहवे ॥ २३ ॥

निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयेत्ततः ।

हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥ २४ ॥

आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत ।

ततस्ततार हनुमानर्बिध लङ्कां समाययौ ॥ २५ ॥

सीतां दृष्ट्वाऽसुरान् हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम् ।

आगत्य रामेण सह न्यवेदयत तत्त्वतः ॥ २६ ॥

तदा रामः क्रोधरूपी तानाहूयाथ वानरान् ।

तैः सार्धमादायास्त्राणि पुरीं लङ्कां समाययौ ॥ २७ ॥

तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत् ।

घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्ध्यां युक्तं तमाहवे ॥ २८ ॥

हत्वा विभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् ।

आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम सः ॥ २९ ॥

यथा देवाः स्तुत्वा तत्प्रसादतः स्वराज्यं ययुः तथा ऋषयोऽपि तत्प्रसादलब्धदिव्यज्ञानेन भाविचर्यो भूतरूपां वा प्रपञ्चयन्तः स्तुवन्तीत्याह—
स्तुवन्तीति । निर्वृतिः सुखं वैकुण्ठपार्षदत्वप्रभवं तदर्थमाददे इत्यर्थः ॥ १७ ॥
लोकान् रावयति पीडयति कैलासपर्वताक्रान्तो महारवं करोतीति वा रावणः ।
मत्पार्षदप्रवरस्य ब्राह्मणशापप्रभवराक्षसत्वमोचनं कृत्वा अयं स्वपदे स्थापयितव्य इति तद्व्याजेन ॥ १८ ॥ देवीं संदृश्य अन्विष्य ॥ १९-२९ ॥

पट्टाभिषिक्तरामचन्द्रविभूतिः

ततः सिंहासनस्थः सन् द्विमुजो रघुनन्दनः ।

धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥ ३० ॥

मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये वामे तेजःप्रकाशिनीम् ।
 धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥ ३१ ॥
 उदग्दक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ ततः ।
 हनूमन्तं च श्रोतारमग्रतः स्यात्त्रिकोणगम् ॥ ३२ ॥
 भरताधस्तु सुग्रीवं शत्रुघ्नाधो विभीषणम् ।
 पश्चिमे लक्ष्मणं तस्य धृतच्छत्रं सचाक्षरम् ॥ ३३ ॥
 तदधस्तौ तालवृन्तकरौ त्र्यश्रं पुनर्भवेत् ।
 एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गैरेष संयुतः ॥ ३४ ॥
 द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतः ।
 तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥ ३५ ॥
 विभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम् ।
 जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥ ३६ ॥
 विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च ।
 अशोको धर्मपालश्च सुमन्तश्चैभिरावृतः ॥ ३७ ॥
 ततः सहस्रदृग्वह्निर्धर्मर्शो वरुणोऽनिलः ।
 इन्द्रीशधात्रनन्ताश्च दशभिश्चैभिरावृतः ॥ ३८ ॥
 बहिस्तदायुधैः पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः ।
 वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥ ३९ ॥

पद्माभिषिक्तरामचन्द्रविभूर्ति वक्ष्यमाणयन्त्रदशावरणरूपिणीं प्रपञ्चयति—
 तत इति ॥ ३०—३३ ॥ शत्रुघ्नभरतपवनजा आद्यत्रिकोणरूपाः सुग्रीवविभीषण-

लक्ष्मणास्तु द्वितीयत्रिकोणरूपाः । शत्रुघ्नभरतपवनजसुग्रीवविभीषणलक्ष्मणालंकृत-
राज्याभिषिक्तश्रीरामयन्त्रषट्कोणमध्ये साङ्गं सावरणं सपरिवारं ससीतं
रामचन्द्रं भावयेत् । कथमसौ भावनीय इत्यत्र स्वयं षट्कोणमध्यासनो भूत्वा
सीताभरतशत्रुघ्नहनुमत्सुग्रीवविभीषणलक्ष्मणैः परिवृतो विजयत इति ध्येयो
भवति । षट्कोणेषु दीर्घाङ्गैरेष संयुतः इत्यत्र हृदयाद्यङ्गदेवताभिरावृतो
ध्येयः ॥ ३४ ॥ द्वितीयं वासुदेवाद्यैः इत्यत्र वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैः
आवृतो भवति । तृतीयं वायुसूनुं च इत्यत्र वायुसून्वादिजाम्बवदन्तैः परिवृतो
भवति ॥ ३५ ॥ चतुर्थावरणं धृष्ट्यादिसुमन्वान्तैः आवृतो भवति ॥ ३६-३७ ॥
पञ्चमषष्ठयोः इन्द्रादिभिः तदायुधैश्च आवृतो भवति ॥ ३८-३९ ॥

यन्त्रलेखनप्रकारः

एवमुद्देशतः प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना ।
त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥ ४० ॥
तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः साध्यमालिखेत् ।
द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वं पष्ठचन्तं साधकं तथा ॥ ४१ ॥
कुरु द्वयं च तत्पार्श्वे लिखेद्बीजान्तरे रमाम् ।
तत् सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥
दीर्घभाजी षडश्रेषु लिखेद्बीजं हृदादिभिः ।
कोणपार्श्वे रमामाये तदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ॥ ४३ ॥
क्रोधं कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्र्यभितो गिरम् ।
वृत्तत्रयं साष्टपत्रं सरोजे विलिखेत् स्वरान् ॥ ४४ ॥
केसरे चाष्टपत्रे च वर्गाष्टक^१मथालिखेत् ।
तेषु मालामनोर्वर्णान् विलिखेद्दूर्मिसंख्यया ॥ ४५ ॥

^१ मधोलि—क.

अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं पुनरष्टदलं लिखेत् ।
 तेषु नारायणाष्टार्णान् लिख्य तत्केसरे रमाम् ॥ ४६ ॥
 तद्वह्निर्द्वादशदलं विलिखेद्वादशाक्षरम् ।
 अर्थोनमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ॥ ४७ ॥
 आदिक्षान्तान् केसरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत् ।
 तद्वह्निः षोडशदलं लिख्य तत्केसरे द्वितीयम् ॥ ४८ ॥
 वर्माखनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाक्षरम् ।
 तत्सन्धिष्विरजादीनां मन्त्रान् मन्त्री समालिखेत् ॥ ४९ ॥
 ह्रं खं अं व्रं लूं अं श्रं ज्रं (च) लिखेत् सम्यक्ततो बहिः ।
 द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ॥ ५० ॥
 विलिखेन्मन्त्रराजार्णान् तेषु पत्रेषु यत्नतः ।
 ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै ॥ ५१ ॥
 द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्वह्निः ।
 भृगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम् ॥ ५२ ॥
 द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम् ।
 अनन्तो वासुकिश्चैव तक्षः कार्कोटपद्मकः [कौ] ॥ ५३ ॥
 महापद्मश्च शङ्खश्च गुलिकोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।
 एवं मण्डलमालिख्य तस्य दिक्षु विदिक्षु च ॥ ५४ ॥
 नारसिंहं च वाराहं लिखेन्मन्त्रद्वयं तथा ।
 कूटो रेफानुग्रहेन्दुनादशक्त्यादिभिर्युतः ॥ ५५ ॥

यो नृसिंहः समाख्यातो ग्रहमारणकर्मणि ।

अन्त्यार्धीशवियद्विन्दुनादैर्बीजं च सौकरम् ॥ ५६ ॥

हुंकारं चात्र रामस्य

अनुक्तात्माद्यावरणचतुष्टयमत्रैवान्तर्भूयते । एवमहरहः स्वावरणदेवता-
तत्परिवारैः उपास्यमानो विजयत इत्यादावुद्देशतः प्रोक्तम् । अधुना तु यन्त्रस्वरूपं
निर्दिशति—निर्देशस्तस्य चाधुनेति । यन्त्रलेखनप्रकारमाह—त्रिरेखेति
॥ ४०—४१ ॥ तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् इत्यत्र न हि
प्रणवचतुष्टयं लेखनीयं, मध्ये सम्मुखोन्मुखाभ्यां तारद्वयं लिखेदिति यदुक्तं तदेव
अत्र परामृश्यते ॥ ४२ ॥ लिखेद्बीजं हृदादिभिः रां नमः इत्यादि ॥ ४३ ॥
गिरं ऐं इति ॥ ४४ ॥ न हि “वृत्तत्रयं साष्टपत्रं” “पुनरष्टदळं लिखेत्”
इत्यत्र अष्टदळत्रयं भवति, अष्टदळद्वयस्यैव विनियुक्तत्वात् । द्वितीयाष्टदळेषु
तेषु ॥ ४५—४८ ॥ इरजादीनां हनूमदादीनाम् ॥ ४९ ॥ नादबिन्दुसमायुतं
इत्यत्र मन्त्रराजः प्रतिवर्णं ऊं प्रां इति दीर्घबिन्दुसमायुतो यथा भवति तथा
द्वात्रिंशद्वलेषु मन्त्रराजाणां विलिखेदित्यर्थः ॥ ५० ॥ तत्केसरेषु लिखित्वा
ध्यायेत् ॥ ५१ ॥ द्वादशेनांश्च द्वादशादित्यान् । वसुरुद्रादित्यानामान्यावरणपूजा-
प्रकरणे प्रकाशयन्ते । वज्रशूलाढ्यं वज्रादिशूलान्ताष्टदिक्पालकायुधाढ्यम् ।
यद्वा—प्रतिद्वारं वज्रशूलाभ्यां आढ्यमिति ॥ ५२—५४ ॥ कूटः क्षकारः रेफश्च
अनुग्रहः औङ्कारश्च इन्दुः मकारश्च नादशक्तिः यकारश्च, आदिशब्देन
बिन्दुर्गृह्यते, एतद्विशिष्टं क्षय्यौ इति निष्पन्नम् ॥ ५५ ॥ अन्त्यार्धीशो वराहः
तस्य वाचको वियत् हकारः बिन्दुनादाभ्यां बिन्दूकाराभ्यां युक्तश्चेत् हुमिति
सौकरबीजं भवति । वराहस्य अन्त्यार्धीशत्वं कथमित्यत्र गुरुभारतोऽन्यविक्रिया-
मापन्नाऽर्घिणी वसुमती वराहरूपेण तामुद्धृत्योद्वाहं कृतवान् इत्यन्त्यार्धीशो
भूवराह इत्यर्थः । तस्य बीजं हुं इति । शिष्टं रामरहस्योपनिषत्प्रोक्तदश-
वरणयन्त्रव्याख्यानेन व्याख्यातं स्यात् । अनयोरेकरूपत्वात् न विशेषो-
ऽस्तीत्यर्थः ॥५६॥

मालामन्त्रोद्धारः

मालामन्त्रोऽधुनेरितः ।

तारो नतिश्च निद्रायाः स्मृतिर्मेदश्च कामिका ॥ ५७ ॥

रुद्रेण संयुता वह्निर्मेधामरविभूषिता ।

¹दीर्घा क्रूरयुता ह्लादिन्यतो दीर्घसमायुता ॥ ५८ ॥

क्षुधा क्रोधिन्यमोघा च विश्वमप्यथ ह्यधया ।

युक्ता दीर्घाज्वालिनी च सुसूक्ष्मा मृत्युरूपिणी ॥ ५९ ॥

सप्रतिष्ठा ह्लादिनी त्वक्क्ष्वेलप्रीतिश्च सामरा ।

ज्योतिस्तीक्ष्णाग्निसंयुक्ता श्वेतानुस्वारसंयुता ॥ ६० ॥

कामिकापञ्चमोलान्तस्तान्तान्तो थान्त इत्यथ ।

स सानन्तो दीर्घयुतो वायुः सूक्ष्मयुतो विषः ॥ ६१ ॥

कामिका कामका रुद्रयुक्ताथोऽथ स्थिरातपा ।

तपिनी दीर्घयुक्ता भूरनलोऽनन्तगोऽनिलः ॥ ६२ ॥

नारायणात्मकः कालः प्राणोम्भो विद्यया युतः ।

पीतारातिस्तथा लान्तो योन्या युक्तस्ततो नतिः ॥ ६३ ॥

सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः स्रङ्मनुः स्वयम् ।

राज्याभिषिक्तस्य तस्य रामस्योक्तक्रमाह्रिखेत् ॥ ६४ ॥

अथ मालामन्त्रमुद्धारति—मालामन्त्र इति । चतुष्पष्टिकलासु सप्तचत्वारिंशत्कलात्मकोऽयं मालामन्त्रः कलाशास्त्रे प्रसिद्धः । एकैकस्याः कलायाः ओमित्याद्यैकैको वर्णः संजातः क्रमादेवमूह्यमिति मत्वा उपरतम् । एवं तारादि-

¹ दीर्घ—अ, अ १, क.

नत्यन्तकलाकार्यपूगो मालामनुर्भवति । स च रामरहस्योक्तः । एवं ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय इत्यादि प्रथमाष्टदलेषु क्रमाह्निखित्वा पूजयेदित्यर्थः ॥५७—६४॥

यन्त्रस्तुतिः

इदं सर्वात्मकं यन्त्रं प्रागुक्तमृषिसेवितम् ।

सेवकानां मोक्षकरमायुरारोग्यवर्धनम् ॥ ६५ ॥

अपुत्राणां पुत्रदं च बहुना किमनेन वै ।

प्राप्नुवन्ति क्षणात् सम्यगत्र धर्मादिकानपि ॥ ६६ ॥

इदं रहस्यं परममीश्वरेणापि दुर्गमम् ।

इदं यन्त्रं समाख्यातं न देयं प्राकृते जने ॥ इति ॥ ६७ ॥

उक्तविशेषणविशिष्टं यन्त्रं स्तौति—इदमिति । भजनानुरूपफल-
दमेतदित्याह—सेवकानामिति । चतुर्विधपुरुषार्थसाधकमेतदेवेत्यर्थः ॥६५—६६॥
एतस्य कैवल्यप्रापकज्ञानसाधनत्वेन यथोक्तसाधनविकलेषु गोपनीयत्वमाह—
इदमिति । ईश्वरेण सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेण पण्डितेनापि कामनाधिया मुख्यफलमातुं
दुःशकमित्यर्थः । इतिशब्दस्तुरीयोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ ६७ ॥

इति चतुर्थोपनिषत्

पञ्चमोपनिषत्

भूतशुद्ध्यादिपीठार्चनान्तपूजा

भूतादिकं शोधयेद्वारपूजां कृत्वा पद्माद्यासनस्थः प्रसन्नः ।

अर्चाविधावस्य पीठाधरोर्ध्वपार्श्वार्चनं मध्यपद्मार्चनं च ॥१॥

कृत्वा मृदुश्लक्ष्णसुतूलिकायां रत्नासने देशिकमर्चयित्वा ।
 शक्तिं चाधाराख्यकां कूर्मनागौ पृथिव्यब्जे स्वासनाधः प्रकल्प्य ॥
 विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं च वाणीं बीजादिकांश्चाग्निदेशादिकांश्च ।
 पीठस्याङ्घ्रिष्वेष धर्मादिकांश्च नञ्पूर्वास्तांस्तत्तद्दिक्वर्चयेच्च ॥ ३ ॥
 मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजांस्युपर्युपर्यादिमैरर्चितानि ।
 रजः सत्त्वं तम एतानि वृत्तत्रयं बीजद्वयं क्रमाद्भावयेच्च ॥ ४ ॥
 आशाव्याशास्वप्यथात्मानमन्तरात्मानं वा परमात्मानमन्तः ।
 ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु मायाविद्ये ये कला[एकल ?]

पारतत्त्वे ॥ ५ ॥

संपूजयेद्विमलादीश्च शक्तिः

राज्याभिषिक्तश्रीरामचन्द्रपूजायन्त्रं प्रकटयित्वा तत्पीठावरणपूजां तत्फलं
 च प्रपञ्चयितुं पञ्चमोपनिषदारभ्यते—भूतादिकमिति । भूतादिकं शोधयेत्
 इत्यत्र ब्राह्मे मुहूर्ते मुमुक्षुरुत्थाय दन्तधावनस्नानादिस्वाश्रमोचितकर्म निर्वर्त्याथ
 यथासंभवं पूजाद्रव्याणि संपाद्य देवगृहं गत्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय
 देवोद्बोधनार्थं आदौ षण्ठानादं कृत्वा पृथ्वी त्वयेति भूशुद्धिं अपसर्पन्त्विति
 भूतशुद्धिं पृथिव्यादिपञ्चभूतभौतिकानां कारणमात्रावशेषचिन्तनमेव वा भूतशुद्धिं
 कृत्वा । आदिशब्देन कलशशङ्खपूजाऽऽदिकं गृह्यते । आसनमन्त्रस्येत्यादिना
 कुशाद्यासनमभिमन्त्र्य सोऽहमर्क इति मन्त्रेण देवोभयपार्श्वयोः दीपं संस्थाप्य
 स्वयं उत्तराभिमुखः पद्माद्यासनमास्थाय प्राणायामादिकं कृत्वा स्वामभागे कलशं
 दक्षिणभागे शंखं यथोक्तविधिना अभ्यर्च्य शङ्खोदकेन देवात्मानौ पूजोपकरणानि
 संप्रोक्ष्य कलशे किञ्चित् निक्षिप्य तच्छेषं परित्यजेत् । स्वपुरोभागे पाद्यादिपञ्च-
 पात्राणि चासाद्य गन्धोदकेन पूरयित्वा तत्र सावरणं देवं आवाहनादिभिः
 अभ्यर्च्य । द्धारपूजां कृत्वेत्यादिना—अधरभागाय नमः । ऊर्ध्वभागाय नमः ।
 पार्श्वीय नमः । दक्षिणपार्श्वीय नमः । पश्चिमपार्श्वीय नमः । उत्तरपार्श्वीय नमः ।

पीठमध्यगतकमलाय नमः ॥ १ ॥ पीठदक्षिणभागे देशिकाय नमः । आदिकूर्माय नमः । शेषाय नमः । पृथिव्यै नमः । कमलाय नमः ॥ २ ॥ विघ्नेशं दुर्गां इत्यादिना—गं गणपतये नमः । तुं दुर्गायै नमः । क्षं क्षेत्रपालकाय नमः । सं सरस्वत्यै नमः । मूलप्रकृत्यै नमः । क्षीरसमुद्राय नमः । रत्नद्वीपाय नमः । रत्नसिंहासनाय नमः । श्वेतच्छत्राय नमः । रत्नमण्डपाय नमः । कल्पकवृक्षाय नमः । धर्मादिकांश्चेत्यादिना—धर्माय नमः । ज्ञानाय नमः । वैराग्याय नमः । ऐश्वर्याय नमः । अधर्माय नमः । अज्ञानाय नमः । अवैराग्याय नमः । अनैश्वर्याय नमः ॥ ३ ॥ अर्काय नमः । सोमाय नमः । अग्नये नमः । रजस्सत्त्वमित्यादिना—रजसे नमः । सत्त्वाय नमः । तमसे नमः ॥ ४ ॥ आत्मने नमः । अन्तरात्मने नमः । परमात्मने नमः । ज्ञानात्मने नमः । मायाविद्या इत्यादिना—मायातत्त्वाय नमः । विद्यातत्त्वाय नमः । एकल[कला?]तत्त्वाय नमः । परशिवतत्त्वाय नमः । मायायै नमः । विद्यायै नमः । अनन्तायै नमः । पद्मायै नमः । ज्ञानात्मने नमः ॥ ५ ॥ विमलादींश्च शक्तीः इत्यादिना—विमलायै नमः । उत्कर्षण्यै नमः । ज्ञानायै नमः । क्रियायै नमः । योगायै नमः । प्रह्वयै नमः । सत्यायै नमः । ईशानायै नमः । मध्ये अनुग्रहायै नमः । ॐ नमो भगवते विष्णवे वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपीठाय नमः इति पीठार्चनं कुर्यात् ॥

. भगवद्भयानपुरस्सरमावरणपूजा

अभ्यर्चयेद्देवमावाहयेच्च ।

अङ्गव्यूहानिलजाद्यैश्च पूज्य धृष्ट्यादिकैर्लोकपालैस्तद्वैः ॥ ६ ॥

वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नीलमुख्यैराराधयेद्राघवं चन्दनाद्यैः ।

मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्यैस्तस्मै जपादींश्च सम्यक् प्रकल्प्य ॥७॥

अथ भगवद्भयानपुरस्सरं आवरणपूजां कुर्यादित्याह—देवमिति । देवमावाहयेच्च इत्यत्र षट्कोणमध्ये सिंहासनस्थाय द्विभुजाय पार्श्वद्वयस्थित-

धनुर्बाणाय दक्षिणकरधृतज्ञानमुद्राय हनूमदादिव्याख्याननिरताय स्ववामाङ्गालङ्कार-
सीताय राज्याभिषिक्तश्रीरामचन्द्राय नमः, षट्कोणमध्ये सीताभरतशत्रुघ्न-
हनूमत्सुप्रीवविभीषणलक्ष्मणावृताय श्रीरामाय नमः इति पूजयेत् । षट्कोणेषु
रां हृदयाय नमः इत्यादि रः अस्त्राय फट् इत्यन्ताङ्गाद्यञ्चिताय श्रीरामाय नमः
इति पूजयेत् । प्रथमाष्टदळमूलेषु आग्नेयादिक्रमेण आत्मान्तरात्मपरमात्मज्ञानात्मभिः
पूर्वादिक्रमेण निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्याश्रीभिश्चावृताय श्रीरामाय नमः । प्रथमाष्टदळम्रे-
ष्वाग्नेयादिक्रमेण वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैः पूर्वादिक्रमेण श्रीकीर्तिपुष्टिरति-
भिश्चावृताय श्रीरामाय नमः । द्वितीयाष्टदळमूलेषु पूर्वादिक्रमेण वायुसूनुसुप्रीव-
भरतविभीषणलक्ष्मणाङ्गदशत्रुघ्नजाम्बवद्विः आवृताय श्रीरामाय नमः ।
द्वितीयाष्टदळम्रेषु पूर्वादिक्रमेण धृष्टिजयन्तविजयसुराष्ट्राष्ट्रवर्धनाशोकधर्मपालसु-
मन्त्रैरावृताय श्रीरामाय नमः । धृष्ट्यादिकैरित्यादिशब्देन वसिष्ठनीलाद्यावरणानि
गृह्यन्ते । तद्यथा—मूले तावदिन्द्रवज्राद्यावरणानन्तरं वसिष्ठनीलाद्यावरणयोः
उक्तत्वेऽपि तदपेक्षया अर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात् रामरहस्येऽपि अर्थक्रमानुसारणैव
प्रपञ्चितत्वात् अत्रापि तथैव युज्यत इति ॥ ६ ॥ द्वादशदळेषु पूर्वादिक्रमेण
वसिष्ठाय नमः । वामदेवाय नमः । इत्यादिवसिष्ठवामदेवजाबालिगौतमभरद्वाज-
विश्वामित्रवाल्मीकिनारदसनकसनन्दनसन्तकुमारैः आवृताय श्रीरामाय नमः ।
षोडशदलेषु नीलनळमुपेगमैन्दद्विविदशरभगन्धमादनगवाक्षकिरीटकुण्डलश्री-
वत्सकौस्तुभशङ्खचक्रगदापद्मरावृताय श्रीरामाय नमः । द्वात्रिंशदलेषु ध्रुवाय नमः
इत्यादि ध्रुवसोमापाह्वयानिलानलप्रत्यूषप्रभासंरष्ट्रसुभिः वीरभद्रशंभुगिरीशाजैक-
पदाहिबुध्न्यपिनाकिभुवनेशकपालदिकपतिस्थाणुभर्गैः एकादशरुद्रैः—प्रातिस्वि-
काचेनायां अजायैकपदे नमः, अहये बुध्न्याय नम इति । वरुणसूर्यवेदाङ्ग-
भान्विन्द्रकविगभस्तिमयहिरण्यरेतोदिवाकरमित्रविष्णुभिः धात्रा चावृताय श्रीरामाय
नमः । भूपुरान्तः इन्द्राग्निमनिर्ऋतिवरुणवायुकुबेरेशानैः अष्टदिकपालकैः
ऊर्ध्वाधोभागे धात्रनन्ताभ्यां चावृताय श्रीरामाय नमः । भूपुराद्बहिः वज्रशक्ति-
दण्डखड्गपाशाङ्कुशगदाशूलपद्मचक्रैरावृताय श्रीरामाय नमः । एवं साङ्गावरणं
देवं व्यष्टिसमष्टिभेदेन षोडशोपचारैरभ्यर्च्य तत्सन्निधौ षट्सहस्रसङ्ख्याया

रामतारकमन्त्रं जपित्वा गायत्रीमालालक्ष्मणादिमन्त्रांश्च जपित्वा जपादिकं भगवति समर्प्य ततो देवं हृदय उद्वास्य तन्निवेदानं ब्राह्मणभुक्तावशिष्टं स्वयमपि भुक्त्वा शिष्टकालं भगवन्नामस्मृतितः कालं नयेत् ॥ ७ ॥

भगवत्प्रसादद्वारा मोक्षप्राप्तिः

एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम् ।

गदाऽरिशङ्खाब्जधरं भवारिं स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः ॥ ८ ॥

विश्वव्यापी राधधो यस्तदानीमन्तर्दधे शङ्खचक्रे गदाब्जे ।

धृत्वा रमासहितः सानुजश्च सपत्तनः सानुगः सर्वलोकी ॥ ९ ॥

तद्भक्ता ये लब्धकामांश्च भुक्त्वा तथा पदं परमं यान्ति ते च ।

इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्च ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥ १० ॥

एवं कृते झटिति भगवत्प्रसादो भवति, ततः चित्तशुद्धिः, ततो निर्विशेषब्रह्मज्ञानं, तत्समकालं कृतकृत्यो भवतीत्याह—एवमिति । स्वोपासक-दृष्ट्यपेक्षया एवंभूतं यन्त्ररूपेण मूर्तिरूपेण सर्वारोपाधाररूपेण च सिद्धत्वात् जगदाधारभूतं वस्तुतः स्वेन रूपेण राजते महीयते इति रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपं गदाऽरिशङ्खाब्जधरं भवारिं वा रामं यो ध्यायेत् सोऽयं तत्प्रसादलब्धज्ञानद्वारा मोक्षमाप्नोति ॥ ८ ॥ स्वोपासकमोक्षदशायां तदुपास्यो रामः केन रूपेण अवशिष्यत इत्यत आह—विश्वेति । स्वप्रसादतः स्वोपासक-स्वाज्ञाननिवृत्तिसमकालमेव रामचन्द्रो भगवान् स्वकरकलितशङ्खचक्रे गदाऽब्जे च उपसंहृत्य सानुजः सपत्तनोऽयं निर्विशेषभावं धृत्वा अन्तर्दधे ततो व्याप्यविश्वसत्त्वे विश्वव्यापी भवति तद्भावे तन्मोक्षरूपेण अवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एकस्य मोक्षतां भगवद्भावे तद्भक्तानां का गतिरित्याशङ्क्य स्वदृष्ट्या भगवानस्तीत्युपास्य तत्प्रसादतः कृतकृत्याः भवन्तीत्याह—तद्भक्ता इति । सर्वार्थसाधकमन्त्रपारायणफलमाह—इमा इति ॥ १० ॥

इति पञ्चमोपनिषत्

उत्तरतापिनी

प्रथमः खण्डः

अविमुक्तोपासनम्

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम्—यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ॥ १ ॥

अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । तस्माद्यत्र कचन गच्छति तदेव मन्येतेतीदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति । तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत । अविमुक्तं न विमुञ्चेत् ॥ २ ॥
एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

पूर्वतापिनीरीत्यां पासकानां निर्विशेषब्रह्मावगतये उत्तरतापिन्युपनिषदारभ्यते । बृहस्पतिभरद्वाजात्रियाज्ञवल्क्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका निर्विशेषब्रह्मविद्यास्तुत्यर्था । तत्राविमुक्तयाथात्म्यबुभुत्सया याज्ञवल्क्यं प्रति बृहस्पतिरुवाचेत्याह—बृहस्पतिरिति ॥ १ ॥ ब्रह्ममात्रज्ञानोत्पत्तेः प्राक् अविमुक्तं भ्रूमध्यविलसिततारकलक्ष्यमेव निषेवेत सदा अनुसन्धानं कुर्यादिति । शिष्टं जाबालोपनिषद्गतप्रथमखण्डव्याख्यानेनैव व्याख्यातं स्यात्^१ ॥ २-३ ॥

इति प्रथमः खण्डः

^१ तच्च व्याख्यानं तारसारोपनिषदः प्रथमखण्डव्याख्याने अस्मिन्नेव संपुटे ७९ पुटे दृश्यताम् .

द्वितीयः खण्डः

रामषडक्षरस्य तारकत्वम्

अथ हैनं भरद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं—किं तारकं किं तारयतीति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—तारकं दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं पुनर्मायं नमश्चन्द्राय नमो भद्राय नम इत्येतद्ब्रह्मात्मकाः सच्चिदानन्दाख्या इत्युपासितव्यम् ॥ २ ॥

अकारः प्रथमाक्षरो भवति । उकारो द्वितीयाक्षरो भवति । मकारस्तृतीयाक्षरो भवति । अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति । बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति । नादः षष्ठाक्षरो भवति । तारकत्वात्तारको भवति । तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि । तदेवोपासितव्यमिति ज्ञेयम् । गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयतीति । तस्मादुच्यते षडक्षरं तारकमिति ॥ ३ ॥

प्रथमखण्डे रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे, अविमुक्तमेव प्रत्यश्चमात्मानमेव निषेवेत, तत् ब्रह्ममात्रज्ञानं न मुञ्चेदिति याज्ञवल्क्योक्तिं बृहस्पतिना साकं भरद्वाजोऽपि निशम्य अविमुक्तशब्दवाच्यतारकेयत्तापरिज्ञानाय भरद्वाजो याज्ञवल्क्यं पृच्छतीत्याह—अथेति । किमिति ? किं तारकं किं तारयतीति ॥ १ ॥ भरद्वाजप्रश्नोत्तरं याज्ञवल्क्यः एवमाह—तारकमिति । आदौ बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं रामिति ततो दीर्घानलं रेति पुनर्मायं नम इति सर्वं मिळित्वा रां रामाय नमः इति रामषडक्षर उद्भूतो भवति । रां रामेति त्र्यक्षरेण सह चन्द्राय नमः इत्यादिपञ्चाक्षरयोजनात् रां रामचन्द्राय नमः रां रामभद्राय नमः इत्यष्टाक्षरो

भवति । इत्येतन् एते ब्रह्मात्मकाः सच्चिदानन्दाख्याः इत्युपासितव्यम् ॥ २ ॥
 प्रणवस्य तारकत्वप्रसिद्धेः षडक्षरस्य तारकत्वं कथं ? इत्यत आह—अकार इति
 यस्मादेवं तस्मात् ॥ ३ ॥

तारकजपफलम्

य एतत्तारकं ब्रह्म ब्राह्मणो नित्यमधीते स पाप्मानं तरति
 स मृत्युं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां
 तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति सोऽविमुक्त-
 माश्रितो भवति स महान् भवति सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ४ ॥

तारकजपफलमाह—य इति । तारकार्थज्ञानात् मुख्यामृतत्वमेतीत्यर्थः ॥४॥

रामस्य प्रणवार्थत्वम्

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

अकाराक्षरसंभूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ।

उकाराक्षरसंभूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥ ५ ॥

प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसंभवः ।

अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥ ६ ॥

श्रीरामसांनिध्यवशाज्जगदाधारकारिणी ।

उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥ ७ ॥

सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका ।

प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ इति ॥ ८ ॥

रामतारकस्य प्रणवत्वे श्रीरामस्य प्रणवार्थत्वं कुतः ? इत्यत्र अस्मिन्नर्थे एते श्लोकाः मन्त्राः भवन्तीत्याह—अत्रैते श्लोका भवन्तीति । सौमित्र्यादेः अकाराद्यर्धमात्राऽन्तकलनाऽऽरोपापवादाधिकरणतया विश्वविराडोत्रादिद्वि(?)तुर्याविकल्परूपत्वात् श्रीरामस्य प्रणवार्थत्वमुपपद्यते ॥ ९-६ ॥ तस्य प्रणवार्थत्वमस्तु, प्रणवस्वरूपं किं ? इत्यत आह—श्रीरामेति । स्वाधिष्ठेयचित्सामान्यरूपायाः सीतायाः स्वाधिष्ठानसत्तासामान्यश्रीरामाविनाभाविमूलप्रकृतित्वेन प्रकृतत्वात् सीतायाः प्रणवत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ७-८ ॥

प्रणवतदर्थयाथात्म्यम्

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भव्यं भविष्यदिति सर्वमोकार एव । यच्चान्यत्त्विकालातीतं तदप्योकार एव । सर्वं ह्येतद्ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल-
मुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ १० ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्
तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ११ ॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति
तत् सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो
ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ १२ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य
प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ १३ ॥

नास्तिःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न
प्रज्ञानघनमदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-

प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा
स विज्ञेयः ॥ १४ ॥

को वा प्रणवः, को वा प्रणवार्थः, इत्याकाङ्क्षायां अभिधानप्रणवाभिधेय-
तदर्शकत्वावगतये प्रणवतदर्थयाथात्म्यं प्रकटयति—ओमिति । स आत्मा स
विज्ञेयः इत्येतत् सर्वं माण्डूक्योपनिषद्ब्रह्माख्यानेनैव पदशो व्याख्यातं स्यात्
इति मन्तव्यम् ॥ ९-१४ ॥

प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकीकरणम्

सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित
आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति
संभाव्योऽहम् ॥ १५ ॥

ओं तत् सद्यत् परं ब्रह्म रामचन्द्रश्चिदात्मकः ।

सोऽहमोन्तद्रामभद्रपरंज्योती रसोऽहमोम् ॥ १६ ॥

इत्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्यात् ॥ १७ ॥

किमित्ययं विज्ञेयः इत्याकाङ्क्षायां अपरोक्षतया ज्ञातव्यः इत्याह—
सदेति । प्रत्यग्रूपेण सदोज्ज्वलतीति सदोज्ज्वलः । स्वाविद्यातत्कार्यस्वात्मबन्धवतः
सदोज्ज्वलत्वं कुत इत्यत आह—अविद्येति । वस्तुदृष्टया या अविद्यमाना सा
अविद्या, तत्कार्यं अनन्तकोटिब्रह्माण्डजातं, तत्कलनाविरलः तद्गीनः, आविद्यकं
स्वात्मबन्धं हरतीति तथोक्तः, तस्य सदोज्ज्वलत्प्रत्यक्त्वं उपपद्यते । द्वैतदुःखे
सति कथं बन्धप्रासप्रत्यक्त्वमियत्र सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः इति ।
असत्प्रपञ्चे सति कथमानन्दरूपता इत्यत्र तदपवादाधिष्ठानस्य नित्यानन्दत्वेन
सन्मात्रता स्यादित्याह—सर्वाधिष्ठानसन्मात्र इति । सन्मात्रस्य इतरव्यवच्छेदक-
तया स्वाविद्यातमोप्रस्तत्वात् इत्यत्र सन्मात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन इतरव्य-

वच्छेदासंभवात् निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति संभाव्योऽहम् ॥ १५ ॥
 ओं तत्सद्यत्परंब्रह्मतया राजमानो महीयमानः स्वभक्तपटलाह्लादनकरो भवामि
 चिदात्मकः चिन्मात्रः सोऽहमित्यर्थः । यदोङ्कारार्थविश्वविराडोत्रादिभावमापन्नं
 यत् स्वगतहेयांशापायसिद्धं तद्रामभद्रपरंज्योतीरसोऽहम् ॥ १६ ॥ एवं
 प्रत्यञ्चमात्मानमादाय मनसा परब्रह्मणा एकीकुर्यात् प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति
 भावयेदित्यर्थः ॥ १७ ॥

रामज्ञानान्मुक्तिः

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।

न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥ १८ ॥

इत्युपनिषत् । य एवं वेद स मुक्तो भवतीति याज्ञवल्क्यः ॥ १९ ॥

सदा रामोऽहमस्मीति मन्त्रो रामरहस्योपनिषदि व्याख्यातः ।
 रामज्ञानसमकालं रामो भवति ॥ १८ ॥ इत्युपनिषत्—ब्रह्ममात्रपर्यवसानं यो
 वेद स मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

तृतीयः खण्डः

बाह्यान्तराविमुक्तयाथात्म्यम्

अथ हैनमत्रिः षप्रच्छ याज्ञवल्क्यं—य एषोऽनन्तोऽ-
 व्यक्तपरिपूर्णानन्दैकचिदात्मा तं कथमहं विजानीयामिति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽ-
नन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ ३ ॥

वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति ॥ ४ ॥

का वै वरणा का च नासीति ॥ ५ ॥

जन्मान्तरकृतान् सर्वान् दोषान् वारंतीति तेन वरणा भवतीति ।

सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति ॥ ६ ॥

कतमं चास्य स्थानं भवतीति ॥ ७ ॥

ध्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च
सन्धिर्भवतीति । एतद्वै सन्धि सन्ध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति ।
सोऽविमुक्त उपास्य इति । सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वा एतदेवं
वेद ॥ ८ ॥

बाह्यान्तराविमुक्तयाथात्म्यमवगन्तुं याज्ञवल्क्यमत्रिः पृच्छतीत्याह—
अथेति । एतदपि जाबालोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ १-८ ॥

[तच्च व्याख्यानं झटिति प्रत्यायनार्थं अत्र उदाह्रियते—अथ ह
बृहस्पति[भारद्वाज]प्रश्ननिर्णयानन्तरं किल एनं याज्ञवल्क्यं ब्रह्मपुत्रः अत्रिः
पप्रच्छ । किमिति ? यः तारकब्रह्मेत्युक्तः एषोऽनन्तः परिच्छेदत्रयविरलोऽव्यक्त
आत्मा तं उक्तलक्षणमात्मानं कथमहं विजानीयां अवगच्छेयं इति ॥ १ ॥
अत्रिप्रश्नोत्तरं स होवाच याज्ञवल्क्यः बृहस्पतिं प्रति । तारकत्वेन य उक्तः
सोऽविमुक्तः प्रत्यगभेदेन उपास्यः । तत्र हेतुः—भवता पृष्ठो य एषोऽनन्तोऽ-
व्यक्त आत्मा—व्याख्यातं—सोऽविमुक्ते सोपाधिकेश्वरे प्रतिष्ठित इति । तस्य
निरावृतत्वात् तस्मिन् अव्यक्तोऽनन्तात्मा उपलभ्यते ॥ २ ॥ तदुपलब्धिस्थानं

पृच्छति—सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ ३ ॥ सोऽयमीश्वरः कुत्र सन्निहितः इति पृष्ठः उत्तरमाह—वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । वरणानास्योर्मध्ये प्रतिष्ठित इत्यर्थः । वरणानासीप्रदेशौ श्रुतिर्व्याकरिष्यतीति न व्याख्यातम् ॥ ४ ॥ वरणानासीस्वरूपं पृच्छति—का वै वरणा का च नासीति ॥ ५ ॥ तत्र वरणाशब्दार्थमाह—सर्वानिति । सर्वान् ज्ञानकर्मेन्द्रिय-कृतान् दोषान् वारयति निवारयतीति तेन वरणा भवतीति । सर्वानिन्द्रिय-कृतान् पापान् पापानि शयतीति तेन नासी नाशी भवति । सकारः शकारार्थः ॥ ६ ॥ वरणाया नास्याश्च मध्ये प्रतिष्ठित इत्युक्त्या नासा भूसन्धिः प्रतीयते, तथाऽपि तत्प्रदेशं पृच्छति—कतमं चास्य स्थानं भवतीति । अस्य अविमुक्तस्येत्यर्थः । सर्वत्रेतिशब्दः प्रश्नपरिसमाप्त्यर्थः ॥ ७ ॥ भ्रुवोः घ्राणस्य च यः प्रसिद्धः सन्धिः स एष प्रसिद्धः ब्रह्मकपालस्थानीयद्युलोकस्य चुञ्चुकावसानस्थानीयस्य च परस्य च भूलोकस्यापि सन्धिः भवति लोकद्वय-समुच्चयार्थः चकारः । एतद्वै एतमेव सन्धीयतेऽस्मिन्नविमुक्तमिति सन्धिः स्वात्मा तं सन्धिं स्वात्मानं सन्ध्यां भ्रूघ्राणसन्धौ ब्रह्मविद् उपासते तत्रत्यज्योतिर्लिङ्ग-ध्यानपरा भवन्ति । सोऽविमुक्त उपास्यः इति व्याख्यातम् । तज्ज्ञानफलमाह— यो वा इति । यो वै विद्वानविमुक्तयाथात्म्यं वेद तद्गतहेयांशमपोह्य निर्विशेषात्मानं जानाति-स विद्वान् सोऽविमुक्तं तत्साक्षात्कारहेतुज्ञानमाचष्टे स्वयमीश्वरभावमेत्य स्वभक्तपटलचरमदशायां तारकज्ञानोपदेशं करोति स्वयं निर्विशेषब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥]

मुमुर्षुणां शिवकृतरामतारकोपदेशः

अथ तं प्रत्युवाच—

श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः ।

मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः ॥ ९ ॥

ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः प्राह शंकरम् ।

वृणीष्व यदभीष्टं तद्वास्यामि परमेश्वर ॥ इति ॥ १० ॥

अथ सच्चिदानन्दात्मानं श्रीराममीश्वरः पप्रच्छ—

मणिकर्ण्यी मम क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः ।

भ्रियते देहि तज्जन्तोर्मुक्तिं नातो वरान्तरम् ॥ इति ॥ ११ ॥

अथ स होवाच श्रीरामः—

क्षेत्रेऽस्मिंस्तव देवेश यत्र कुत्रापि वृक्षमृताः ।

कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु चान्यथा ॥ १२ ॥

अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये ।

अहं संनिहितस्तत्र पाषाणप्रतिमाऽऽदिषु ॥ १३ ॥

क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव ।

ब्रह्महत्याऽऽदिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ १४ ॥

त्वत्तो वा ब्रह्मणो वाऽपि ये लभन्ते षडक्षरम् ।

जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते ॥ १५ ॥

मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् ।

उपदेश्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥ १६ ॥

इति श्रीरामचन्द्रेणोक्तम् ॥

उत्तमाधिकारिणां—“ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत् सदा यतिः” इति श्रुतिसिद्धज्योतिर्लिङ्गं प्रत्यघातुं अविमुक्तशब्दवाच्यतया प्रतिपाद्य मध्यमाधिकारिणां काशीक्षेत्रमेव अविमुक्तमिति प्रकटयित्वा तत्र ये कळेबरं त्यजन्ति ते परमेश्वरोपदिष्टरामतारकज्ञानतः कृतकृत्या भवन्तीत्येतदर्थं अत्रिं प्रति याज्ञवल्क्य आह—अथेति ॥ ९-१० ॥ पप्रच्छ—किमिति ? मणिकर्ण्यमिति । “श्रीरामस्य मनुं काश्या” मित्यादि यदुक्तं तत् सर्वं काशीषडक्षरस्तुल्यर्थं, अन्यथा

परमेश्वरस्य निरावृत्तक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिमत्त्वेन अवाप्तसमस्तकामत्वात् स्वाङ्गदृष्ट्या शिवरामयोः भेदेऽपि तद्दृष्ट्यैकत्वात् स्वांशजभक्तपटलस्वाज्ञानमोचनस्य स्वज्ञानायत्तत्वात् स्वज्ञानप्रदानस्य स्वायत्तत्वादित्यर्थः ॥ ११-१६ ॥ -

इति तृतीयः खण्डः

चतुर्थः खण्डः

रामसाक्षात्कारप्रदाः मन्वाः

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाच—अथ कैर्मन्त्रैः स्तुतः श्रीरामचन्द्रः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तान्नो ब्रूहि भगवन्निति ॥ स होवाच याज्ञवल्क्यः—पूर्वं सत्यलोके श्रीरामचन्द्रेणैवं शिक्षितो ब्रह्मा पुनरेतया गाथया नमस्करोति—

विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम् ।

पूर्णानन्दैकविज्ञानं परंब्रह्मस्वरूपिणम् ॥

मनसा संस्मरन् ब्रह्मा तुष्टाव परमेश्वरम् ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत् परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १ ॥ [ज्ञातव्यौ यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु] . . . यश्चाखण्डैकरसात्मा . . . ॥ २ ॥ . . . यच्च ब्रह्मानन्दामृतम् . . . ॥ ३ ॥

. . . यत्तारकं ब्रह्म . . . ॥ ४ ॥ . . . यो ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरो
 यः सर्वदेवात्मा . . . ॥ ५ ॥ . . . ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः
 सेतिहासपुराणाः . . . ॥ ६ ॥ . . . यो जीवान्तरात्मा . . . ॥ ७ ॥
 . . . यः सर्वभूतान्तरात्मा . . . ॥ ८ ॥ . . . ये देवासुरमनुष्यादि-
 भावाः . . . ॥ ९ ॥ . . . ये मत्स्यकूर्माद्यन्ताराः . . . ॥ १० ॥
 . . . योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा . . . ॥ ११ ॥ . . . यश्च
 प्राणः . . . ॥ १२ ॥ . . . यश्च यमः . . . ॥ १३ ॥
 . . . यश्चान्तकः . . . ॥ १४ ॥ . . . यश्च मृत्युः . . . ॥ १५ ॥
 . . . यच्चामृतम् . . . ॥ १६ ॥ . . . यानि च पञ्च महा-
 भूतानि . . . ॥ १७ ॥ . . . यः स्थावरजङ्गमात्मा . . . ॥ १८ ॥
 . . . ये पञ्चाग्नयः . . . ॥ १९ ॥ . . . याः सप्त महाव्या-
 हृतयः . . . ॥ २० ॥ . . . या विद्या . . . ॥ २१ ॥ . . . या
 सरस्वती . . . ॥ २२ ॥ . . . या लक्ष्मीः . . . ॥ २३ ॥ . . . या
 गौरी . . . ॥ २४ ॥ . . . या जानकी ॥ २५ ॥ . . . यच्च
 त्रैलोक्यम् . . . ॥ २६ ॥ . . . यः सूर्यः . . . ॥ २७ ॥ . . . यः
 सोमः . . . ॥ २८ ॥ . . . यानि च नक्षत्राणि . . . ॥ २९ ॥
 . . . ये च नव ग्रहाः . . . ॥ ३० ॥ . . . ये चाष्टौ लोकपालाः . . . ॥ ३१ ॥
 . . . ये चाष्टौ वसवः . . . ॥ ३२ ॥ . . . ये चैकादश रुद्राः . . . ॥ ३३ ॥
 . . . ये च द्वादशादित्याः . . . ॥ ३४ ॥ . . . यच्च भूतं भव्यं
 भविष्यत् . . . ॥ ३५ ॥ . . . यद्ब्रह्माण्डस्य बहिर्व्याप्तम् . . . ॥ ३६ ॥

... यो हिरण्यगर्भः . . . ॥ ३७ ॥ . . . या प्रकृतिः
 . . . ॥ ३८ ॥ . . . यश्चोकारः . . . ॥ ३९ ॥ . . .
 याश्चतस्रोऽर्धमात्राः . . . ॥ ४० ॥ . . . यः परमपुरुषः . . .
 ॥ ४१ ॥ . . . यश्च महेश्वरः . . . ॥ ४२ ॥ . . . यश्च महा-
 देवः . . . ॥ ४३ ॥ . . . य ॐ नमो भगवते वासुदेवाय . . .
 ॥ ४४ ॥ . . . यो महाविष्णुः . . . ॥ ४५ ॥ . . . यः पर-
 मात्मा . . . ॥ ४६ ॥ . . . यो विज्ञानात्मा . . . ॥ ४७ ॥

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द
 आत्मा यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै
 नमो नमः ॥ इति ॥

तान् ब्रह्माऽब्रवीत्—सप्तचत्वारिंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुध्वम् ।
 ततो देवः प्रीतो भवति । स्वात्मानं दर्शयति । तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं
 देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छतीति महोपनिषत् ॥

श्रीरामसाक्षात्कारोपायबुभुत्सया भरद्वाजो याज्ञवल्क्यं पृच्छतीत्याह—
 अथेति । उवाच—किमिति ? अथेति । अत्र इतिहासमवतारयति—पूर्वमिति ।
 कथं ब्रह्मा श्रीरामचन्द्रं तुष्टावेत्यत्र श्रीरामसार्वात्म्यप्रकटनमन्त्रान् प्रकाशयति—
 ओमिति । हवा इति वृत्तानुस्मरणार्थं निपातौ । यः परमार्थदृष्ट्या कैवल्य-
 श्रीस्वरूपेण राजमानो महीयमानो भक्तपटलाह्लादकरश्च भवति सोऽयं
 षड्गुणैश्वर्यस्वरूपो भगवान् द्वैतदुःखग्रासाद्वैतपरमानन्दात्मतया अवशिष्यते
 यद्याथात्म्यं परं ब्रह्मेति विख्यातं यस्तु पुनः स्वाज्ञदृष्ट्या भूर्भुवःसुवरिति
 त्रैलोक्यवपुर्विराट् भवति तस्मै सविशेषनिर्विशेषात्मने नमो नमः । वैशब्दः

सेव्यसेवकयोः उपाधिकृतभेदासंभवेकत्वद्योतकः । इति तान् ब्रह्माऽब्रवीत्—
हे देवाः यूयं सप्तचत्वारिंशदिति । यस्मादेवं तस्मात् ॥

इति चतुर्थः खण्डः

पञ्चमः खण्डः

रामषडक्षरमाहात्म्यम्

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच—श्रीराम-
मन्त्रराजस्य माहात्म्यमनुब्रूहीति ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—

स्वप्रकाशः परंज्योतिः स्वानुभूत्येकचिन्मयः ।

तदेव रामचन्द्रस्य मनोराद्यक्षरः स्मृतः ॥ २ ॥

अखण्डैकरसानन्दस्तारकब्रह्मवाचकः ।

रामायेति सुविज्ञेयः सत्यानन्दचिदात्मकः ॥ ३ ॥

नमःपदं सुविज्ञेयं पूर्णानन्दैकविग्रहम् ।

सदा नमन्ति हृदये सर्वे देवा मुमुक्षवः ॥ ४ ॥ इति ॥

य एतं मन्त्रराजं श्रीरामचन्द्रषडक्षरं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो
भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति
स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स सर्वैर्दे-

वैज्ञातो भवति स सर्वकृतभिरिष्टवान् भवति तेनेतिहासपुराणानां
रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति । श्रीरामचन्द्र-
मनुस्मरणेन गायत्र्याः शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति ।
प्रणवानामयुतकोटिजप्तानि भवन्ति । दश पूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति । स
पङ्क्तिपावनो भवति । स ज्ञान् भवति । सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ९ ॥

मन्त्रराजार्थं तन्माहात्म्यं तज्ज्ञानफलं च ज्ञातुमिच्छन् भरद्वाजो याज्ञवल्क्यं
पृच्छतीत्याह—अथेति । मुख्यार्थं सफलं माहात्म्यमनुब्रूहि ॥ १ ॥ षडक्षराद्य-
बीजार्थमाह—स्वप्रकाश इति ॥ २ ॥ रामायेति त्र्यक्षरार्थं निगमयति—
अखण्डेति ॥ ३ ॥ नमःशब्दार्थमाचष्टे—नमःपदमिति । विशिष्टार्थस्तु, रां
रामायेत्यक्षरचतुष्टयं तत्पदलक्ष्यबोधकं, नमः इत्यक्षरद्वयं त्वंपदलक्ष्यबोधकं,
लक्षणासापेक्षलक्ष्यद्वयगतविशेषांशापह्नवसिद्धं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमित्यर्थः । सर्वे
देवा मुमुक्षवश्च एवमेव सदा हृदये नमन्ति ब्रह्ममात्रं स्वावशेषधिया
चिन्तयन्ति ॥ ४ ॥ षडक्षरजपान्तरालिकफलमाह—य इति । स सर्वैर्देवैः
ब्रह्मविदिति ज्ञातो भवति । चशब्दात् तारकार्थज्ञानतो मुख्यामृतत्वं विदेहकैवल्यं
गच्छतीति द्योत्यते ॥ ९ ॥

मन्त्रराजमाहात्म्यप्रतिपादकश्लोकाः

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरैष्वभीष्टदः ।

वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममन्त्रः फलाधिकः ॥ ६ ॥

गाणपत्यादिमन्त्रेषु कोटिकोटिगुणाधिकः ।

मन्त्रस्तेष्वप्यनायासफलदोऽयं षडक्षरः ॥ ७ ॥

षडक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाघ्नौघनिवारणः ।
 मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः ॥ ८ ॥
 कृतं दिने यद्दुरितं पक्षमासर्तुवर्षजम् ।
 सर्वं दहति निःशेषं तूलाचलमिवानतः ॥ ९ ॥
 ब्रह्महत्यासहस्राणि ज्ञानाज्ञानकृतानि च ।
 स्वर्णस्तंभसुरापानगुरुतल्पायुतानि च ॥ १० ॥
 कोटिकोटिसहस्राणि उपपातकजान्यपि ।
 सर्वाण्यपि प्रणश्यन्ति राममन्त्रानुकीर्तनात् ॥ ११ ॥
 भूतप्रेतपिशाचाद्याः कूश्माण्डब्रह्मराक्षसाः ।
 दूरादेव प्रधावन्ति राममन्त्रप्रभावतः ॥ १२ ॥
 ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गाद्यं पारलौकिकम् ।
 कैवल्यं भगवत्त्वं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति ॥ १३ ॥
 ग्राम्यारण्यपशुघ्नत्वं संचितं दुरितं च यत् ।
 मद्यपानेन यत् पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥ १४ ॥
 अभक्ष्यभक्षणोत्पन्नं मिथ्याज्ञानसमुद्भवम् ।
 सर्वं विलीयते राममन्त्रस्यास्यैव कीर्तनात् ॥ १५ ॥
 श्रोत्रियस्वर्णहरणाद्यच्च पापमुपस्थितम् ।
 रत्नादेश्चापहारेण तदप्याशु विनाशयेत् ॥ १६ ॥
 ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं हत्वा च किल्बिषम् ।
 संचिनोति नरो मोहाद्यद्यत्तदपि नाशयेत् ॥ १७ ॥

गत्वाऽपि मातरं मोहादगम्याश्चैव योषितः ।

उपास्यानेन मन्त्रेण रामस्तदपि नाशयेत् ॥ १८ ॥

महापातकपापिष्ठसङ्गत्या संचितं च यत् ।

नाशयेत्तत्कथापुत्रापशयनासनभोजनैः ॥ १९ ॥

पितृमातृवधोत्पन्नं बुद्धिपूर्वमघं च यत् ।

तदनुष्ठानमात्रेण सर्वमेतद्विलीयते ॥ २० ॥

यत् प्रयागादितीर्थोक्तप्रायश्चित्तशतैरपि ।

नैवापनोद्यते पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥ २१ ॥

पुण्यक्षेत्रेषु सर्वेषु कुरुक्षेत्रादिषु स्वयम् ।

बुद्धिपूर्वमघं कृत्वा तदप्याशु विनाशयेत् ॥ २२ ॥

कृच्छ्रैस्तप्तपराकाद्यैर्नानाचान्द्रायणैरपि ।

पापं च नापनोद्यं यत् तदप्याशु विनाशयेत् ॥ २३ ॥

आत्मतुल्यसुवर्णादिदानैर्बहुविधैरपि ।

किञ्चिदप्यपरिक्षीणं तदप्याशु विनाशयेत् ॥ २४ ॥

अवस्थान्त्रितयेष्वेवं बुद्धिपूर्वमघं च यत् ।

तन्मन्त्रस्मरणेनैव निःशेषं प्रविलीयते ॥ २५ ॥

अवस्थान्त्रितयेष्वेवं मूलबन्धमघं च यत् ।

तत्तन्मन्त्रोपदेशेन सर्वमेतत् प्रणश्यति ॥ २६ ॥

आब्रह्मबीजदोषाश्च नियमातिक्रमोद्भवाः ।

स्त्रीणां च पुरुषाणां च मन्त्रेणानेन नाशिताः ॥ २७ ॥

येषु येष्वपि देशेषु रामभद्र उपास्यते ।
 दुर्भिक्षादिभयं तेषु न भवेत्तु कदाचन ॥ २८ ॥
 शान्तः प्रसन्नवदनो नक्रोधो भक्तवत्सलः ।
 अनेन सदृशो मन्त्रो जगत्स्वपि न िगते ॥ २९ ॥
 सम्यगाराधितो रामः प्रसीदत्येव सत्कारम् ।
 ददात्यायुष्यमैश्वर्यमन्ते विष्णुपदं च ॥ ३० ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—

ऋचो अक्षरे परमं व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
 यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासतं ॥ ३१ ॥
 तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
 दिवीव चक्षुराततम् ॥ ३२ ॥
 तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
 विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥ ३३ ॥
 ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥ ३४ ॥

एवमुक्तार्थे एते श्लोकाः मन्त्राः मन्त्रराजमाहात्म्यप्रतिपादका भवन्तीत्याह
 —अत्रैते श्लोका भवन्तीति । मन्त्रराजस्य सकलदेवतामन्त्रतोऽपि वैशिष्ट्यमाह
 —गाणपत्येष्विति । तत्तद्वावानुरोधेन पुरुषार्थचतुष्टयप्रापको मन्त्रराज
 इत्यर्थः ॥ ६-२९ ॥ शान्त इत्यादिविशेषणविशिष्टो भगवान् तारकानुस्मरणेन
 आराधितः सन् प्रसीदति, तेन किं स्यादित्यत्र—ददातीति । मन्त्रार्थज्ञानपूर्वकं
 यो जपति तस्यैव विष्णुपदासिः ॥ ३० ॥ विष्णुपदार्थतृष्णया अस्य मन्त्रानादरो
 भवतीति यत् तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । ऋच . . . इत्ययं मन्त्रः श्वेताश्वतरोपनिषदि

व्याख्यातः ॥ ३१ ॥ तद्विष्णोः इति मन्त्रस्तु आरुणिकोपनिषदि
 व्याख्यातः ॥ ३२-३३ ॥ किं तद्विष्णुपदं ? इत्यत्र—ओमिति । ओङ्कारार्थ-
 तुर्यतुरीयमेवं ब्रह्म सत्यं, स्वेतरग्राससत्तासामान्यरूपत्वात्; तदेव विष्णुपदं
 स्वमात्रधियैव पद्यमानत्वात् । इत्युपनिषच्छब्दो रामोत्तरतापिन्युपनिष-
 त्समास्यर्थः ॥ ३४ ॥

ते पञ्चमः खण्डः

श्रीवासुदेवेन्द्रशाख्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 रामतापिन्युपनिषद्ब्रह्माख्यानं लिखितं लघु ।
 श्रीरामतापिनीव्याख्याग्रन्थजातं चतुश्शतम् ॥

इति श्रीमदीशाख्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे पञ्चपञ्चाशत्सङ्ख्यापूरकं
 श्रीरामतापिन्युपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

रामरहस्योपा^तनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

प्रथमोऽध्यायः

रामस्य ब्रह्मतारकत्वम्

सनकाद्या योगिवर्या अन्ये च ऋषयस्तथा ।
प्रह्लादाद्या विष्णुभक्ता हनूमन्तमथाब्रुवन् ॥ १ ॥
वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम् ।
पुराणे^१ष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि ॥ २ ॥
चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु विद्यास्वाध्यात्मिकेषु च ।
सर्वेषु विद्यादानेषु विघ्नसूर्येशशक्तिषु ॥ ३ ॥
एतेषु मध्ये किं तत्त्वं कथय त्वं महाबल ॥ ४ ॥

हनूमान् होवाच—

भो योगीन्द्राश्च ऋषयो विष्णुभक्तास्तथैव च ।
शृणुध्वं मामकीं वाचं भवबन्धविनाशिनीम् ॥ ५

^१ पु च काव्येषु—अ २.

एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम् ।

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ।

राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥ ६ ॥

कैवल्यश्रीरामरूपेण राजमानं महोऽव्ययम् ।

प्रतियोगिनिर्मुक्तं श्रीरामपदमाश्रये ॥

इह स्वलु अथर्वणप्रामुक्त्यं श्रीरामरहस्योपनिषत् श्रीराममन्त्रयन्त्रसाधन-
प्रपञ्चनपूर्वकं श्रीरामतत्त्वपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते ।
सनकादिमुनिबृन्दप्रह्लादादिभागवतकदम्बपवनात्मजप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्या -
यिका विद्यास्तुत्यर्था, जातमात्रेण विदिततत्त्वैः सनकप्रह्लादादिभिरपि इयं
पृष्ठा परमशिवावतारपवनात्मजेन प्रोक्तेति । आख्यायिकामवतारयति--सनकाद्या
इति ॥ १ ॥ किमिति ? वायुपुत्रेति । वायुपुत्रेत्यादिप्रश्नतो हनूमतः सर्ववित्त्वमव-
गम्यते ॥ २-४ ॥ तत्कृतप्रश्नोत्तरं हनूमान् होवाच । किमिति ? भो इति । भव-
बन्धविनाशिनीम्—स्वाज्ञलोकस्य, भवतां कृतार्थत्वात् ॥५॥ सर्वेषु विद्यादानेषु
विघ्नसूर्येशशक्तिभेदेषु एतेषु वेदशास्त्रपुराणादिषु अर्थतो विचारितेषु सत्सु अथ
स्वातिरिक्तकलनाऽपह्नवसिद्धं यद्ब्रह्ममात्रं निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते तदेवायमि-
त्याह—राम एवेति । स्वातिरिक्तकलनाऽसंभवप्रबोधसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया
राजते महीयते इति राम एव परं उत्कृष्टं ब्रह्म स्वमात्रतया सदोपबृंहणात्, राम
एव परं उत्कृष्टं तपः तन्मात्रज्ञानमित्यर्थः । राम एव परं तत्त्वं स्वयाथात्म्यं
स्वयमेवेत्यर्थः । प्रत्यगभिन्नब्रह्मरूपेण श्रीरामो ब्रह्म तारकं भूमध्यतारकयोग-
लक्षितत्वात् । यद्वा—श्रीरामस्य ब्रह्मतारकलक्ष्यतुर्यतुरीयरूपत्वात् ब्रह्मतपस्तत्त्व-
तारकबोध्यं रामाख्यं ब्रह्मैव स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति निष्प्रतियोगिकं
स्वमात्रमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

रामस्य अङ्गानि वायुपुत्रादीनि

वायुपुत्रेणोक्तास्ते योगीन्द्रा ऋषयो विष्णुभक्ता हनूमन्तं

पप्रच्छुः—रामस्याङ्गानि नो ब्रूहीति ॥ ७ ॥

हनूमान् होवाच—वायुपुत्रं विघ्नेशं वाणीं दुर्गां क्षेत्रपालकं
सूर्यं चन्द्रं नारायणं नारसिंहं वायुदेवं वाराहं तत्सर्वान् मन्त्रान्
सीतां लक्ष्मणं शत्रुघ्नं भरतं विभीषणं सुग्रीवमङ्गदं जाम्बवन्तं
प्रणवमेतान् रामस्याङ्गानि जानीथाः । तस्यङ्गानि विना रामो
विघ्नकरो भवति ॥ ८ ॥

एवं वायुपुत्रात् निर्विशेषब्रह्मतत्त्वमवगम्यन् मुनयो हृष्टाः सन्तः स्वाङ्ग-
लोकानुकम्पया निर्विशेषब्रह्मास्युपायसविशेषं ब्रह्म तदङ्गानि च पृच्छन्तीत्याह—
वायुपुत्रेणेति । पप्रच्छुः—किमिति ? रामस्येति ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

इति स्वप्रतिज्ञापालनाय कर्मज्ञानयोगलक्षणनिष्ठाद्वयपरिपालकनारायणरूपेण राजते
महीयते इति रामो दाशरथिः स्वेतरदुर्लभसूनुतभाषणतया यः पुरा आसामास
तस्य कानि अङ्गानि तद्गोचरमन्त्राश्च के तत् सर्वं नो ब्रूहि इति ॥ ७ ॥ तैः
पृष्टो हनूमान् होवाच । तानि कानि इत्यत्र तदाह—वायुपुत्रमिति ।
वायुपुत्रादिजाम्बवदन्ताङ्गदेवतामन्त्रान् त्रेधा अष्टधा षोडशधा वा आदौ
जप्त्वा ततो राममन्त्रजपः कार्यः । एवं कृते भगवान् रामः प्रसन्नो
भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

गृहस्थानां रामाङ्गप्रणवाधिकारः

पुनर्वायुपुत्रेणोक्तास्ते हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल
विप्राणां गृहस्थानां प्रणवाधिकारः कथं स्यादिति ॥ ९ ॥

स होवाच—श्रीराम एवोवाचेति । येषामेष षडक्षराधिकारो
वर्तते तेषां प्रणवाधिकारः स्यान्नान्येषाम् । केवलमकारोकारम-

कारार्धमात्रासहितं प्रणव^१मूह्य यो राममन्त्रं जपति तस्य शुभकरोऽहं
स्याम् । तस्य प्रणवस्याकारस्योकारस्य मकारस्यार्धमात्रायाश्च
ऋषिश्छन्दो देवता तत्तद्वर्णावर्णावस्थानं स्वरवेदाग्निगुणानुच्चार्यान्वहं
^२प्रणवं मन्त्राद्विगुणं जप्त्वा पश्चाद्राममन्त्रं यो जपेत् स रामो भवतीति
रामेणोक्तास्तस्माद्रामा प्रणवः कथित इति ॥ १० ॥

प्रणवस्यापि रामा गत्वे परिव्राजकेतराणां प्रणवाधिकारः कथमिति
पृच्छन्तीत्याह—पुनरिति ॥ ९ ॥ तैः पृष्ठो हनूमान् स्वात्मानं प्रति श्रीरामचन्द्रेण
यदुक्तं तदेवाह—स होवाचेति । श्रीराम एवोवाचेति—किमिति ?
येषामिति । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थः इत्येतेषां केवलप्राधान्येन प्रणवजपाधिकारो
नास्त्येव, षडक्षरादिमन्त्राङ्गत्वेन तज्जपाधिकारोऽस्तीत्याह—केवलमिति ।
प्रणवमूह्य चतुर्मात्राकालमुच्चार्य । आद्यन्तप्रणवयोजनपूर्वकं राममन्त्रजापकानां
श्रीरामपदप्राप्त्युपायशुभप्रापको हनूमान् अहं स्यां इत्यर्थः । यो यदि
श्रीरामभावापत्तिं वाञ्छति तदाऽयं षडक्षरजपात् पूर्वमेव तस्य प्रणवस्थेत्यादि ।
यस्मादेवं तस्मात् ॥ १० ॥

रामनामजपेन सर्वपापनिवृत्तिः

विभीषण उवाच—

सिंहासने समासीनं रामं पौलस्त्यसूदनम् ।

प्रणम्य दण्डवद्भूमौ पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

रघुनाथ महाबाहो केवलं कथितं त्वया ।

अङ्गानां सुलभं चैव कथनीयं च सौलभम् ॥ १२ ॥

श्रीराम उवाच—अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो

ब्रह्मघ्नो गुरुहननः कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटि-

^१ मूह्यं—अ, अ १.

^२ प्रणवमन्त्रं द्वि—अ, अ १.

नामानि जपति तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते । स्वयमेव सच्चिदानन्द-
स्वरूपो भवेन्न किम् ॥ १३ ॥

कदाचित् रामं सर्वभूतहितकृत् विभीषण उवाच । किमिति ? सिंहासन
इति ॥ ११-१२ ॥ अपापिनां स्वमन्त्रतदङ्गप्रणत्यनुष्ठानतः केवलं त्वदासि-
रभिहिता । ब्रह्महत्यादिपातकिनां स्वास्युपायः^१ किं ? इत्याशङ्कमानमालक्ष्य
विभीषणं प्रति श्रीराम उवाच । किमिति ? अ^२ति । कानि तानीत्यत्र—
पितृघ्न इत्यादि । पित्रादियत्यन्तहननपातकैः नरो दण्ड्यते, तानि पञ्च दण्डकानि ।
यदि तच्छमनार्थं पुरुषः तदा राम रामेति षण्णवतिकोटिनामजपतो निष्पापो
भूत्वा मद्भावमेतीत्यत्र न हि संशयोऽस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

रामोपनिषदादिभिरपि सर्वपापशान्तिः

पुनरुवाच विभीषणः—तत्राप्यशक्तोऽयं किं करोति ॥ १४ ॥

स होवाचेमम्—^१केकसेय पुरश्चरणविधावशक्तो यो ममो-
पनिषदं मम गीतां मन्नामसहस्रं मद्भिश्चरूपं मद्दष्टोत्तरशतं राम-
शताभिधानं नारदोक्तस्तवराजं हनूमत्प्रोक्तं मन्त्रराजात्मकस्तवं
सीतास्तवं च ^२रामषडक्षरीत्यादिभिर्मन्त्रैर्यो मां नित्यं स्तौति मत्सदृशो
भवेन्न किं भवेन्न किम् ॥ १५ ॥

मुलभोपायबुभुत्सया पुनरुवाच ॥ १४ ॥ अनेनापि पारायणेन
पञ्चदण्डकशान्तिद्वारा मद्भावमेतीत्यत्र न हि संशयोऽस्ति । आवृत्तिः अवधारणार्था
प्रथमाध्यायसमाप्त्यर्था वा इति ॥ १५ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

एकाक्षरराममन्त्रः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल
तारकब्रह्मणो रामचन्द्रं मन्त्रग्रामं नो

हनूमान् होवाच-

वह्निस्थं शयनं विष्णोरर्धचन्द्रविभूषितम् ।

एकाक्षरो मनुः प्रोक्तो मन्त्रराजः सुरद्रुमः ॥ १ ॥

ब्रह्मा मुनिः स्याद्गायत्रं छन्दो रामोऽस्य देवता ।

दीर्घार्धेन्दुयुजाऽङ्गानि कुर्याद्ब्रह्मचात्मनो मनोः ॥ २ ॥

बीजशक्त्यादिबीजेन इष्टार्थं विनियोजयेत् ।

सरयूतीरमन्दारवेदिकापङ्कजासने ॥ ३ ॥

श्यामं वीरासनासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम् ।

वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणमात्मानमात्मन्यमिततेजसम् ।

शुद्धस्फटिकसंकाशं केवलं मोक्षकाङ्क्षया ॥ ५ ॥

चिन्तयन् परमात्मानं भानुलक्षं जपेन्मनुम् ।

एकाक्षरादिश्रीराममन्त्रग्रामबुभुत्सया मुनयो हनूमन्तं पृच्छन्तीत्याह—
सनकाद्या इति । किमिति ? आञ्जनेयेति । तैरेवं पृष्ठो हनूमान् एकाक्षरादि-
द्वात्रिंशदक्षरान्तमन्त्रतदवान्तरभेदान् तदङ्गगायत्रीमालामन्त्रान् क्रमेण होवाच ।
आदावेकाक्षरमनुमुद्धरति—वह्निस्थमिति । स्वाभिधेये वह्नौ तदभिधानतया

तिष्ठतीति वह्निस्थं ह्रस्वरेफाक्षरं रेति, विष्णोः शयनमिति दीर्घमात्रोच्यते शेषस्य दीर्घाङ्गत्वात्, अर्धेन्दुशब्देन बिन्दुः, आहत्य रामिति ॥ १ ॥ तस्य ऋष्यादिकमाह—ब्रह्मेति । रेफदीर्घार्धेन्दुयुजा रामित्यादिना कराङ्गन्यासौ कुर्वादित्यर्थः ॥ २ ॥ ध्यानं तु—सरयूतीरेति ॥ ३-९ ॥

द्वित्रिचतुरक्षरमन्त्रः

वह्निर्नारायणेनाढ्यो जाठरः केवलोऽपि च ॥ ६ ॥

द्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वाभीष्टप्रदस्ततः ।

एकाक्षरोक्तमृष्यादि स्यादाद्येन पडङ्गकम् ॥ ७ ॥

तारमायारमाऽनङ्गवाक्स्वबीजैश्च षड्विधः ।

त्र्यक्षरो मन्त्रराजः स्यात् सर्वाभीष्टफलप्रदः ॥ ८ ॥

द्यक्षरश्चन्द्रभद्रान्तो द्विविधश्चतुरक्षरः ।

ऋष्यादि पूर्ववज्ज्ञेयमेतयोश्च विचक्षणैः ॥ ९ ॥

रामद्व्यक्षरमुद्गरति—वह्निरिति । रेफो वह्निः, नारायणेनाकारेण योजितश्चेत् रा इति, जाठरो मकारः केवलोऽपि च ह्रस्वमकारयोजनात् रामेति द्व्यक्षरो भवति ॥ ६-७ ॥ षट्प्रकारतः त्र्यक्षरमुद्गरति—तारेति । ॐ राम, ह्रीं राम, श्रीं राम, क्लीं राम, ऐं राम, रां राम, इति षड्विधः । ऋष्यादिकं एकाक्षरवत् ज्ञेयमित्यर्थः ॥ ८ ॥ द्विधा चतुरक्षरमुद्गरति—द्व्यक्षर इति । रामचन्द्र रामभद्रेति द्विप्रकारः चतुरक्षरः ॥ ९ ॥

पञ्चाक्षरमन्त्रः

सप्रतिष्ठौ रमौ ^१वायू हृत्पञ्चार्णो मनुर्मतः ।

विश्रामित्रऋषिः प्रोक्तः पङ्क्तिदृच्छन्दोऽस्य देवता ॥ १० ॥

^१ वायौ—अ, मु. वायु—अ १.

रामभद्रो बीज^१शक्तिप्रथमार्ण^२नति क्रमात् ।
 भ्रूमध्ये हृदि नाभ्यूर्वोः पादयोर्विन्यसेन्मनुम् ॥ ११ ॥
 षडङ्गं पूर्ववद्विद्वान् मन्त्रार्णैर्मनुनास्त्रकम् ।
 मध्ये वनं कलत्रोर्मूले पुष्पलतासने ॥ १२ ॥
 लक्ष्मणेन प्रगुणितमक्ष्णः कोणेन सायकम् ।
 अवेक्षमाणं जात्रया कृतव्यजनमीश्वरम् ॥ १३ ॥
 जटाभारलसच्छीर्षं श्यामं मुनिगणावृतम् ।
 लक्ष्मणेन धृतच्छत्रमथवा पुष्पकोपरि ॥ १४ ॥
 दशास्यमथनं शान्तं ससुग्रीवविभीषणम् ।
 एवं लब्ध्वा जयार्थी तु वर्णलक्षं जपेन्मनुम् ॥ १५ ॥

एकधा पञ्चाक्षरमुद्गरति—सप्रतिष्ठाविति । इकारदीर्घबिन्दुभ्यां सह
 प्रतिष्ठिताविति सप्रतिष्ठौ श्रीं श्रीं यं नमः इति पञ्चाक्षरो मनुः ॥१०॥ बीजशक्ति-
 प्रथमार्णनतिक्रमात् रां नम इत्यादि । न्यासस्तु— भ्रूमध्येति ॥११—१२॥ अक्ष्णः
 कोणेन अपाङ्गेन लक्ष्मणेन सायकं धनुषि प्रगुणितं अवेक्षमाणमिति ॥१३—१५॥

षडक्षरमन्त्रः

स्वकामशक्तिवाग्लक्ष्मीताराद्याः पञ्चवर्णकाः ।
 षडक्षरः षड्विधः स्याच्चतुर्वर्गफलप्रदः ॥ १६ ॥
 पञ्चाशन्मातृकामन्त्रवर्णप्रत्येकपूर्वकम् ।
 लक्ष्मीवाङ्मन्मथादिश्च तारादिः स्यादनेकधा ॥ १७ ॥

^१ शक्तिः—अ, सु.

^२ मिति—सु.

श्रीमायामन्मथैकैकं बीजाद्यन्तगतो मनुः ।

चतुर्वर्णः स एव स्यात् षड्वर्णो वाञ्छितप्रदः ॥ १८ ॥

स्वाहाऽन्तो हुंफडन्तो वा नत्यन्तो वा भवेदयम् ।

अष्टाविंशत्युत्तरशतभेदः षड्वर्ण ईतिः ॥ १९ ॥

^१ब्रह्मा संमोहनः शक्तिर्दक्षिणामूर्तिश्च ।

अगस्त्यश्च शिवः प्रोक्ता मुनयोऽनुष्ठादिभिः ॥ २० ॥

छन्दो गायत्रसंज्ञं च श्रीरामश्चैव देवता ।

अथवा कामबीजादेर्विश्वामित्रो मुनिर्मनोः ॥ २१ ॥

छन्दो देव्यादिगायत्री रामभद्रोऽस्य देवता ।

बीजशक्ती यथापूर्वं षड्वर्णान् विन्यसेत् क्रमात् ॥ २२ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृत्नाभ्यूरुषु पादयोः ।

बीजैः षड्दीर्घयुक्तैर्वा मन्त्रार्णैर्वा षडङ्गकम् ॥ २३ ॥

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासितं

मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि ।

सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं

पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥ २४ ॥

अष्टाविंशत्युत्तरशतथा भिन्नषडक्षरमुद्गरति—स्वेति । श्रीं श्रीं यं नमः इति यः पञ्चाक्षरो मनुस्तः सोऽयं पञ्चाक्षरः रां क्लीं ह्रीं ऐं श्रीं ॐ इति षड्वी-जयोगतः षडक्षरः षड्विधो भवति । प्रातिस्विकेन पञ्चाशद्वर्णयोगतः पञ्चाशद्विधो भवति । लक्ष्मीवागिल्यादिबीजयोगतः सप्तविधो भवति । रां रामायेति चतुरक्षराणि स्वाहा हुं फट नमः इत्यादियोगतः षडक्षरो भवति । पुनश्च क्षकाराद्यकारान्त-

विलोमेन एकपञ्चाशत् अष्टवर्गश्च षट्स्वराश्च आहत्य अष्टविंशत्युत्तरशतभेदः
षड्वर्ण ईरितः इति । यद्वा—

पञ्चाशद्वर्णकं वर्गं षोडशस्वरसंयुतम् ।

वर्गं वर्णं विलोमेन अष्टाविंशच्छतोत्तरम् ॥

इति ॥ १६-१९ ॥ तद्भेदेन ^{॥१७॥} ब्रह्मेति ॥ २०-२४ ॥

१-अष्ट-नवाक्षरमन्त्राः

रामश्च चन्द्रभद्रान्तो डेन्तो नतियुतो द्विधा ।

सप्ताक्षरो मन्तराजः सर्वकामफलप्रदः ॥ २५ ॥

तारादिसहितः सोऽपि द्विविधोऽष्टाक्षरो मतः ।

तारं रामश्चतुर्थ्यन्तं क्रोडाखं वह्नितल्पगां ॥ २६ ॥

अष्टार्णोऽयं परो मन्त्रो ऋष्यादिः स्यात् षडर्णवत् ।

पुनरष्टाक्षरस्याथ राम एव ऋषिः स्मृतः ॥ २७ ॥

गायत्रं छन्द इत्यस्य देवता राम एव च ।

तारं श्रीबीजयुगमौ च बीजशक्त्या^३दयो मताः ॥ २८ ॥

षडङ्गं च ततः कुर्यान्मन्त्रार्णैरेव बुद्धिमान् ।

तारं श्रीबीजयुगमं च रामाय नम उच्चरेत् ॥ २९ ॥

ग्लौमो बीजं वदेन्मायां हृद्रामाय पुनश्च ताम् ।

शिवोमाराममन्त्रोऽयं वस्वर्णस्तु वसुप्रदः ॥ ३० ॥

ऋषिः सदाशिवः प्रोक्तो गायत्रं छन्द उच्यते ।

शिवोमारामचन्द्रोऽत्र देवता परिकीर्तितः ॥ ३१ ॥

दीर्घया माययाऽङ्गानि तारपञ्चार्णयुक्तया ।
 रामं त्रिणेत्रं सोमार्धधारिणं शूलिनं परम् ।
 भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे ॥ ३२ ॥
 रामाभिरामां सौन्दर्यसीमां सोमावर्णिकाम् ।
 पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां ध्यायेत्तिलकानाम् ॥ ३३ ॥
 ध्यायन्नेवं वर्णलक्षं जपतर्पणतत्परः ।
 बिल्वपत्रैः फलैः पुष्पैस्तिलान्यैः पङ्कजैर्हुनेत् ॥ ३४ ॥
 स्वयमायान्ति निघयः सिद्धयश्च सुरेप्सिताः ।
 पुनरष्टाक्षरस्याथ ब्रह्मगायत्रराघवाः ॥ ३५ ॥
 ऋष्यादयस्तु विज्ञेयाः श्रीबीजं मम शक्तिकम् ।
 तत्प्रीत्यै विनियोगश्च मन्त्राणैरङ्गकल्पना ॥ ३६ ॥
 केयूराङ्गदकङ्कणैर्मणिगणैर्विद्योतमानं सदा
 रामं पार्वणचन्द्रकोटि^१सदृशच्छत्रेण वै राजितम् ।
 हेमस्तम्भसहस्रषोडशयुते मध्ये महामण्डपे
 देवेशं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ ३७ ॥
 किं मन्त्रैर्बहुभिर्विनश्वरफलैरायाससाध्यैर्वृथा
 किञ्चिल्लोभवितानमात्रविफलैः संसारदुःखावहैः ।
 एकः सन्नपि सर्वमन्त्रफलदो लोभादिदोषोज्झितः
 श्रीरामः शरणं ममेति सततं मन्त्रोऽयमष्टाक्षरः ॥ ३८ ॥

एवमष्टाक्षरः सम्यक् सप्तधा परिकीर्तितः ।

रामसप्ताक्षरो मन्त्र आद्यन्ते तारसंयुतः ॥ ३९ ॥

नवार्णो मन्त्रराजः स्याच्छेषं षड्वर्णवन्ध्यसेत् ॥

अथ द्वेधा सप्ताक्षरमिति — राम इति । रामचन्द्राय नमः रामभद्राय नमः इति द्विधा सप्ताक्षरोऽव्यति । ऋष्यादिकं पूर्ववत् ॥ २५ ॥ अष्टाक्षरमनुं षोडशधा उद्धरति — तारा इति । “तारादि” इत्यादिशब्दतः मायारमाऽ-नङ्गवाक्स्वबीजानि गृह्यन्ते । तैः योगतः चन्द्रभद्रभेदेन द्विप्रकारो मनुः द्वादशधा भिद्यते । ॐ रामचन्द्राय नमः इत्यादि षट् । ॐ रामभद्राय नमः इत्यादि षट् । आहत्य द्वादश । ऋष्यादिकं पूर्ववत् । पुनः मन्त्रान्तरमाह — तारमिति ॥ २६ ॥ ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा श्रीरामाष्टाक्षरान्तरेण उमा-महेश्वरबीजयोगतः शिवोमाराममनुर्भवतीत्याह — पुनरिति । ॐ श्रीं श्रीं रामाय नमः, ग्लौं ॐ ह्रीं नमो रामाय ॥ २७-३० ॥ हां ॐ रामाय नम इत्यादि ॥ ३१-३८ ॥ प्रधानतः सप्तधा परिकीर्तितः । एकधा नवार्णमुद्धरति — रामेति । ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ इति ॥ ३९ ॥

दश-एकादशाक्षरमन्त्राः

जानकीवल्लभं डेन्तं वहेर्जायाहुमादिकम् ॥ ४० ॥

दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाभीष्टफलप्रदः ।

दशाक्षरस्य मन्त्रस्य वमिष्ठोऽस्य ऋषिर्विराट् ॥ ४१ ॥

छन्दोऽस्य देवता रामः सीतापाणिपरिग्रहः ।

आद्यो बीजं द्विठः शक्तिः कामेनाङ्गक्रिया मता ॥ ४२ ॥

शिरोललाटभ्रूमध्ये तालुकर्णेषु हृद्यपि ।

नाभ्यूरुजानुपादेषु दशार्णान् विन्यसेन्मनोः ॥ ४३ ॥

अयोध्यानगरे रत्नचित्रे सौवर्णमण्डपे ।
 मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणाञ्चितं ॥ ४४ ॥
 सिंहासने समासीनं पुष्पकोपरि राघवम् ।
 रक्षोभिर्हरिभिर्देवैर्दिव्ययानगतैः शुभैः ॥ ४५ ॥
 संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम् ।
 सीताऽलंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपसेवितम् ॥ ४६ ॥
 श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम् ।
 ध्यायन्नेवं जपेन्मन्त्रं वर्णलक्ष्मणन्यधीः ॥ ४७ ॥
 रामं डेन्तं धनुष्पाणयेऽन्तः स्याद्ब्रह्मिसुन्दरी ।
 दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यान्मुनिर्ब्रह्मा विराट् स्मृतः ॥ ४८ ॥
 छन्दस्तु देवता प्रोक्तो रामो राक्षसमर्दनः ।
 शेषं तु पूर्ववत् कुर्याच्चापबाणधरं स्मरेत् ॥ ४९ ॥
 तारमायारमाऽनङ्गवाक्स्ववीजैश्च षड्विधः ।
 दशार्णो मन्त्रराजः स्याद्बुद्धवर्णात्मको मनुः ॥ ५० ॥
 शेषं षडर्णवज्ज्ञेयं न्यासध्यानादिकं बुधैः ।

द्विप्रकारं दशाक्षरमुद्धरति—जानकीति । हुं जानकीवल्लभाय स्वा-
 हेति ॥ ४०-४१ ॥ आद्यो बीजं हुमिति । द्विठः शक्तिः ठः ठः इति ।
 कामेनाङ्गक्रिया मता क्लीमित्यादि ॥ ४२-४७ ॥ रामाय धनुष्पाणये स्वा-
 हेति ॥ ४८-४९ ॥ एकादशाक्षरं षोढा उद्धरति—तारेति । ॐ रामाय
 धनुष्पाणये स्वाहा इत्यादि ॥ ५० ॥

द्वादशाक्षरमन्त्रः

द्वादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीरामो ऋषिरुच्यते ॥ ५१ ॥

जगती छन्द इत्युक्तं श्रीरामो देवता मतः ।

प्रणवो बीजमिहाक्तः क्लीं शक्तिर्हीं च कीलकम् ॥ ५२ ॥

मन्त्रेणाङ्गानि विन्यस्य शिष्टं पूर्ववदाचरेत् ।

तारं मायां समुच्चार्य भरताग्रज इत्यपि ॥ ५३ ॥

रामक्लींवह्निजायाऽन्तं मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः ।

ॐ हृद्भगवते रामचन्द्रभद्रौ च ड्युतौ ॥ ५४ ॥

अर्कार्णो द्विविधोऽप्यस्य ऋषिध्यानादि पूर्ववत् ।

छन्दस्तु जगती चैव मन्त्रार्णैरङ्गकल्पना ॥ ५५ ॥

ॐ ह्रीं भरताग्रज रामक्लीं स्वाहेति ॥५१-५३॥ ॐ नमो भगवते राम-
चन्द्राय, ॐ नमो भगवते रामभद्राय इति । त्रिप्रकारोऽयं द्वादशाक्षरः ॥५४-५५॥

त्रयोदश-चतुर्दश-पञ्चदशाक्षरमन्त्राः

श्रीरामेति पदं चोक्त्वा जयराम पदं ततः ।

जयद्वयं वदेत् प्राज्ञो रामेति मनुराजकः ॥ ५६ ॥

त्रयोदशार्णं ऋष्यादि पूर्ववत् सर्वकामदः ।

पदद्वयैर्द्विरावृत्तैरङ्गन्यासं दशार्णवत् ॥ ५७ ॥

तारादिसहितः सोऽपि स चतुर्दशवर्णकः ।

त्रयोदशार्णमुच्चार्य पश्चाद्रामेति योजयेत् ॥ ५८ ॥

स वै पञ्चदशार्णस्तु जपतां कल्पभूरुहः ॥

त्रयोदशार्णमुद्धरति—श्रीरामेति । श्रीराम जयराम जय जय रामेति
 ॥ ५६—५७ ॥ स चतुर्दशवर्णकः षड्विध इत्यर्थः । षोडशार्णमुद्धरति—नमश्चेति ।
 नमः सीतापतये रामाय हन हन हुं फद् स्वाहा इति ॥ ५८—६१ ॥

षोडश-सप्तदशाक्षरमन्त्राः

नमश्च सीतापतये रामायेति हनद्वयं ॥ ५९ ॥
 ततस्तु कवचाखान्तः षोडशाक्षर ईतिः
 तस्यागस्त्यऋषिश्लन्दो बृहती देवा च सः ॥ ६० ॥
 रां बीजं शक्तिरस्त्रं च कीलकं हुमितीरितम् ।
 द्विपञ्चत्रिचतुर्वर्णैः सर्वैरङ्गं न्यसेत् क्रमात् ॥ ६१ ॥
 तारादिसहितः सोऽपि मन्त्रः सप्तदशाक्षरः ।

सप्तदशाक्षरः षड्विधः ॥ ६२ ॥

अष्टादश-एकोनविंशार्णमन्त्राः

तारं नमो भगवते रामं डेन्तं महा ततः ॥ ६२ ॥
 पुरुषाय पदं पश्चाद्बृदन्तोऽष्टादशाक्षरः ।
 विश्वामित्रो मुनिश्लन्दो गायत्रं देवता च सः ॥ ६३ ॥
 कामादिसहितः सोऽपि मन्त्र एकोनविंशकः ।

अष्टादशाक्षरः ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः ॥ ६३ ॥
 मन्त्र एकोनविंशकः षड्विधः ॥ ६४ ॥

विंशार्णमन्त्रः

तारं नमो भगवते रामायेति पदं वदेत् ॥ ६४ ॥
 सर्वशब्दं समुच्चार्य सौभाग्यं देहि मे वदेत् ।
 वह्निजायां ततोच्चार्य मन्त्रो विंशार्णको मतः ॥ ६५ ॥

ॐ नमो भगवते रामाय सर्वसौभाग्यं देहि मे स्वाहा ॥ ६५ ॥

एकविंशार्णमन्त्रः

तारं नमो भगवते रामाय सकलं वदेत् ।

आपन्निवारणा^{१३} वहिजायां ततो वदेत् ॥ ६६ ॥

एकविंशार्णको^{१३} मन्त्रः सर्वाभीष्टफलप्रदः ।

ॐ नमो भगवते रामाय सकलापन्निवारणाय स्वाहा ॥ ६६ ॥

द्वाविंशार्णमन्त्रः

तारं रमां स्वबीजं च ततो दाशरथाय च ॥ ६७ ॥

ततः सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टपदं वदेत् ।

ततो दाय हृदन्तोऽयं मन्त्रो द्वाविंशदक्षरः ॥ ६८ ॥

ॐ श्रीं रां दाशरथाय सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टदाय नमः ॥ ६७-६८ ॥

त्रयोविंशार्णमन्त्रः

तारं नमो भगवते वीररामाय संवदेत् ।

कलशत्रून् हनद्रुद्धं वहिजायां ततो वदेत् ॥ ६९ ॥

त्रयोविंशाक्षरो मन्त्रः सर्वशत्रुनिबर्हणः ।

विश्वामित्रो मुनिः प्रोक्तो गायत्रं छन्द उच्यते ॥ ७० ॥

देवता वीररामोऽसौ बीजाद्याः पूर्ववन्मताः ।

मूलमन्त्रविभागेन न्यासान् कृत्वा विचक्षणः ॥ ७१ ॥

शरं धनुषि संघाय तिष्ठन्तं रावणोन्मुखम् ।

वज्रपाणिरथारूढं रामं ध्यात्वा जपेन्मनुम् ॥ ७२ ॥

ॐ नमो भगवते वीररामाय सकलशत्रून् हन हन स्वाहा ॥ ६९-७२ ॥

चतुर्विंशार्णमन्त्रः

तारं नमो भगवते श्रीरामाय पदं वदेत् ।

तारकब्रह्मणे चोक्त्वा मां तारय पदं वदेत् ॥ ७३ ॥

नमस्तारात्मको मन्त्रश्चतुर्विंशतिवर्णकः ।

बीजादिकं यथापूर्वं सर्वं कुर्यात् षडर्णवत् ॥ ७४ ॥

ॐ नमो भगवते श्रीरामाय तारकब्रह्मणे मां तारय नम ओमिति ॥ ७३-७४ ॥

पञ्चविंश-षड्विंश-सप्तविंशार्णमन्त्राः

कामस्तारो नतिश्चैव ततो भगवतेपदम् ।

रामचन्द्राय चोच्चार्य सकलेति पदं वदेत् ॥ ७५ ॥

जनवश्यकरायेति स्वाहा कामात्मको मनुः ।

सर्ववश्यकरो मन्त्रः पञ्चविंशतिवर्णकः ॥ ७६ ॥

आदौ तारेण संयुक्तो मन्त्रः षड्विंशदक्षरः ।

अन्तेऽपि तारसंयुक्तः सप्तविंशतिवर्णकः ॥ ७७ ॥

ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय सकलजनवश्यकराय स्वाहा ॥ ७५-७७ ॥

अष्टाविंश-एकोनत्रिंश-त्रिंश-एकत्रिंशार्णमन्त्राः

तारं नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय च ।

सर्वविघ्नान् समुच्चार्य निवारयपदद्वयम् ॥ ७८ ॥

स्वाहाऽन्तो मन्त्रराजोऽयमष्टाविंशतिवर्णकः ।

अन्ते तारेण संयुक्त एकोनत्रिंशदक्षरः ॥ ७९ ॥

आदौ स्वबीजसंयुक्तत्रिंशद्वर्णात्मको मनुः ।

अन्तेऽपि तेन संयुक्त एकत्रिंशात्मकः स्मृतः ॥ ८० ॥

ॐ नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय सर्वविघ्नान् निवारय निवारय
स्वाहा ॥ ७८-८९ ॥

रामानुष्टुप

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।

भो दशास्यान्तकास्माकं श्रियं दापय देहि मे ॥ ८१ ॥

आनुष्टुभ ऋषी रामश्छन्दोऽनुष्टुप्स देवता ।

रां बीजमस्य यं शक्तिरिष्टार्थे विनियोजयेत् ॥ ८२ ॥

पादं हृदि च विन्यस्य पादं शिरसि विन्यसेत् ।

शिखायां पञ्चभिर्न्यस्य त्रिवर्णैः कवचं न्यसेत् ॥ ८३ ॥

नेत्रयोः पञ्चवर्णैश्च दापयेत्यन्नमुच्यते ।

चापबाणधरं श्यामं ससुग्रीवविभीषणम् ॥ ८४ ॥

हत्वा रावणमायान्तं कृतत्रैलोक्यरक्षणम् ।

रामभद्रं हृदि ध्यात्वा दशरुक्षं जपेन्मनुम् ॥ ८५ ॥

रामगायत्री

वदेद्दाशरथायेति विद्महेति पदं ततः ।

सीतापदं समुद्धृत्य वल्लभाय ततो वदेत् ॥ ८६ ॥

धीमहीति वदेत्तन्नो रामश्चापि प्रचोदयात् ।
 तारादिरेषा गायत्री मुक्तिमेव प्रयच्छति ॥ ८७ ॥
 मायाऽऽदिरपि वैदुष्यं रामादिश्च श्रियः पदम् ।
 'मदनेनापि संयुक्ता संमोहयति मेहीम् ॥ ८८ ॥
 पञ्च त्रीणि षडर्णैश्च त्रीणि चत्वारि षडर्णकैः ।
 चत्वारि च चतुर्वर्णैरङ्गन्यासं प्रकल्पयत् ॥ ८९ ॥
 त्रीजध्यानादिकं सर्वं कुर्यात् षड्वर्णवत् क्रमात् ।

दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि । तन्नो रामः प्रचोदयात् इति
 गमगायत्री । प्रणवादित्रीजयोजनफलमाह—तागादिरिति ॥ ८६-८९ ॥

राममालामन्त्रः

तारं नमो भगवते चतुर्थ्या रघुनन्दनम् ॥ ९० ॥
 रक्षोघ्नविशदं तद्वन्मधुरेति वदेत्ततः ।
 प्रसन्नवदनं डेन्तं वदेद्मिततेजसे ॥ ९१ ॥
 बञ्जराभौ चतुर्थ्यन्तौ विष्णुं डेन्तं नतिस्ततः ।
 प्रोक्तो मालामनुः सप्तचत्वारिंशद्विरक्षरैः ॥ ९२ ॥
 ऋषिञ्चन्दोदेवताऽऽदि ब्रह्मानुष्टुभराघवाः ।
 सप्तर्तुसप्तदशषड्रुद्रमन्त्रैः षडङ्गकम् ॥ ९३ ॥
 ध्यानं दशाक्षरं प्रोक्तं लक्षमेकं जपेन्मनुम् ।

¹ मदनेन समायुक्ता—उ, मु.

मालामन्त्रमुद्गरति—तारमिति । ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय
रक्षोन्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनाय अमिततेजसे बलाय श्रीरामाय विष्णवे
नम इति ॥ ९०—९३ ॥

सीतामन्त्रः

श्रियं सीता चतुर्थ्यन्ता स्वाहान्तोऽयं षडक्षरः ॥ ९४ ॥

जनकोऽस्य केशिन्दो गायत्री देवता मनोः ।

सीता भगवती प्रोक्ता श्रीं बीजं नतिशक्तिकम् ॥ ९५ ॥

कीलं सीता चतुर्थ्यन्तमिष्टार्थे विनियोजयेत् ।

दीर्घस्वरयुजाऽऽद्येन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥ ९६ ॥

स्वर्णाभाम्बुजकरां रामालोकनतत्पराम् ।

ध्यायेत् षट्काणमभ्यस्थरामाङ्कोपरि संस्थिताम् ॥ ९७ ॥

सीताद्यङ्गमन्त्रानुद्गरति—श्रियमिति । श्रीं सीतायै स्वाहेति ॥ ९४—९५ ॥
श्रीमित्यादि दीर्घस्वरयुजा ॥ ९६—९७ ॥

लक्ष्मणमन्त्रः

लकारं तु समुद्धृत्य लक्ष्मणाय नमोऽन्तकः ।

अगस्त्यऋषिरस्याथ गायत्रं छन्द उच्यते ॥ ९८ ॥

लक्ष्मणो देवता प्रोक्तो लं बीजं शक्तिरस्य हि ।

नमस्तु विनियोगो हि पुरुषार्थचतुष्टये ॥ ९९ ॥

दीर्घभाजा स्वबीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ।

द्विभुजं स्वर्णरुचिरतनुं पद्मनिभेक्षणम् ॥ १०० ॥

धनुर्बाणधरं वन्दे रामाराधनतत्परम् ।

लं लक्ष्मणाय नम इति ॥ ९८—१०० ॥

भरतमन्त्रः

भकारं तु समुद्धृत्य भरताय नमोऽन्तकः ॥ १०१ ॥

अगस्त्य ऋषिरस्याथ शेषं पूर्ववदाचरेत् ।

भरतं श्यामलं शान्तं रामसेवापरायणम् ॥ १०२ ॥

धनुर्बाणधरं वीरं कैकेयीतनयं भजे

भं भरताय नमः ॥ १०१-१०२ ॥

शत्रुघ्नमन्त्रः

शं बीजं तु समुद्धृत्य शत्रुघ्नाय नमोऽन्तकः ।

ऋष्यादयो यथापूर्वं विनियोगोऽरिनिग्रहे ॥ १०३ ॥

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम् ।

लवणासुरहन्तारं सुमित्रातनयं भजे ॥ १०४ ॥

शं शत्रुघ्नाय नमः ॥ १०३-१०४ ॥

हनूमन्मन्त्रः

हं हनूमांश्चतुर्थ्यन्तं हृदन्तो मन्त्रराजकः ।

रामचन्द्र ऋषिः प्रोक्तो योजयेत् पूर्ववत् क्रमात् ॥ १०५ ॥

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम् ।

मौञ्जीकौपीनसहितं मां ध्यायेद्रामसेवकम् ॥ इति ॥ १०६ ॥

हं हनूमते नमः ॥ १०५-१०६ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

पूजापीठजिज्ञासा

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल

पूर्वोक्तमन्त्राणां पूजापीठपनुब्रूहीति ॥ १ ॥

एकाक्षरादिद्वात्रिंशद्व्यं मन्त्राणां पूजापीठप्रकारं पृच्छन्तीत्याह—सनकाद्या इति । पप्रच्छुः—किमिति आञ्जनेयेति ॥ १ ॥

एकाक्षरादिनवाक्षरान्तमन्त्रपूजायन्त्रम्

हनूमान् होवाच—आदौ षट्कोणम् । तन्मध्ये रामबीजं सश्रीकम् । तदधोभागे द्वितीयान्तं साध्यम् । बीजोर्ध्वभागे षष्ठ्यन्तं साधकम् । पार्श्वे दृष्टिबीजे । तत्परितो जीवप्राणशक्तिवश्यबीजानि । तत्सर्वं सम्मुखोन्मुखाभ्यां प्रणवाभ्यां वेष्टनम् । अग्नीशासुरवायव्यपुरः-पृष्ठेषु षट्कोणेषु दीर्घभाजि हृदयादिमन्त्राः क्रमेण । रां रीं रूं रें रौं र इति दीर्घभाजि तद्युक्तहृदयाद्यखान्तम् । षट्कोणपार्श्वे रमामाया-बीजे । कोणाग्रे वराहं हुमिति । तद्बीजान्तराले कामबीजम् । परितो वाग्भवम् । ततो वृत्तत्रयं साष्टपत्रम् । तेषु दलेषु ^१स्वरान् षड्वर्गान् । प्रतिदलं मालामनुवर्णषट्कम् । अन्तं पञ्चाक्षरम् । तद्दलकपोलेष्वष्टवर्गान् । पुनरष्टदलपद्मम् । तेषु दलेषु नारायणाष्टाक्षरी-मन्त्रः । तद्दलकपोलेषु श्रीबीजम् । ततो वृत्तम् । ततो द्वादशदलम् । तेषु दलेषु वासुदेवद्वादशाक्षरीमन्त्रः । तद्दलकपोलेष्वदिक्षान्तान् । ततो

^१ सर्वान् ष—क. स्वरानष्टव—अ १.

वृत्तम् । ततः षोडशदलम् । तेषु दलेषु हुं फट् नतिसहितराम-
द्वादशाक्षरम् । तद्दलकपोलेषु मायाबीजम् । सर्वत्र प्रतिकपोलं
द्विरावृत्त्या हं खं भ्रं व्रं ज्रं अं श्रं ज्रं । ततो वृत्तम् । ततो द्वात्रिंशद्दल-
पद्मम् । तेषु दलेषु नृसिंहमन्त्रराजानुष्टुभमन्त्रः । तद्दलकपोलेष्वष्टव-
स्वेकादशरुद्रद्वादशादित्यमन्त्राः प्रणवादिनमोः ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण ।
तद्दहर्विषट्कारं परितः । ततो रेखात्रययुक्तं भूपुरम् । द्वादशदिक्षु
राश्यादिभूषितम् । अष्टनागैरधिष्ठितम् । चतुर्दिक्षु नारसिंहबीजम् ।
विदिक्षु वाराहबीजम् । एतन् सर्वात्मकं यन्त्रं सर्वकामप्रदं मोक्षप्रदं
च । एकाक्षरादिनवाक्षरान्तानामेतद्यन्त्रं भवति ॥ २ ॥

एकाक्षरादिनवाक्षरान्तानां मन्त्राणां पूजापाठप्रकारमादौ कथयति—
आदाविति । आदौ षट्कोणं विलिख्येति सर्वत्रोद्यम् । सश्रीकं श्रीगमितमित्यर्थः ।
द्वितीयान्तं साध्यं सर्वाभाष्टसिद्धिमिति । षष्ठयन्तं साधकं ममेति । पार्श्वे
कुरुद्वयलेखनपूर्वकं दृष्टिबीजे इं ईं इति । जीवप्राणशक्तिवश्यबीजानि—हंस
इति जीवबीजं, सोऽहमिति प्राणबीजं, ह्रीमिति शक्तिबीजं, क्लीमिति वश्यबीजम् ।
हृदयाद्यस्त्रान्तं गं नम इत्यादि रः अस्त्राय फट् इत्यन्तम् । षट्कोणपार्श्वे
रामामायाबीजे श्रीं ह्रीमिति । कामबीजं क्लीमिति । वाग्भवं ऐमिति । अन्ते
पञ्चाक्षरं—सप्तदलेषु द्विचत्वारिंशद्गणान् विलिख्य शिष्टाष्टमदले शिष्टपञ्चाक्षरं
विलिखेदित्यर्थः । मेपादिगश्यादिना राश्यादिविभूषितम् । नारसिंहबीजं
क्षय्यौमिति ॥ २ ॥

आवरणपूजापूर्वकमनुजपः

तद्दशावरणात्मकं भवति । षट्कोणमध्ये साङ्गं राघवं यजेत् ।
षट्कोणेष्वङ्गैः प्रथमावृत्तिः । अष्टदलमूले आत्माद्यावरणम् । तदग्रे

वासुदेवाद्यावरणम् । द्वितीयाष्टदलमूले धृष्ट्याद्यावरणम् । तदग्रे
हनूमदाद्यावरणम् । द्वादशदलेषु वसिष्ठाद्यावरणम् । षोडशदलेषु
नीलाद्यावरणम् । द्वात्रिंशदलेषु ध्रुवाद्यावरणम् । भूपुरान्तरिन्द्राद्या-
वरणम् । तद्वहिर्वज्राद्यावरणम् । एवमभ्यर्च्य मनुं जपेत् ॥ ३ ॥

षट्कोणेषु हृदयाद्यङ्गः प्रथमावृत्तिः ॥ ३ ॥

दशाक्षरादिद्वात्रिंशाक्षरान्तमन्त्रपूजायन्त्रम्

अथ दशाक्षरादिद्वात्रिंशदक्षरान्तानां मन्त्राणां पूजापीठमुच्यते
—आदौ षट्कोणम् । तन्मध्ये स्वबीजम् । तन्मध्ये माध्यनामानि ।
एवं कामबीजवेष्टनम् । तं शिष्टेन नवाणैर्न वेष्टनम् । षट्कोणेषु षडङ्गा-
न्यग्रीशासुरवायव्यपूर्वदृष्टेषु । तत्कपोलेषु श्रीमाये । कोणाग्रे क्रोधम् ।
ततो वृत्तम् । ततोऽष्टदलम् । तेषु दलेषु षट्संख्यया मालामनुवर्णान् ।
तद्वलकपोलेषु षोडश स्वराः । ततो वृत्तम् । तत्परित आदिकान्तम् ।
तद्वहिर्भूपुरं माष्टशूलाग्रम् । दिक्षु विदिक्षु नारसिंहवाराहे ।
एतन्महायन्त्रम् । आधारशक्त्यादिवैष्णवपीठम् ॥ ४ ॥

आदौ षट्कोणं लिखित्वेति सर्वत्र समानम् । मध्ये स्वबीजं
हृ[रा]मिति(?) । मध्ये साध्यनामानि मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरुकुरु नम इति
एतत् सर्वम् । क्रोधं हृमिति । नारसिंहवाराहे क्ष्म्यौ हृमिति ॥ ४ ॥

यन्त्राराधनपूर्वकमनुजपः

अङ्गैः प्रथमावृत्तिः । मध्ये रामम् । वामभागे सीताम् ।
तत्पुरतः शार्ङ्गं शरं च । अष्टदलमूले हनूमदादि द्वितीयावरणम् ।

धृष्ट्यादि तृतीयावरणम् । इन्द्रादिभिश्चतुर्थी । वज्रादिभिः पञ्चमी ।
एतद्यन्त्राराधनपूर्वकं दशाक्षरादिमनूत् जपेत् ॥ ९ ॥

हृदयादि — अंगैः । द्वितीयावरणं — तदग्रे धृष्ट्यादितृतीयावरणम् ॥९॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीराममन्त्रपुरश्चरणविधिः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—श्रीराममन्त्राणां
पुरश्चरणविधिमनुब्रूहीति । हनूमान् होवाच—

नित्यं त्रिषवणस्नायी पयोमूलफलादिभुक् ।

अथवा पायसाहारो हविष्यान्नाद एव च ॥ १ ॥

षड्भुजैश्च परित्यक्तः स्वाश्रमोक्तविधिं चरन् ।

वनिताऽऽदिषु वाक्कर्ममनोभिर्निःस्पृहः शुचिः ॥ २ ॥

भूमिशायी ब्रह्मचारी निष्कामो गुरुभक्तिमान् ।

स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः ॥ ३ ॥

गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन् राममनन्यधीः ।

सूर्येन्दुगुरुदीपादिगोब्राह्मणसमीपतः ॥ ४ ॥

श्रीरामसन्निधौ मौनी मन्त्रार्थमनुचिन्तयन् ।
 व्याघ्रचर्मासने स्थित्वा स्वस्तिकाद्यासनक्रमात् ॥ १ ॥
 तुलसीपारिजातश्रीवृक्षमूलादिकस्थले ।
 पद्माक्षतुलसीकाष्ठरुद्राक्षकृतमालया ॥ ६ ॥
 मातृकामालया मन्त्री मनसैव मनुं जपन् ।
 अभ्यर्च्य वैष्णवं पीठे जपेदक्षरलक्षकम् ॥ ७ ॥
 तर्पयेत्तद्दशांशेन पयसा तद्दशांशतः ।
 जुहुयाद्गोघृतेनैव भोजयेत्तद्दशांशतः ॥ ८ ॥
 ततः पुष्पाञ्जलिं मूलमन्त्रेण विधिवच्चरेत् ।
 ततः सिद्धमनुभूत्वा जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ ९ ॥

एकाक्षरादिमन्त्राणां पुरश्चरणानियमबुभुत्सया पृच्छन्तीत्याह—सनकाद्या
 इति । पप्रच्छुः—किं तत् ? श्रीराममन्त्राणामिति । पुरश्चरणनियमः कीदृशः
 इत्यत्र—नित्यमिति ॥ १-१३ ॥

ऐहिके राममन्त्रविनियोगनिषेधः

अणिमादिर्भजत्येनं यूनं वरवधूरिव ।
 ऐहिकेषु च कार्येषु महापत्सु च सर्वदा ॥ १० ॥
 नैव योज्यो राममन्त्रः केवलं मोक्षसाधकः ।

ऐहिके हनूमत्स्मरणविधिः

ऐहिके समनुप्राप्ते मां स्मरेद्रामसेवकम् ॥ ११ ॥

यो रामं संस्मरेन्नित्यं भक्त्या मनुपरायणः ।
 तस्याहमिष्टसंसिद्धचै दीक्षितोऽस्मि मुनीश्वराः ॥ १२ ॥
 वाञ्छितार्थं प्रदास्यामि भक्तानां राघवस्य तु ।
 सर्वथा जागरूकोऽस्मि रामकार्यधुरंधरः ॥ १३ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः*

पञ्चमोऽध्यायः

रामषडक्षरस्य मन्त्रराजत्वम्

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—श्रीराममन्त्रार्थमनुब्रूहीति

हनूमान् होवाच—

सर्वेषु राममन्त्रेषु मन्त्रराजः षडक्षरः ।
 एकधा द्विविधा त्रेधा चतुर्धा पञ्चधा तथा ॥ १ ॥
 षट्सप्तधाऽष्टधा चैव बहुधाऽयं व्यवस्थितः ।
 षडक्षरस्य माहात्म्यं शिवो जानाति तत्त्वतः ॥ २ ॥
 श्रीराममन्त्रराजस्य सम्यगर्थोऽयमुच्यते ।
^१नारायणाष्टाक्षरे च शिवपञ्चाक्षरे तथा ॥ ३ ॥
 सार्थकार्णद्वयं रामो रमन्ते यत्र योगिनः ॥

नारायणेत्यादि श्लोकः (अ १, अ २, क) कोशेषु नोपलभ्यते.

मन्त्रार्थबुभुत्सया मुनयः पृच्छन्तीत्याह—सर्नकाद्या इति । पप्रच्छुः—
किं तत्? श्रीरामेति । तत्प्रश्नोत्तरं हनूमान् होवाच । किमियत्र—बहूनां
राममन्त्राणां मध्ये षडक्षरस्य मन्त्रराजत्वं तारकत्वात्, तस्मादिबहुबीजयोगतो
बहुत्वं चिन्मात्रगोचरत्वं चाह—सर्वेण्विति ॥ १ ॥ पञ्चाशद्वर्णतद्विकृतियोगतो
बहुत्वं तदर्थरूपेण ब्रह्ममात्रता चोपपद्यते इति ॥ २-३ ॥

रामबीजार्थः

रकारो वह्निवचनः प्रकाशः पर्यवस्यति ॥ ४ ॥

सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते ।

व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः ॥ ५ ॥

व्यञ्जनैः स्वरसंयोगं विद्धि तत्प्राणयोजनम् ।

रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमाकारयोजनम् ॥ ६ ॥

मकारोऽभ्युदयार्थत्वात् स मायेति च कीर्त्यते ।

^१सोऽयं बीजं स्वकं यस्मात् समायं ब्रह्म चोच्यते ॥ ७ ॥

सबिन्दुः सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दुरूपवान् ।

ज्योतिस्तस्य शिखारूपं नादः सप्रकृतिर्मतः ॥ ८ ॥

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ समायाद्ब्रह्मणः स्मृतौ ।

बिन्दुनादात्मकं बीजं वह्निसोमकलाऽऽत्मकम् ॥ ९ ॥

अग्नीषोमात्मकं रूपं रामबीजे प्रतिष्ठितम् ।

यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥ १० ॥

तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।

बीजोक्तमुर्भेयाथत्वं रामनामनि दृश्यते ॥ ११ ॥

बीजं मायाविनिर्मुक्तं परं ब्रह्मेति कीर्त्यते । •

तत्रादौ स्वबीजार्थमाह—रकाग इति । रेति व्यञ्जनं वह्निवचनं, वह्निगत-
हेयांशापाये बहेः चिद्वह्नित्वेन प्रकाशमात्रं पर्यवस्यति ॥ ४ ॥ अस्यार्थस्तु
सच्चिदानन्दमात्रः परमात्मेत्यर्थः । व्यञ्जनस्य निर्विशेषत्वं तत्र स्वरविशेषयोगतः
सविशेषत्वं चाह—व्यञ्जनमिति ॥ ५ ॥ एतेन किं कृतं स्यादित्यत आह—
रेफ इति ॥ ६ ॥ तत्र बिन्दुयोजनं अभ्युदयार्थमित्याह—मकार इति ।
समायशब्दार्थमाह—सोऽयमिति ॥ ७ ॥ बिन्दुनादयोगतो जगत्कारणतामेती-
त्याह—सबिन्दुरिति । यो बिन्दुना मनसा सह वर्तत इति सबिन्दुः सोऽपि
पुरुषो जीवः समष्टिबिन्दुधिकरणशिवसूर्येन्दुरूपवान् भवति । प्रकृतिस्वरूपं
तु तस्य पुरुषस्य ज्योतिः प्रकाश एव शिखास्वरूपं “तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितं”
इति श्रुतः । मूलादिप्रकृत्या सह वर्तत इति सप्रकृतिः नादोपाधिकः पुरुषो
मतः ॥ ८ ॥ एवं प्रकृतिपुरुषौ समायात् सविशेषात् ब्रह्मणः सकाशाद्विकल्पितौ
इति स्मृतौ ॥ ९ ॥ एवं प्रकृतिपुरुषकलनाकलितं विश्वं रामबीजे प्रतिष्ठितं इत्यत्र
दृष्टान्तः वटबीजान्तर्गतवटवृक्षवत् रामबीजस्थं जगदित्यर्थः ॥ १० ॥
उपाधियोगतः सविशेषत्वं वस्तुतो निर्विशेषत्वं च स्यादित्यत आह—
बीजोक्तमिति ॥ ११ ॥

द्वयक्षरार्थः

मुक्तिदं साधकानां च मकारो मुक्तिदो मतः ॥ १२ ॥

मारूपत्वादतो रामो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।

आद्यो रा तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वंपदार्थवान् ॥ १३ ॥

तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्त्वविदो विदुः ।

एकाक्षरमन्त्रार्थमुक्त्वा त्र्यक्षरार्थमाह—मुक्तिदमिति ॥ १२ ॥ रेफ-
मकारयोः कामाकामधियां भुक्तिमुक्तिप्रदत्वं युज्यते इत्यर्थः । रामनाम्नो मुक्तिहेतुत्वं
कथमित्यत्र प्रत्यगभिन्नब्रह्मवाचकत्वात् तत् युज्यते इत्याह—अद्य इति ॥ १३ ॥
रामाक्षराख्यतत्त्वंपदगतवाच्यार्थकलनाऽपवादाधिकरणप्रत्यगभिन्नब्रह्मणः स्वाज्ञादि-
दृष्टिप्रसक्तप्रत्यकपरविभागैक्यकलनाऽसंभवसम्यज्ज्ञानतो निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया
लक्षितत्वात् रामपदार्थो ब्रह्मैवेत्यर्थः, “रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात् किञ्चिन्न
विद्यते” इति स्मृतेः ॥

षडक्षरार्थः

नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ॥ १४ ॥

असीत्यर्थे चतुर्थी स्यादेवं मन्त्रेषु योजयेत् ।

षडक्षरार्थप्रकटनव्याजेन त्र्यक्षरादिसर्वमन्त्रार्थमाह—नम इति ॥ १४ ॥
त्र्यक्षरादिमन्त्रजातं त्रेधा विभज्य “तत्त्वमसि” इति महावाक्यार्थयोजनं
कर्तव्यमित्यर्थः ॥

राममन्त्रमाहात्म्यम्

तत्त्वमस्यादिवाक्यं तु केवलं मुक्तिदं यतः ॥ १५ ॥

भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतत्तस्मादप्यतिरिच्यते ।

मनुष्वेतेषु सर्वेषामधिकारोऽस्ति देहिनाम् ॥ १६ ॥

मुमुक्षूणां विरक्तानां तथा चाश्रमवासिनाम् ।

प्रणवत्वात् सदा ध्येयो यतीनां च विशेषतः ॥

राममन्त्रार्थविज्ञानी जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ १७ ॥

“तत्त्वमसि” इत्यादिमहावाक्यापेक्षया अस्य सर्वोत्कृष्टत्वमाह—
तदिति ॥ १५ ॥ प्राणिमात्रस्य सप्तकोटिमहामन्त्र(त्व)धिकृतत्वेऽपि यतिभिरसे-
वितत्वात् राममन्त्रस्य तु प्रणवस्वरूपत्वेन तैर्गपि ग्राह्यमित्याह—मनुष्विति ॥ १६ ॥
मन्त्रार्थज्ञानफलमाह—राममन्त्रार्थेति ॥ १७ ॥

विद्याऽध्ययनफलम्

य इमामुपनिषदमधीतं सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । सुरापानात् पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति । ब्रह्महत्यात् पूतो भवति । स राममन्त्राणां कृतपुरश्चरणो रामचन्द्रो भवति ॥ १८ ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।

न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥

ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥ १९ ॥

उपनिषत्पारायणफलमाह—य इति ॥ १८ ॥ यदुक्तं तदेतदृचा मन्त्रेणाप्युक्तं भवतीत्याह—तदेतदृचाऽभ्युक्तमिति । प्रथमाध्यायादौ “राम एव परं ब्रह्म” इति मन्त्रेण यः परमात्मा निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया अवशिष्यते तत्त्वतः सोऽयं रामोऽहमस्मीति ये सदा अनुभूय यथोक्ताधिकारिभ्यः प्रवदन्ति ते राम एव भवन्तीत्यत्र न हि संशयोऽस्ति । ॐ सत्यमित्यत्र “श्रीरामो ब्रह्म तारकं” इत्युक्तत्वात् । इत्युपनिषच्छब्दो रामरहस्योपनिषत्समास्यर्थः ॥ १९ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

गामरहस्योपनिषद्ब्रह्माख्यानं लिखितं स्फुटम् ॥

रामरहस्योपनिषद्ब्रह्माख्यानग्रन्थविस्तरः ।

अष्टाशीत्यधिकेनाढ्यद्विशतं परिकीर्तितः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे चतुष्पञ्चाशत्सङ्ख्यापूरकं

श्रीरामरहस्योपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

वासुदेवोपनिषत्

आश्रायन्तु—इति शान्तिः

ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिजिज्ञासा

ॐ नमस्कृत्य भगवान् नारदः सर्वेश्वरं वासुदेवं पप्रच्छ—

अधीहि भगवन्नूर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिमहितं मे ब्रूहीति ॥ १ ॥

यत् सर्वहृदयागारं यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

वस्तुतो यन्निराधारं वासुदेवपदं भजे ॥

इह खलु सामवेदप्रविभक्तयं वासुदेवोपनिषत् ऊर्ध्वपुण्ड्रमाहात्म्यप्रकटनव्यग्रा
वैष्णवपदपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते ।
नारदभगवत्प्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतार-
यति—ओमिति ॥ १ ॥

गोपीचन्दनस्वरूपम्

तं होवाच भगवान् वासुदेवः—वैकुण्ठस्थानादुत्पन्नं मम
प्रीतिकरं मद्भक्तैर्ब्रह्मादिभिर्धारितं विष्णुचन्दनं ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं
गोपीभिः प्रक्षालनाद्गोपीचन्दनमाख्यातं मदङ्गलेपनं पुण्यं चक्रतीर्था-
^१न्तःस्थितं चक्रममायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवति ॥ २ ॥

^१ न्तरस्थि— क.

ओङ्कारार्थं वासुदेव प्रणिपत्य ऊर्ध्वपुण्ड्रविधानसर्वस्वमनुब्रूहीति नारदेन पृष्टः तं होवाच भगवान् वासुदेवः । ऊर्ध्वपुण्ड्रद्रव्येयत्तामाह—वैकुण्ठेति । मेरुमध्यशृङ्गालङ्कारवैकुण्ठस्थानादुत्पन्नं विष्णुवाह्लादनदिव्यचन्दनवनस्य वैकुण्ठप्रभवत्वात् मम विष्णाः प्रीतिकरं मदिच्छातो वैकुण्ठादागतं ततो ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं अहरहः गोपीभिः प्रक्षाळनादेव गोपीचन्दनमिति सर्वत्र विख्यातं भवतीत्यर्थः । तस्य मुक्तिसाधनत्वमाह—मदङ्गेति । स्वमजनहेतोः चक्रेण निर्मितत्वात् चक्रतीर्थं भगवदङ्गात् तदन्तः प्रविश्य स्थितं चक्रयोगतः चक्रसमायुक्तं, भगवदाप्तेः इदमेव मुग्यसाधनमित्यर्थः ॥ २ ॥

गोपीचन्दनोद्धारधारणयोर्विधानम्

अथ गोपीचन्दनं नमस्कृत्योद्धृत्य—

गोपीचन्दन पापघ्न विष्णुदेहममुद्भव ।

चक्राङ्कित नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव ॥ ३ ॥

इमं मे गङ्गे इति जलमादाय विष्णोर्नुकमिति मर्दयेत् ।

अतो देवा अवन्तु न इत्येतैर्मन्त्रैर्विष्णुगायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धारयेत् ॥ ४ ॥

चक्रतीर्थतो गोपीचन्दनोद्धारप्रकारमाह—अथेति ॥ ३ ॥ एवं गोपीचन्दनं यथेष्टं गृहीत्वा देवतागृहे संस्थाप्य किञ्चित् गृहीत्वा इमं मे गङ्गे इति । “नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि । तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्” इति विष्णुगायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धारयेत् ॥ ४ ॥

ब्रह्मचार्यादीनां धारणाप्रकारः

ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णव-
गायत्र्या कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत् ॥

इति त्रिवारमभिमन्त्र्य—

शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत ।

गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम् ॥

इति ध्यात्वा गृहस्थो ललाटादिद्वादशस्थलेष्वनामिकाङ्गुल्या वैष्णव-
गायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धारयेत् ॥ ५ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या
कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत् ॥ ६ ॥

यतिस्तर्जन्या शिरोललाटहृदयेषु प्रणवेनैव धारयेत् ॥ ७ ॥ *

ब्रह्मादीनां धारणाप्रकारमाह—ब्रह्मचारीति । “शङ्खचक्र” इति मन्त्रं,
इति त्रिवारमभिमन्त्र्य ॥ ५-७ ॥

त्रिपुण्ड्रस्य त्रिमूर्त्यादिरूपत्वम्

ब्रह्मादयस्त्रयो मूर्तयस्तिस्रो व्याहृतयस्त्रीणि त्र्यंदांसि त्रयोऽग्रय
इति ज्योतिष्मन्तस्त्रयः कालास्तिस्रोऽवस्थास्त्रय आत्मानः पुण्ड्रास्त्रय
ऊर्ध्वा अकार उकार मकार एते प्रणवमयोर्ध्वपुण्ड्रस्तदात्मा
सदेतदोमिति ॥ ८ ॥

* जेकबू-महाशयसम्पादित-सुम्बैमुद्रितकोशस्थः एतत्प्रकरणपाठः समीचीनतरो भाति.
स च पाठक्रम एव वर्तते—

“गोपीचन्दनपापत्र” . . . इति प्रार्थयन् “इमं मे” . . . विष्णुगायत्र्या च
त्रिवारमभिमन्त्र्य, “शङ्खचक्रगदापाणे” . . . इति मां ध्यात्वा, गृहस्थो ललाटादि . .
धारयेत् । ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा ललाट . . . धारयेत् । यतिः तर्जन्या . . . धारयेत् ॥

१ “तानेकधा समभवत्” इत्यधिकः—मु. उ.

वासुदेवोपनिषत्

ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य त्रिमूर्तित्याहृतिच्छन्दोऽग्निप्रणवादिरूपत्वं चाह—ब्रह्मादय
इति । त्रयः आत्मानः आत्मा अन्तर्गत्मा परमात्मा चेति । विराट्सूत्र-
बीजात्मानो ज्योतिष्मन्तः ॥ ८ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य प्रणवाधिकारिणैव धार्यत्वम्

ऊर्ध्व^१मुन्नयत इत्योकाराधिकारी तस्मादूर्ध्वपुण्ड्रं धारयेत् ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य प्रणवत्वेन प्रणवाधिकारिणैव एतद्वार्यमित्याह—ऊर्ध्वमिति ।
यस्मात् ऊर्ध्वं उन्नयते ॥ ९ ॥

तस्य परमहंसेनापि धार्यत्वम्

परमहंसो ललाटे प्रणवेनैकमूर्ध्वपुण्ड्रं वा धारयेत् ॥ १० ॥

अवधूतेनापि एतद्वार्यमित्याह—परमहंस इति ॥ १० ॥

वासुदेवध्यानप्रकारः

तत्त्वप्रदीपप्रकाशं स्वात्मानं पश्यन् योगी मत्सायुज्यमवाप्नोति ॥

अथ वा न्यस्तहृदयः पुण्ड्रमध्ये वा हृदयकमलमध्ये वा ॥ १२ ॥

तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ।

नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।

नीवारशूकवत्तन्वी परमात्मा व्यवस्थितः ॥ इति ॥ १३ ॥

अतः पुण्ड्रस्थं हृदयपुण्डरीकेषु तमभ्यसेत् ।

क्रमादेवं स्वमात्मानं भावयेन्मां परं हरिम् ॥ १४ ॥

एकाग्रमनसा यो मां ध्यायते हरिमव्ययम् ।

हृत्पङ्कजे च स्वात्मानं स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १५ ॥

^१ ऊर्ध्वमुन्नाय—अ २. ऊर्ध्वमुन्नमय— अ १, क.

मद्रूपमद्वयं ब्रह्म आदिमध्यान्तवर्जितम् ।

स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥ १६ ॥

प्रत्यगभेदेन मां पश्यतां मद्भावापत्तिः स्यादित्याह—तत्त्वेति । तत्त्व-
प्रदीपप्रकाशं परमात्मानं स्वात्मानं प्रत्यञ्चं पश्यन् योगी मत्सायुज्यमवाप्नोति
॥ ११ ॥ एवं द्रष्टुं अशक्तस्य प्रकारान्तरमाह—अथवेति । न्यस्तहृदयः
भगवति विन्यस्तहृदयो योगी न्यस्तहृदयपुण्ड्रमध्ये वा हृदयकमलमध्ये वा
मां ध्यात्वा मत्सायुज्यमेतीति पूर्वणान्वयः ॥ १२ ॥ हृदयकमलमध्ये केन
रूपेण ध्यातव्यः इत्यत आह—तस्येति । तस्य हृदयस्य मध्ये मूलाधारस्थ-
वह्निशिखा अगीया सुसूक्ष्मा ऊर्ध्वा ब्रह्मरन्धान्तं व्यवस्थिता नीलमेघमध्य-
विलसितविद्युत्खेव नीवारशूकवत्तन्वी योगकालं स्फुरति तस्याः शिखायाः
मध्ये ततोऽपि सूक्ष्मतया परमात्मा वासुदेवो व्यवस्थितः । इतिशब्दः
मन्त्रसमाप्त्यर्थः ॥ १३ ॥ यतोऽयं सर्वप्रत्यक् अतः कारणात् तं सर्वप्राणि-
हृदयपुण्डरीकेषु प्रत्यगभेदेन सन्तं अभ्यसेत् अनुसन्धानं कुर्यात् ॥ १४ ॥
ज्ञानफलमाह—एकाग्रेति । स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमं हरतीति हरिम् ॥ १५ ॥
स्वप्रापकज्ञानोपायमाह—मद्रूपमिति । स्वानन्यभक्त्या जानातीति ज्ञानमुदेति,
ज्ञानसमकालं मुक्तां भवति, तस्मात् ब्रह्मज्ञानं प्रति भक्तिः अन्तरङ्गसाधन-
मित्यर्थः ॥ १६ ॥

वासुदेवस्य सर्वात्मत्वम्

एको विष्णुरनेकेषु जङ्गमस्थावरंषु च ।

अनुस्यूतो वसत्यात्मा भूतेष्वहमवस्थितः ॥ १७ ॥

तैलं तिलेषु काष्ठेषु वह्निः क्षीरे घृतं यथा ।

गन्धः पुष्पेषु भूतेषु तथाऽऽत्माऽवस्थितो ह्यहम् ॥ १८ ॥

स्वस्य सार्वार्त्स्यं प्रेक्षयति—एक इति ॥ १७ ॥ किं कुण्डबदरजातमिव सर्वभूतेषु तिष्ठसीत्यत आह—तैलमिति । घटशरावाद्यसङ्गतया व्योमवत् सर्वं व्याप्य स्थितोऽस्मीत्यर्थः ॥ १८ ॥

वासुदेवध्यानस्थानेषु गोपीचन्दनधारणम्

ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृदये चिद्रवि हरिम् ।

गोपीचन्दनमालिप्य तत्र ध्यात्वाऽऽप्नुयात् परम् ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वदण्डोर्ध्वरेताश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रोर्ध्वयोगवान् ।

ऊर्ध्वं पदमवाप्नोति यतिरूर्ध्वचतुष्कवान् ॥ २० ॥

इत्यंतन्निश्चितं ज्ञानं मद्भक्त्या सिध्यति स्वयम् ।

नित्यमंकाग्रभाक्तः स्याद्गोपीचन्दनधारणात् ॥ २१ ॥

हरंरूपलब्धस्थानं ध्यानप्रकारं तत्फलं चाह—ब्रह्मरन्ध्र इति ॥ १९ ॥ ऊर्ध्वालम्बनां यतिः ऊर्ध्वपदमवाप्नोतीत्याह—ऊर्ध्वेति । स्वाविद्यापदतत्कार्या-रोपापवादाधिकरणं विश्वाद्यधिकल्पान्तमूर्ध्वं चैतन्यजातमालम्बनदण्डो यस्य सांख्यं ऊर्ध्वदण्डः स चासावूर्ध्वरेताश्च ऊर्ध्वदण्डोर्ध्वरेता जितेन्द्रिया ब्रह्म-विन्मुनिरित्यर्थः । ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य प्रकृतत्वात् ऊर्ध्वं पुण्ड्रं गोपीचन्दनं यस्य सांख्यं ऊर्ध्वपुण्ड्रः स चासावूर्ध्वं ब्रह्म ऊर्ध्वाधःपरिच्छेदविरळमिति येन युज्यते सम्यग्बोधेन सांख्यमूर्ध्वयागो यस्य सांख्यं ऊर्ध्वपुण्ड्रोर्ध्वयोगवान् । एवं पूर्वोक्तोर्ध्वचतुष्कवान् यतिः निष्प्रतियोगिकोर्ध्वं ब्रह्म स्वमात्रधिया पद्यत इति पदमवाप्नोति तन्मात्रमवशिष्यते इत्यर्थः ॥ २० ॥ इत्थंभूतं ज्ञानं तद्भेतुभक्तिर्वा केनोपायेन सिध्यतीत्यत आह—इतीति ॥ २१ ॥

गोपीचन्दनभस्मनोर्धारणविधिः

ब्राह्मणानां तु सर्वेषां वैदिकानामनुत्तमम् ।

गोपीचन्दनवारिभ्यामूर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते ॥ २२ ॥

यो गोपीचन्दनाभावे तुलसीमूलमृत्तिवत्

मुमुक्षुर्धारयेन्नित्यमपराक्षात्मसिद्धये ॥ २३ ॥

अतिरात्राग्निहोत्रभस्माऽग्नेर्भसितमिदंविष्णुस्त्रीणिपदेति मन्त्रै-

र्वैष्णवगायत्र्या प्रणवेनोद्धूलनं कुर्यात् ॥ २४ ॥

एवं विधिना गोपीचन्दनं च धारयेत् ॥ २५ ॥

एतस्य वेदोक्तत्वेन अयं पन्थाः वेदिकैः संवनायः इति निगमयति—
ब्राह्मणानामिति ॥ २२ ॥ अलाभे किं कर्तव्यं? इत्यत आह—य इति ॥ २३ ॥
“ धिक् भस्मरहितं फालं ” इति श्रुतिविरोधः स्यात् इत्याशङ्क्य गोपीचन्दन-
श्रुतिप्रामाण्यतां गोपीचन्दनं भस्मश्रुतिप्रामाण्यतां गोपीचन्दनापरि भस्मोद्धूलनं
कार्यमित्याह—अतिरात्रेति । “ अग्नेर्भस्माऽसि । अग्निरिति भस्म ” इत्यादिमन्त्रेण ।
अनेन श्रुतिद्वयविरोधः परिहृतः स्यादित्यर्थः ॥ २४-२५ ॥

विद्याफलम्

यस्त्वधीते वा स सर्वपातकेभ्यः पूतो भवति पापबुद्धिस्तस्य
न जायते स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वैर्यज्ञैर्याजितो भवति
स सर्वैर्देवैः पूज्यो भवति श्रीमन्नारायणे मय्यचञ्चला भक्तिश्च भवति
स सम्यग् ज्ञानं च लब्ध्वा विष्णुसायुज्यमवाप्नोति न च पुनरावर्तते
न च पुनरावर्तते ॥ २६ ॥

इत्याह भगवान् वासुदेवः ॥ २७ ॥

एतद्विद्याफलमाह—यस्त्विति । अर्थतो विद्याऽभ्यासिनः पापासंभवमाह—
पापबुद्धिरिति । मुख्यफलं तु—स सम्यग्ज्ञानमिति । विष्णुसायुज्यं कैवल्यं
अवाप्नोति ॥ २६-२७ ॥

वासुदेवोपनिषत्

केवलाध्ययनफलम्

यस्त्वेतद्वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यो सत्यमित्युपनिषत् ॥२८॥

केवलं यस्त्वधीते सोऽपि क्रमेण एवमेव भवतीति । स्वाज्ञदशायां यद्यत्साधनानुष्ठानं अनुष्ठितं तत्तदसत्यं तस्य स्वाविद्याकार्यतया कारणतुल्यत्वात् , यत्तदसंभवप्रबोधसिद्धं ओङ्कारार्थं वासुदेवतत्त्वं ब्रह्ममात्रं तदेव सत्यं “ब्रह्म-मात्रमसन्न हि” इति श्रुतेः । इत्युपनिषच्छब्दो वासुदेवोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्यांपनिषद्ब्रह्मयोगिनः ।

श्रीवासुदेवोपनिषद्ब्रह्माख्यानं लिखितं लघु ।

श्रीवासुदेवोपनिषद्ब्रह्माख्याग्रन्थस्तु सप्ततिः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षट्पञ्चाशत्सङ्ख्यापूरकं
वासुदेवोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

हयग्रीवोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

हयग्रीवमन्त्रमहिमा

नारदो ब्रह्माणमुपसमेत्योवाच—अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां
वरिष्ठां ययाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य ब्रह्मविद्यां लब्ध्वैश्वर्यवान्
भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मोवाच—हयग्रीवद्वैतत्यान् मन्त्वान् यो वेद स श्रुतिस्मृतीति-
हासपुराणानि वेद स सर्वैश्वर्यवान् भवति ॥ २ ॥

स्वाज्ञोऽपि यत्प्रसादेन ज्ञानं तत्फलमाप्नुयात् ।
सोऽयं हयास्यो भगवान् हृदि मे भातु सर्वदा॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तयं हयग्रीवोपनिषत् स्वविद्याप्रकटनव्यग्रा
ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । नारदब्रह्म-
प्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । आख्यायिकामवतारयति—
नारद इति । किं स उवाचेत्यत्र—अधीहीति । ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां निर्विशेषब्रह्मणि
पर्यवसन्नां, यया सविशेषब्रह्मविद्यया मुमुक्षुः सर्वपापपुण्यविमुक्तो भूत्वाऽथ
स्वातिरिक्तासंभवसिद्धं ब्रह्म निःप्रतियोगिकस्वमात्रमिति निर्विशेषब्रह्मविद्यां लब्ध्वा
स्वातिरिक्तं स्वावशेषतया प्रसितुं य ईष्टे सोऽयं ईश्वरः तत्सम्बन्धिन्यजंङ्क्रिया-

ज्ञानेच्छाशक्यात्मकं ज्ञानावज्ञानसम्यग्ज्ञानरूपं ऐश्वर्यं तद्वान् भवति तां मे
अर्धाहीति ॥ १ ॥ नारदेनैवं पृष्टो भगवान् ब्रह्मोवाच । किमिति ? वक्ष्यमाण-
विद्याफलं प्रकटयति—हयग्रीवेति ॥ २ ॥

हयग्रीवमन्त्रत्रयम्

त एते मन्त्राः—

विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय चिन्मयानन्दरूपिणे ।

तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे स्वाहा स्वाहा नमः ॥ ३ ॥

ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे ।

प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः स्वाहा स्वाहा नमः ॥ ४ ॥

उद्गीथ प्रणवोद्गीथ सर्ववागीश्वरेश्वर ।

सर्ववेदमयाचिन्त्य सर्व बोधय बोधय स्वाहा स्वाहा नमः ॥ ५ ॥

ते कीदृशाः इत्यत्र—त एते मन्त्रा इति ॥ ३-५ ॥

मन्त्रत्रयस्य ऋष्यादिध्यानान्तम्

ब्रह्मात्रिरविसवितृभार्गवा ऋषयः । गायत्रीत्रिष्टुवनुष्टुप्लन्दांसि ।

श्रीमान् हयग्रीवः परमात्मा देवतेति । ^१ह्रलौमिति बीजम् ।

सोऽहमिति शक्तिः । ह्रलूमिति कीलकम् । भोगमोक्षयोर्विनियोगः ।

अकारोकारमकारैरङ्गन्यासः । ध्यानम्—

शङ्खचक्रमहामुद्रापुस्तकादृचं चतुर्भुजम् ।

संपूर्णचन्द्रसंकाशं हयग्रीवमुपासहे ॥ ६ ॥

^१ अस्यामुपनिषदि सर्वत्र एतद्गीजाक्षरस्थं 'ल'कारस्थानं 'स'कार उपलभ्यते केषु-
चित् कोशेषु । (अ, अ १, अ २, क.) कोशेषु तु लकार एवोपलभ्यते.

हयग्रीवोपनिषत्

मन्त्रत्रयस्य ऋष्यादयः उच्यन्ते—ब्रह्मोत् । अकाराकारमकारः
द्विरावृत्तैः अङ्गन्यासः ॥ ६ ॥

हयग्रीवतुरीयमनुः

ॐ श्रीमिति द्वे अक्षरे । ह्रलौमित्येकाक्षरम् । ॐ नमो
भगवत इति सप्ताक्षराणि । हयग्रीवायेति पञ्चाक्षराणि । विष्णव इति
त्रीण्यक्षराणि । महं मेधां प्रज्ञामिति षडक्षराणि । प्रयच्छ स्वाहेति
पञ्चाक्षराणि । हयग्रीवस्य तुरीयो भवति ॥ ७ ॥

हयग्रीवतुरीयमन्त्रमुद्गरति—ॐ श्रीमिति । ॐ श्रीं ह्रलौं ॐ नमो
भगवते हयग्रीवाय विष्णवे महं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहेति एकोनत्रिंशदक्षरोऽयं
मनुः ॥ ७ ॥

हयग्रीवपञ्चममनुः

ॐ श्रीमिति द्वे अक्षरे । ह्रलौमित्येकाक्षरम् । ऐमैमैमिति
त्रीण्यक्षराणि । ह्रीं ह्रीमिति द्वे अक्षरे । सौः सौरिति द्वे अक्षरे ।
ह्रीमित्येकाक्षरम् । ॐ नमो भगवत इति सप्ताक्षराणि । हयग्रीवायेति
पञ्चाक्षराणि । महं मेधां प्रज्ञामिति षडक्षराणि । प्रयच्छ स्वाहेति
पञ्चाक्षराणि । पञ्चमो मनुर्भवति ॥ ८ ॥

हयग्रीवपञ्चममनुमुद्गरति—ॐ श्रीमिति । ॐ श्रीं ह्रलौं ऐं ऐं ह्रीं ह्रीं
सौः सौः ह्रीं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय महं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहेति
चतुस्त्रिंशदक्षरोऽयं मनुः ॥ ८ ॥

हयग्रीवैकाक्षरमनुः

हयग्रीवैकाक्षरेण ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि । ब्रह्मा महेश्वराय
महेश्वरः संकर्षणाय संकर्षणो नारदाय नारदो व्यासाय व्यासो

लोकेभ्यः प्रायच्छदितां हकारो लकारोमुकारो त्रयमेकस्वरूपं भवति । ह्रौं बीजाक्षरं भवति । बीजाक्षरेण ह्रौंरूपेण तज्जापकानां संपत्सारस्वतौ भवतः । तत्स्वरूपज्ञानां वैदेही मुक्तिश्च भवति । दिक्पालानां राज्ञां नागानां किन्नराणामधिपतिर्भवति । हयग्रीवैकाक्षरजपशीलाज्ञया सूर्यादयः स्वतः स्वस्वधर्मणि प्रवर्तन्ते । सर्वेषां बीजानां हयग्रीवैकाक्षरबीजमनुत्तमं मन्त्ररातात्मकं भवति । ह्रौं हयग्रीवस्वरूपो भवति ॥ ९॥

षष्ठमेकाक्षरं मनुं ब्रह्मादिपरंपराप्रवृत्तं मन्त्रराजत्वेन सर्वार्थसाधकं तदर्थानुसंधायिनां विकलेवरकैवल्यप्रदमिति स्तौति—हयग्रीवेति । वक्ष्यमाण-विद्यायाः आचार्यपारंपर्यक्रममाह—ब्रह्मेति । हयग्रीवैकाक्षरीविद्यायाः प्रणवमहा-वाक्यानुकरणतामाह—हकारोमिति । त्रयं भवति ॥

हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम् ।

स[ल]कारः खेचरी प्रोक्तः त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥

इति श्रुत्यनुरोधेन हकारस्तत्पदार्थः, स[ल]कारः त्वंपदार्थः, उकारस्तु तत्त्वंपदार्थगतवाच्यार्थत्यागपूर्वकं तत्त्वंपदलक्ष्ययोः परचित्प्रत्यक्चितोः ऐक्यानु-वाद्यसिपदार्थो भवति । हकारादिवर्णत्रयोपरि श्रूयमाणः ओङ्कारः तुरीयोङ्काराग्र-विद्योततुर्यतुरीयार्थो भवति । एतत्त्वयं मिळित्वा एकस्वरूपं भवति । तदेव विवृणोति—ह्रौंमिति । ह्रौंरूपेण प्रत्यगभिन्नपरमात्मभावेन तज्जापकानां पारमैश्वर्यभावापन्नतया संपत्सारस्वतौ भवतः संपदीश्वरत्वं सारस्वतं निर्विशेष-ब्रह्मविद्यारूपम् । सम्यग्ज्ञानसंपत्सारस्वते भवत इति वक्तव्ये संपत्सारस्वताविति लिङ्गव्यत्ययः । यत्स्वातिरिक्तकलनाऽपह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमवशिष्यते तत्स्वरूपज्ञानां वैदेही मुक्तिश्च भवति । यदि सविशेषतया मन्त्रार्थं जानाति तदा इन्द्रादिदिक्पालानां अधिपतिर्भवति सर्वेश्वरो भवतीत्यर्थः । अस्य

मन्त्रिण ईश्वरत्वेन सूर्यादिभयहेतुत्वमाह—हयग्रावात्, “भीषाऽस्माद्वातः पवते” इत्यादि श्रुतेः । यतः एवं प्रभाववान् हयग्रीवैकाक्षरमनुः अत एव सर्वेषामिति । बीजार्थस्तु हयग्रीवस्वरूपो भवति ॥ ९ ॥

वागादिसिद्धिकरः प्रयोगः

अमृतं कुरु कुरु स्वाहा । तज्जापकानां वाक्सिद्धिः श्रीसिद्धि-
रष्टाङ्गयोगसिद्धिश्च भवति ॥ १० ॥

हयग्रीवैकाक्षरोपासकं अमृतं कुरु कुरु स्वाहा । इतश्च तज्जापकाना-
मिति ॥ १० ॥

सप्तदशाक्षरमनुः

ह्रौं सकलसाम्राज्येन सिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा ॥ ११ ॥

अपरः सप्तदशाक्षरोऽयं मन्त्रः ह्रौमिति ॥ ११ ॥

मन्त्रज्ञानफलम्

तानंतान् मन्त्रान् यो वेद अपवित्रः पवित्रो भवति ।
अब्रह्मचारी सुब्रह्मचारी भवति । अगम्यागमनात् पूतो भवति ।
पतितसंभाषणात् पूतो भवति । ब्रह्महत्यादिपातकैर्मुक्तो भवति । गृहं
गृहपतिरिव देही देहान्ते परमात्मानं प्रविशति ॥ १२ ॥

विश्वोत्तीर्णंतिमन्त्रज्ञानां फलमाह—तानेतानिति । मन्त्रार्थज्ञानमुख्यफल-
माह—गृहमिति ॥ १२ ॥

हयग्रीवमन्त्राणां महावाक्यार्थप्रतिपादकत्वम्

प्रज्ञानं ब्रह्म । अहं ब्रह्मास्मि । तत्त्वमसि । अयमात्मा ब्रह्मेति
महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थं त एते मन्त्राः प्रतिपादयन्ति ॥ १३ ॥

द्वयप्रोवापानेषत्

विश्वोत्तोणेत्यादेमन्त्राणा महावाक्यसमन्वयार्थं महावाक्यान्याह—प्रज्ञान-
मिति । महावाक्यैः प्रत्यक्परचितोरेकत्वं प्रतिपादितम् । सप्तकोटिमहामन्त्राणां
महावाक्यार्थत्वे मानमियं श्रुतिः—

नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ।
असीत्यर्थे चतुर्थी स्यादेवं मन्त्रेषु योजयेत् ॥

इति ॥ १३ ॥

स्वरव्यञ्जनभेदेन मन्त्रस्य द्विविधत्वम्

स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधायते ॥ १४ ॥

मन्त्रसमुदायस्तु स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधायते । स्वरः प्रकृत्यंशः, व्यञ्जनं तु
ब्रह्मांशः, “व्यञ्जनैः स्वरसंयोगो विद्वि तत्प्राणयोजनं” इति, “बीजं
मायाविनिर्मुक्तं परं ब्रह्मेति कीर्त्यते” इति च श्रुतेः ॥ १४ ॥

अनुमन्त्राः

अथानुमन्त्रान् जपति—

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद् मन्द्रा ।

चतस्र ऊर्जं दुदुहे पर्यासि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ १५ ॥

गौरीमिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।

अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥ १६ ॥

ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।

सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादये ॥ १७ ॥

स शर्वरीरमृतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता ।

आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्याम् ॥ १८ ॥

मन्तानेवमुक्त्वा अथानुमन्तानाह--अथेति ॥ १९-१८ ॥

विद्याफलम्

य इमां ब्रह्मविद्यामेकादश्यां पठेद्धयग्रीवप्रभावेण महापुरुषो भवति ।

स जीवन्मुक्तो भवति ॥ १९ ॥

एतद्विद्याफलमाह—य इति । प्रभावेण प्रसादेन सः महापुरुषो भवति ॥ १९ ॥

विद्यां प्रति प्रार्थना

ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्त्वनिराकरणं धारयिता भूयासं

कर्णयोः श्रुतं मा ऋयोढ्वं ममामुष्यमोमित्युपनिषत् ॥ २० ॥

उक्तामिमां विद्यां प्रणवत्वेन प्रार्थयति—ओमिति । “ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्” इति श्रुतिसिद्धं तुरीयं तुर्यतुरीयं वा ब्रह्मोच्यते । हे तुर्यतुरीय ब्रह्मणे तुभ्यं नमोऽस्तु । त्वत्प्रसादतो मया देशिकमुखतो यद्यदधीतं तत्तन्मे हृदि धारणमस्तु । तदनिराकरणं अविस्मरणं यथा भवति तथा धारयिता भूयासम् । यच्छ्रेयःसाधनार्थं कर्णयोः कर्णाभ्यां श्रुतं मा ऋयोढ्वं मा विस्मरणमस्तु । किं च ममामुष्यं आमुष्मिकं विद्याफलं ओंकारार्थतुर्यतुर्यतया अवस्थानलक्षणं विकलेवरकैवल्यमस्तु । इतिशब्दः प्रार्थनासमाप्त्यर्थः । उपनिषच्छब्दः हयग्रीवोपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्यांपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

हयग्रीवोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं स्फुटम् ।

प्रकृतोपनिषद्ब्रह्माख्या पञ्चपञ्चाशदीरिता ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे शतसङ्ख्यापूरकं

हयग्रीवोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

नामधेयपदसूची

यत्र पुटसंख्याऽनन्तरं तिर्यग्प्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिः बोध्या

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|---|-----------|----------------------|--------------|
| अक्रूरः | २४ | ईश्वरः | ८०, २११, २८९ |
| अगस्त्यः | ३५२ | उत्तानपादः | ३० |
| अघासुरः | २४ | उद्धवः | २४ |
| अङ्गदः | ३१६ | उपेन्द्रः | ८२ |
| अत्रिः | ३३१ | उल्लूखलः | २४ |
| अदितिः | २४ | ऋक्षः | ३१६ |
| अनन्तः . ३४, ३६, ३८, ३१८ | | एलापुत्रकः | ३४ |
| अनिरुद्धः . २९, ६७, ७०, ७१ | | कपीश्वरः | ३१४ |
| अब्जयोनिः . ६४-२, ७०, ७४ | | कबन्धः | ३१४ |
| अम्बिकेश्वरः | ६५ | कमलासनः | २३ |
| अष्टाक्षरीमण्डपः | १३७ | कर्कोटः | ३४, ३७, ३८ |
| आदिनारायणः ९३, १०१, १०७, १२०, १२९-३, १४८ | | कर्दमः | ३० |
| आनन्दतरङ्गिणी | १२८ | कश्यपः | २४ |
| आनन्दवेदिका | १२० | काद्रवेयः | ३० |
| इन्द्रः ९, १२-२, २३, ३२-२, १०२ | | काम्यवनम् | ६५ |
| इन्द्रसेना | २०२ | कार्कोटः | ३१८ |
| | | कालिकः | २५, ३४ |

| | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|--|-----------------|--|-----------------|
| काशी | ३३३ | गोपीजनवल्लभः | ४३ |
| कीलकनारायणः | ११९ | गोवर्धनः | ५६ |
| कुमुदवनम् | ६५ | गोविन्दः | ४३ |
| कुरुक्षेत्रम् | ७८-३, ३२६ | गौरी | २११ |
| कुवल्यापीडः | २४ | घटश्रोत्रः | ३१५ |
| कृष्णः १८-४, २३, ४२, ४३, ४४, ४६, ४८, ५७, ५८, ६२-२, ६३, ६८, ७१ | | चन्द्रध्वजः | ५३, ५५ |
| कृष्णमूर्तिः | ६७ | चाणूरः | ५६ |
| कृष्णवनम् | ६६ | चाणूमरुहः | २४ |
| केकसेयः | ३४८ | चिदानन्दमयवेदिका | १३७ |
| केशी | ५६ | चिदानन्दाचलः | १२५ |
| कौस्तुभः | ७३ | चिन्मयप्रासादः | १३७ |
| कंसः | २४ | चिन्मयवेदिका | १२० |
| खदिरवनम् | ६५ | चिन्मयासनम् १२५, १२९, १३७ | |
| गङ्गा | ३३४ | जनकः | ३६३ |
| गणेश्वरः | ६५ | जयन्तकः | ३१६ |
| गरुडः | २५-२, ३४ | जाम्बवान् | ८२, ८३, ३१६ |
| गान्धर्वा | ६०, ६३, ६४, ७७ | तक्षकः | ३४, ३६, ३८, ३१८ |
| गुलिकः | ३४, ३७, ३८, ३१८ | तालवनम् | ६५ |
| गोकुलम् | २३ | तुलसीवैकुण्ठपुरम् | १२७-२ |
| गोपालः ६३, ६४, ६९-४, ७०, ७१ | | त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानम् | १३५ |
| गोपालपुरी | ६४, ६५ | त्र्यम्बकः | ११ |
| गोपालेश्वरः | ६६ | दक्षः | ३० |
| | | दक्षिणामूर्तिः | ३५२ |
| | | दत्तात्रेयः | १६१-२ |
| | | दिव्यमङ्गलासनम् | १२६ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|---|-----------------|---|----------------|
| दुन्दुभिः | ३१४ | परमानन्दतरङ्गिणी | १२८ |
| दूर्वासाः | ५८ | परमानन्दविमानम् | १२५ |
| दूर्वाशनो मुनिः | ६० | परमेश्वरः | ५२, १०२ |
| दूर्वाशी | ६० | परमेश्री | २, ८६ |
| देवकी | २३, ६४ | पादविभूतिवैकुण्ठनारायणः | १०२ |
| देवदर्शी | ८८ | पादविभूतिवैकुण्ठपुरम् | १२५ |
| धर्मपालः | ३१६ | पार्थसारथिः | ५६ |
| धर्मः | ३१६ | पितामहः | १४९, १५६ |
| धृष्टिः | ३१६ | पिनाकी | ११ |
| नारदः १६, १८, १९, २५, ३२-२, ६५, ३७५, ३८३, ३८५-२ | | पूतना | ५६ |
| नारायणः ६४, ७५, ८४, ९३, १०१, १०३-१२, ११३, १६७ | | पौण्ड्रः | ३४ |
| नासी | ३३२ | पौण्ड्रकालिकः | ३८ |
| निल्यगरुडः | १३० | पौलस्त्यः | ३४७ |
| निल्यवैकुण्ठम् | ९२ | प्रजापतिः ७, ११, १२-३, १३-२, १७९, १८०, २०२, २११, २१३, २६३-२ | |
| नीलकण्ठेश्वरः | ६६ | प्रणवकर्णिका | १३७ |
| ऋषिहः ५, १५, १९७, २११, २५७, ३१९ | | प्रणवगरुडः | ११९ |
| पद्मः | ३४, ३७, ३८, ३१८ | प्रणवविमानम् | १३७ |
| परमपदम् | ९३ | प्रथमभूपुरवीथी | १४६ |
| परमपुरुषः | ७० | प्रद्युम्नः | २९, ६७, ७०, ७१ |
| परममङ्गलासनम् | १२० | प्रियव्रतः | ३० |
| | | बहिर्भूपुरवीथी | १४६ |
| | | बहुलवनम् | ६५ |
| | | बाह्यवृत्तवीथी | १४६ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|------------------------------------|-----------|---------------------------|----------------|
| बृन्दा | २५ | मथुरा | ६५, ६८, ७१, ७२ |
| बृन्दावनम् | ६५ | मथुरामण्डलम् | ६९ |
| बृहत्सेनः | ३२-२ | मधुवनम् | ६५ |
| बृहद्वनम् | ६५ | मध्यभूपुरवीथी | १४६ |
| बृहस्पतिः | ७८, ३२६ | महारुडः | ३३, ३५-२ |
| बोधानन्दवनम् | १२८ | महानन्दपदम् | १३३ |
| बोधानन्दवैकुण्ठम् | १२९ | महाविष्णुः ४, ८८, १५०, | |
| ब्रह्मलोकः | ७३ | १५५, १५८, १९४ | |
| ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी | १२६ | महेश्वरः | २४, २११, ३८५-२ |
| ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठम् | १२८ | मुष्टिकः | २४ |
| ब्रह्मविद्यावैकुण्ठम् | १२६ | मूलाविद्यापुरम् | १२३ |
| ब्रह्मा १६-२, ३२, ३३, | | मेरुः | ६४, ७३, |
| ४०, ६५, ७४, ८०, | | यमः | २१२ |
| ८६, १५८, १५९, | | यमुना | ५८ |
| ३३५, ३५२, ३८३, ३८५ | | यशोदा | २२ |
| भद्रवनम् | ६५, ६६ | याज्ञवल्क्यः ७८-२, ८०-२, | |
| भद्रासनम् | १३ | ८३-२, ३२७, ३३१, | |
| भद्रेश्वरः | ६६ | ३३५, ३३८ | |
| भरतः ८२, ८४, ३१६-२, | | रामः १८-४, २३, ७०, | |
| ३२८, ३६४ | | ८४, ३०५, ३१०, ३२८, ३७२ | |
| भरद्वाजः ३२-२, ८०, ८३, | | रामगायत्री | १४२ |
| ३२७, ३३५, ३३८ | | रामचन्द्रः | २१, ३३५, ३६४ |
| भाण्डीरवनम् | ६५ | रामभद्रः | ३५२ |
| भोगासनम् | १२० | राममूर्तिः | ६७ |
| मणिकर्णी | ३३४ | रावणः | ३१४ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|----------------------------------|------------|----------------------------------|-----------|
| रुक्मिणी | ७१ | वीरेश्वरः | ६६ |
| रुद्रः २३-२, ६५, ७४, ७८, ८० | | वृन्दा | २५ |
| रुद्रेश्वरः | ६५ | वृषभध्वजः | ३३३ |
| रोहिणी | २४ | वैकुण्ठम् | २५ |
| लक्ष्मणः . ८२, ८४, ३१४, ३६३ | | व्यासः | ३८५-२ |
| लङ्का | ३१५ | शङ्खकः | ३७, ३८ |
| लोहवनम् | ६५ | शत्रुघ्नः . ८२, ८४, ३१६, ३२८ | |
| वटभाण्डीरः | २५ | शक्ती | ३१४ |
| वनवैकुण्ठः | २३ | शाङ्गम् | ७३ |
| वरुणः | ३१६ | शिशुमारचक्रम् | ११९ |
| वसिष्ठः | ३१६, ३५५ | शिवः | ३५२ |
| वसुदेवः | २३ | शुद्धबोधानन्दवैकुण्ठम् | १२८ |
| वामदेवः | ३१६ | शुद्धानन्दविमानम् | १२६ |
| वायुसूनुः | ३१६ | शेषः | २९ |
| वाली | ३१४ | शेषनागः | २३ |
| वासुकिः . ३४, ३६, ३८, ३१८ | | श्रीः | २११ |
| वासुदेवः ३०, ५५, ३७५, ३८१ | | श्रीरामः | ८२, ३४५ |
| विजयः | ३१६ | श्रीवत्सः | ७३ |
| विभीषणः . ३१६, ३४७, ३४८ | | श्रीवनम् | ६५ |
| विरजानदी | ११९ | संकर्षणः | २९, ३८५-२ |
| विश्वामित्रः . ३५२, ३५८, ३५९ | | सत्यक्षेत्रम् | १५९ |
| विश्वेश्वरः | ६५ | सत्यभामा | २४ |
| विष्णुः | ९, ८०, २११ | सनकाद्याः | ३४९, ३६८ |
| विष्वक्सेनः | १२६ | सम्मोहनम् | ३५२ |
| विष्वक्सेनवैकुण्ठपुरम् | १२५ | सरस्वती | २११ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|---------------------------------|------------|--|-----------|
| सहस्रदृक् | ३१६ | सूर्यः | २१२ |
| सहस्राक्षजित् | ३१५ | सूर्यनारायणः | ९३ |
| सामवेदः | ८५ | सोमः | २१२ |
| सावित्री | २०८ | सौमित्रिः | ३०, ३२८ |
| सीता ८२, ८४, ३१०, ३२८, ३६३-३ | | स्थाणुः | ३० |
| सुभ्रीवः | ३१५, ३१६ | हनूमान् ६२, ८४, ३१५, ३१६, ३४४, ३४६, ३४९, ३६४, ३६५, | |
| सुदर्शनम् | १३१-२, २१३ | | ३६८, ३७० |
| सुदर्शनवैकुण्ठपुरम् | १३० | हयग्रीवः | ३८४-२ |
| सुदामा | २४, २५ | हरिः | १८-८, २३ |
| सुमन्त्रः | ३१६ | हरिनायकः | ८४ |
| सुमित्रातनयः | ३६४ | हिरण्यगर्भः . १८, २९, १०२, १०५ | |
| सुराष्ट्रः | ३१६ | | |

विशेषपदसूची

यत्र पुटसंख्याऽनन्तरं तिर्यग्श्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिः बोध्या

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|----------------------------------|---------------|---------------------------|-----------|
| अकारः . | २३८, २५१, २५९ | अनन्तकोटिब्रह्माण्डानि | १०२, |
| अखण्डबाधविमानम् . | १२९ | | १२२, १२३ |
| अङ्गमन्त्राः . | २०५ | अनन्तमन्त्रः . | १४३ |
| अज्ञानप्राबल्यम् . | ११६ | अनन्तवस्तुभेदः . | १४९ |
| अण्डम् . | २ | अनन्तासनम् . | १३८ |
| अण्डप्रमाणम् . | १२२ | अनिलः . | ३१६ |
| अण्डविराट् . | ८० | अनुज्ञा . | ३०२ |
| अण्डविराट् पुरुषः . | १०५ | अनुज्ञाता . | २८१ |
| अण्डविराट् स्वरूपम् . | १०२ | अनुज्ञैकरसः . | २८२ |
| अथर्वशिरः . | १७१ | अनुष्टुप् १०, १६३, १७७-२, | २१५ |
| अथर्वाङ्गिरसः . | १० | अन्तकः . | २१२ |
| अद्वितीयाखण्डानन्दब्रह्मस्वरूपम् | १०८ | अन्तर्वृत्तवीथी . | १४६ |
| अद्वैतसंस्थानम् . | १३४-२ | अन्नपूर्णेश्वरीमन्त्रः . | १४० |
| अद्वैतस्वरूपम् . | १०९ | अपक्वकषायः . | २६५ |
| अनङ्गगायत्री . | ४७ | अब्जकाण्डम् . | २५ |
| अनन्तः . | ३१६ | अभिमन्ता . | २८९ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|-----------------------------|---------------|
| अमृतबीजद्वयम् | १४६ | आत्मा २५८, २२९, २९०, | |
| अयनम् | १०५ | २९४-२, २९५, ३०२, ३३०, ३७९ | |
| अर्धमात्रा | १४९, २११ | आत्माद्यावरणम् | ३६६ |
| अविकल्पः | २८३ | आदित्याः | ६५, ७४, २११ |
| अविद्या | ११० | आदिविराट्पुरुषः | १०६ |
| अविद्याण्डम् | १०१ | आदेशः | २४४ |
| अविद्याप्रपञ्चः | १०४ | आधारशक्त्यादिवैष्णवपीठम् . | ३६७ |
| अविद्यापादः ९०, ९१, ९७, १०८ | | आनन्दपादः | ९०, ९१ |
| अविद्यालक्ष्मीः | १२३ | आनन्दसाकारः | ९७, ९९ |
| अविद्याशब्दम् | १०१ | आनुष्टुभम् | १२-३ |
| अविमुक्तम् | ७८-३ | आपः | ६१ |
| अव्यक्तम् | १०७ | इन्द्राद्यावरणम् | ३६७ |
| अशोकः | ३१६ | इन्दुः | ३१६ |
| अष्टदलपद्मम् | १३९, १४१ | ईशः | ३१६ |
| अष्टविधमन्त्रः | ८५ | ईशानकैवल्यम् | ११९ |
| अष्टाक्षरः १६१, २०९, २१४, ३५४ | | ईश्वरसाक्षात्कारः | ११८ |
| अष्टादशदलपद्मम् | १४० | उकारः | २४०, २५१, २६१ |
| अष्टादशाक्षरः | ३५८ | उग्रः | ४, १९२ |
| अष्टार्णः | ३५३ | उद्धूलनम् | ३८१ |
| अष्टाविंशतिवर्णकः | ३६१ | उन्मेषः | १०१, ११२-६ |
| असङ्गः | २९८ | उपद्रष्टा | ३०४ |
| अहम् | ५, २०० | उभयात्मकसाकारः | ९७, ९९ |
| अहङ्कारः | १०१ | ऊर्ध्वपुण्ड्रम् | ३७८, ३८० |
| आकाशः | ६० | ऋग्वेदः | १०, ८० |
| आत्मस्वरूपम् | ८० | ऋग्वेदशिरः | १६७ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|------------------------------------|-----------|---------------------------------------|-----------|
| ऋगानुष्टुभी . | ३ | केशवादिचतुर्विंशतिमन्त्राः . | १४२ |
| ऋजीषी | २०२ | कौस्तुभमन्त्रः | १४३ |
| ऋतुः | १०५ | क्रीडाकन्तुकम् | १२२ |
| एकत्रिंशात्मकः | ३६१ | क्रीकारः | ६२ |
| एकविंशार्णकः | ३५९ | गदा | ७३ |
| एकाक्षरः | १३९, १६१ | गदामन्त्रः | १४३ |
| एकादशरुद्राः | ६५, १०२ | गन्धर्वाः | ७४ |
| एकोनत्रिंशदक्षरः | ३६१ | गरुडपञ्चाक्षरमन्त्रः | १४०, १४१ |
| एकोनविंशकः | ३५८ | गरुडपञ्चाक्षरयुक्तं वृत्तम् | १४४ |
| ओङ्कारः २११, २२३, २४३, २५१, २७९ | | गरुडब्रह्मविद्या | ३२, ३३ |
| औपला | २०२ | गरुडमन्त्रः | १४३ |
| कालः | २१२ | गरुडमालामन्त्रः | १४० |
| किरीटम् | ७३ | गायत्री | १०, ३३ |
| कुण्डलम् | ७३ | गुरुः | १५५ |
| कृष्णगायत्री | १४२ | गोपालमन्त्रः | १४० |
| कृष्णदशाक्षरमन्त्रः | १३९ | गोपीचन्दनम् ३७५, ३७६, ३८१ | |
| कृष्णद्वादशाक्षरमन्त्रः | १४० | ग्रहाः | २१२ |
| कृष्णनवाक्षरमन्त्रः | १३९ | चक्रम् | २४, ७३ |
| कृष्णमालामन्त्रः | १४५ | चतुरक्षरः | ३५० |
| कृष्णषडक्षरमन्त्रः | १३८ | चतुरात्मा | २५० |
| कृष्णषोडशाक्षरमन्त्रः | १४० | चतुर्थः | २०८ |
| कृष्णानुष्टुभमन्त्रः | १४२ | चतुर्दशदलपद्मम् | १४० |
| कृष्णाष्टाक्षरमन्त्रः | १३९, १४१ | चतुर्दशवर्णकः | ३५७ |
| कृष्णाष्टादशाक्षरमन्त्रः | १४० | चतुर्भुजः | ७३ |
| केयूरः | ७३ | चतुर्विंशतिदलपद्मम् | १४१ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-------------------------------------|---------------|---------------------------------------|-----------|
| चतुर्विंशतिवर्णकः | ३६० | त्रिशतारचाक्षरम् | १३२ |
| चतुश्शब्दः | ६८ | त्रिशरीरम् | २२४ |
| चतुष्पात् | २०९, २२९, ३२९ | त्रिष्टुप् | १० |
| चत्वारिंशद्वलपञ्चम् | १४४ | त्र्यक्षरः | ३६० |
| छन्दांसि | २१९ | दक्षिणामूर्तिनवाक्षरमन्त्रः | १३९ |
| जगती | १०, २१४ | दधिवामनमन्त्रः | १४० |
| जगन्मोहनबीजयुक्तं वृत्तम् | १४० | दशद्वलपञ्चम् | १३९ |
| जीवः | ११३-९, २१२ | दशाक्षरः | ३६९, ३६६ |
| जीवन्मुक्तः ११७, ३६९, ३७३, ३८९ | | दशार्णः | ३६६ |
| जीवेश्वरभेदः | ११२ | दिनम् | १०९ |
| तत्त्वज्ञानम् | ११७ | दिवा | १०९ |
| तन्मात्राणि | ७१ | दीर्घा | २०२ |
| तरुत्रः | २०२ | दुग्धोदधिः | २४ |
| तापसाः | २३ | दृष्टः | २९६ |
| तामसी | २३ | देवयजनम् | ७८-३, ३२६ |
| तारकम् ८०-२, ८१, १६०, ३२७ | | दैत्याः | २३ |
| तारकं ब्रह्म | ७८, ८१ | द्रष्टा | २३६ |
| तुरीयः | २३०, २४१, ३८९ | द्वात्रिंशदक्षरं साम | १८० |
| तृणावर्तः | ९६ | द्वात्रिंशद्वलपञ्चम् | १४१ |
| तृतीया | २४८ | द्वादशद्वलपञ्चम् | १३९ |
| तेजः | ६१ | द्वादशमूर्तयः | ६७, ७९ |
| तेजोराशिः | १२०, १२९ | द्वादशाक्षरः | १६२, ३६७ |
| त्रयोदशार्णः | ३६७ | द्वादशादियाः | ६९, १०२ |
| त्रयोविंशाक्षरः | ३६९ | द्वाविंशदक्षरः | ३६९ |
| त्रिंशद्गणात्मकः | ३६१ | द्वितीया | २४८ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|------------------------------------|------------|---------------------------------------|------------|
| द्विधः | ३८८ | निरतिशयानन्दतेजोगशिः | १३७ |
| द्व्यक्षरः | ३९० | निराकारः | ९९-३ |
| धाता | ३१६ | निरालम्बयोगः | १९३ |
| शृष्ट्याद्यावरणम् | ३६७ | निरालम्बयोगाधिकारी | १९३ |
| ध्यानयज्ञः | ६, ८ | निरुपाधिकः | ९६ |
| ध्रुवाद्यावरणम् | ३६७ | निरुपाधिकसाकारः | ९७-२, ९८-२ |
| ध्वजमन्त्रः | १४३ | निष्काम्याः | ६४, ६५ |
| नन्दः | २२ | नीलकण्ठत्र्यक्षरीमन्त्रः | १४१ |
| नन्दकमन्त्रः | १४३ | नीलादयः | ३१६ |
| नमामि | ९, २०० | नीलाद्यावरणम् | ३६७ |
| नवदलपद्मम् | १३९ | नृसिंहगायत्री | २१० |
| नवार्णः | ३५५ | नृसिंहगायत्रीमन्त्रः | १४१ |
| नागकः | ३८ | नृसिंहमालामन्त्रः | १३९ |
| नारसिंहमानुष्टुभम् | १७६ | नृसिंहषडक्षरमन्त्रः | १३८ |
| नारसिंही माया | २०२ | नृसिंहानुष्टुभमन्त्रः | १४१ |
| नारायणगायत्रीमन्त्रः | १४१ | नृसिंहाष्टाक्षरमन्त्रः | १३९ |
| नारायणद्वादशाक्षरमन्त्रः | १३९ | नृसिंहैकाक्षरयुक्तं वृत्तम् | १३९ |
| नारायणबीजम् | १३८, १४५ | नैष्कर्म्यम् | ४६ |
| नारायणबीजयुक्तं वृत्तम् | १३९ | पक्षः | १०५ |
| नारायणमन्त्रः | १४१ | पञ्चतन्मात्राणि | १०१ |
| नारायणाष्टाक्षरमन्त्रः | १३९, १७० | पञ्चदशाणिः | ३५७ |
| नारायणास्त्रमन्त्रः | १४५ | पञ्चपदम् ४५, ४६, ४८, | ५५-२, ५७-२ |
| नित्यसाकारः | ९७-२ | पञ्चपदमनुः | ४८ |
| निमेषः | १०७, ११२-५ | पञ्चमहाभूतानि | १०१ |
| नियन्ता | २८९ | | |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|----------------------------|--------------|--------------------------------|-----------|
| पञ्चममनुः | ३८५ | प्रणवमालावृत्तं वृत्तम् | |
| पञ्चविंशतिवर्णकः | ३६० | १३९-२, १४०, १४५ | |
| पञ्चाग्नयः | २११ | प्रणवसंपुटिताग्निबीजयुक्तं | |
| पञ्चाङ्गानि | १९० | वृत्तम् | १४२ |
| पञ्चार्णः | ३५० | प्रणवसंपुटिताङ्कुशबीजयुक्तं | |
| पञ्चाशद्वलपद्मम् | १४५ | वृत्तम् | १४३ |
| पद्ममन्त्रः | १४३ | प्रणवादिमन्त्राः | १४४ |
| परब्रह्ममन्त्रः | १४४ | प्रणवाधिकारः | ३४६ |
| परब्रह्मस्वरूपम् | ८० | प्रपञ्चहीनः | २५० |
| परमकौतुकम् | १२४, १२६ | प्रपञ्चोत्पत्तिक्रमः | १०४ |
| परमतत्त्वरहस्यम् | ८९ | प्रलयः | १०५, १०६ |
| परमहंसः | ३७८ | प्रवाहतानित्यत्वम् | १०४ |
| परमात्मा | ८०, २९६, ३७८ | प्राणः | २१२ |
| परमात्माविर्भावः | ११७ | प्लुता | २०२ |
| परमं धाम | २२१ | बकः | २४ |
| परं ब्रह्म | ८१ | बीजाक्षरम् | ३८६ |
| पादचतुष्टयम् | ९०, १०८ | ब्रह्म १८, २३, ४३, | |
| पादत्रयम् | १५०-३ | ४५-२, ७१, ८९-८, | |
| पुरुषः | ८०, २११, ३७१ | ९०-१३, १०१, १०४-३, | |
| पूजापीठः | ३६५, ३६७ | १०९, ११०-२, २३७, | |
| पूर्वा मात्रा | २४७ | २६६, २६७, ३००, | |
| प्रकृतिः | २११, ३७१ | | ३७९ |
| प्रकृतिस्वरूपम् | ८० | ब्रह्मगायत्रीमन्त्रः | १४१ |
| प्रजापतयः | १०२ | ब्रह्मचारी | ३७६ |
| प्रणवः | १३८, २५१ | ब्रह्मचैतन्यम् | ९८, ११३ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|----------------------------------|---------------|---------------------------------------|-----------|
| ब्रह्मजाः | ७४ | महत् | १०१ |
| ब्रह्मविद्यासाकारः | ९७ | महाचक्रम् | २१३ |
| ब्रह्मसदनम् | ७८-३, ३२६ | महानारायणयन्त्रम् | १४७ |
| ब्रह्मसवनम् | ९२ | महानीलकण्ठमन्त्रः | १४९ |
| ब्रह्माण्डम् | १०६ | महापद्मः ३४, ३७, ३८, | |
| ब्रह्माण्डस्वरूपम् | १२२ | | ३१८ |
| ब्रह्माद्वैतम् | १०८ | महाभूतानि | २१२ |
| ब्राह्मणः | ९, ४२, ४३ | महामण्डूकादि | १२२ |
| भक्तिनिष्ठा | १८६ | महामाया . ११२, ११३, १२३ | |
| भक्तियोगः | १९३ | महायन्त्रम् | १३८, ३६७ |
| भगवान् | ८० | महायन्त्रमयपरमवैकुण्ठनारायण- | |
| भजनम् | ४६ | यन्त्रम् | १३८ |
| भद्रः | ९, १९८ | महायोगमाया | १२४ |
| भीषणः | ९, १९८ | महावाक्यार्थः | १९२ |
| भूगोलचक्रम् | ६४ | महाविराट्पदम् | १२३ |
| भूचक्रम् | १४९ | महाविराट्पुरुषः | १०६ |
| भूपुरचतुष्टयम् | १४६ | महाविराट्स्वरूपम् | १२३ |
| भूमिः | ६१ | महाविष्णुद्वादशाक्षरमन्त्रः | १४० |
| भूमिपद्मम् | ७३ | महाव्याहृतयः | २११ |
| मकारः | २४०, २९१, २६२ | मातृकाक्षरमाला | १४९ |
| मनः | ६१ | माया | २३ |
| मनुः | २१२ | मायाबीजयुक्तं वृत्तम् | १४१ |
| मनोयज्ञः | ७ | माला | ७३ |
| मन्त्रः | ३०८ | मालामन्त्रः | ३२० |
| मन्मथबीजयुक्तं वृत्तम् | १४१ | मासुः | १०९ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-----------------------------|-----------|-------------------------------|-----------|
| मुक्तसाकारः . . . | ९७-२, ९८ | राममालामन्त्रः . . . | १४९ |
| मुनयः . . . | ६९ | रामषडक्षरमन्त्रः . . . | १३८ |
| मूलाविद्या . . . | ९१, १०७ | रामसेवकः . . . | ३६४ |
| मूलाविद्याविर्भावः . . . | १०१ | रामस्याङ्गानि . . . | ३४६ |
| मूलाविर्भावः . . . | १०१ | रामाङ्गं प्रणवः . . . | ३४७ |
| मृत्युः . . . | २१२ | रामानुष्टुभमन्त्रः . . . | १४२ |
| मृत्युमृत्युः . . . | ९, १९९ | रामाष्टाक्षरमन्त्रः . . . | १३९ |
| मेघघोषः . . . | २४ | राष्ट्रवर्धनः . . . | ३१६ |
| मोक्षः . . . | १९० | रुद्रवर्णात्मकः . . . | ३९६ |
| मोक्षस्वरूपम् . . . | ११९ | रुद्राः . . . | २११ |
| यजुः . . . | १० | लक्ष्मीनारायणमन्त्रः . . . | १४० |
| यजुर्गायत्री . . . | २१० | लोकपालमन्त्राः . . . | १४९ |
| यजुर्वेदः . . . | ८२ | लोकपालाः . . . | २११ |
| यजुर्वेदशिरः . . . | १६९ | वज्राद्यावरणम् . . . | ३६७ |
| यतिः . . . | ३८० | वटर्बीजसामान्यम् . . . | २८८ |
| यन्त्राङ्गानि . . . | १४६ | वत्सरः . . . | १०९ |
| रसनम् . . . | ४९ | वनमालामन्त्रः . . . | १४३ |
| राजसी . . . | २३ | वरणा . . . | ३३२ |
| रात्रिः . . . | १०९ | वराहर्बीजयुक्तं वृत्तम् . . . | १४० |
| रामचन्द्रषडक्षरः . . . | ३३८ | वसवः . . . ६९, ७४, २११ | ३६७ |
| रामदशाक्षरमन्त्रः . . . | १३९ | वसिष्ठाद्यावरणम् . . . | ३६७ |
| रामद्वादशाक्षरमन्त्रः . . . | १४० | वह्निः . . . | ३१६ |
| रामनवाक्षरमन्त्रः . . . | १३९ | वानप्रस्थः . . . | ३७६ |
| रामबीजम् . . . | ३७१ | वामनाष्टाक्षरमन्त्रः . . . | १४१ |
| राममन्त्रार्थः . . . | ३७० | वामनाष्टादशाक्षरमन्त्रः . . . | १४० |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-------------------------------------|-----------|----------------------------------|-------------|
| वायुः | ३०, ६१ | व्यूहभेदाः | १३६ |
| वासुदेवद्वादशाक्षरमन्त्रः | १३९ | शङ्खः | ३४, ७३, ३१८ |
| वासुदेवाद्यावरणम् | ३६७ | शङ्खमन्त्रः | १४३ |
| विद्या | २११ | शतारचक्रम् | १३२ |
| विद्याऽऽदीनां भेदः | ९२ | शरणागतिमन्त्रः | १४१ |
| विद्याऽऽनन्दतुरीयांशाः | ९१ | शाङ्गमन्त्रः | १४३ |
| विद्यापादः | ९१ | शिवगायत्री | १४४ |
| विद्याप्रपञ्चः | १०४ | शिवपञ्चाक्षरमन्त्रः | १३८ |
| विद्यासाकारः | ९९ | शुद्धबाधानन्दलक्षणम् | १२० |
| विनायकाः | ६५, ७४ | शुद्धशेषः | १२० |
| विराट् | १२४ | शूद्रः | ९ |
| विराट्पुरुषः | २१२ | श्रीकराष्टाक्षरमन्त्रः | १३९ |
| विश्वः | ७१ | श्रीबीजयुक्तं वृत्तम् | १४४ |
| विश्वरूपम् | ६९ | श्रीवत्समन्त्रः | १४३ |
| विंशार्णकः | ३५८ | षट्कोणचक्रम् | १३२, १३८ |
| विष्णुषडक्षरमन्त्रः | १३८ | षट्छतारचक्रम् | १३२ |
| वीरः | ४, १९४ | षट्त्रिंशद्वलपद्मम् | १४२ |
| वेदगायत्रीमन्त्रः | १४५ | षड्दलपद्मम् | १३८ |
| वेदाः | २११ | षडक्षरः | १६१, ३५१ |
| वैकुण्ठपार्षदाः | ११८ | षड्विंशाक्षरः | ३६० |
| वैष्णवं धाम | ९३ | षष्ट्यरचक्रम् | १३२ |
| वैष्णवभक्तिः | ११७ | षोडशकलः | २१५ |
| वैष्णवमन्त्रः | ५४ | षोडशदलपद्मम् | १४० |
| वैष्णवी माया | २३ | षोडशाक्षरमन्त्रः | १६२, ३५८ |
| व्यक्ताः | ७५ | सकाम्याः | ६४-२, ६५ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-----------------------------|---------------|------------------------------|---------------|
| सत् | २७४ | सुदर्शनम् | १४० |
| सत्तामात्रम् | २९२ | सुदर्शनष | १३८ |
| सद्गुरुकटाक्षः | ११७ | सुदर्शनषे | १४० |
| सन्धिगविर्भाव | ३३२ | सुदर्शनमहाचक्रम् | २१६, २१७ |
| सप्तचत्वारिंशन्मन्त्राः | ३३७ | सुरभिविद्याः | ६२ |
| सप्तदशाक्षरः | ३५८ | सुविद्यापादः | ९० |
| सप्तपुर्यः | ६४-२ | सुष्ठुतम् | २०७, २२८, ३२९ |
| सप्तविंशतिवर्णकः | ३६० | सूक्ष्माष्टाक्षरः | ८१ |
| सप्ताक्षरः | ३३३ | सूर्याष्टाक्षरीमन्त्रः | १४५ |
| सर्वतोमुखः | ४, १९६ | सोपाधिकः | ९६ |
| सविलासमहामूलाविद्योदयक्रमः | १०४ | सोपाधिकसाकारः | ९७-२ |
| सविलासमूलाविद्योपसंहारक्रमः | १०५ | सोऽहम् | ३०१ |
| सहस्रारचक्रम् | १३२ | सौर्या | ६० |
| साकारः | ९५-४, ९६, ९७ | संपत्सारस्वतौ | ३८६ |
| साकारनिराकारौ | ९९, १०० | संसारतरणोपायः | ११६ |
| साक्षी | २३७ | स्थितिः | १०६ |
| साङ्गं साम | १७९, १८३, १८५ | स्थूलविराट्स्वरूपम् | १०२ |
| सात्विकी | २३ | स्वराट् | २७२, २७५, २७८ |
| साम १०, १८१, १८२-३, १८४ | | स्वरूपम् | ७४ |
| सामवेदशिरः | १७० | स्वामी | ६३ |
| सायुज्यमुक्तिः | ११५ | हनूमदाद्यावरणम् | ३६७ |
| सालम्बयोगः | १५३ | हयग्रीवगायत्रीमन्त्रः | १४१ |
| सुदर्शनगायत्रीमन्त्रः | १४१ | हयग्रीवनवाक्षरमन्त्रः | १३९ |
| सुदर्शनपुरुषः | ९३, १३३-३ | हयग्रीवमन्त्रः | १४० |
| सुदर्शनमन्त्रः | १४३ | हयग्रीवषट्त्रिंशदक्षरमन्त्रः | १४२ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-------------------------------|-----------|--------------------|-----------|
| हयग्रीवानुष्टुभमन्त्रः . | १४१ | हैरण्यगर्भः . . . | ९७ |
| हयग्रीवाष्टत्रिंशदक्षरमन्त्रः | १४२ | हंसः . . . | ३०१ |
| हयग्रीवैकाक्षरयुक्तं वृत्तम् | १४१ | हंसमन्त्रः . . . | ११८ |
| हृत्पद्मम् . . . | ७२ | हंसःसोऽहंमन्त्रः . | १४६ |
| हैरण्यः . . . | ४४ | ह्रस्वा . . . | २०२ |

Printed by J. R. Arin at the Vasanta Press, Adyar, Madras.

